स्तुतिकुसुमाञ्जलि

(एक परिशीलन)

दण्डीस्वामी श्रीनिगमबोधतीर्थ

स्तुतिकुसुमांजलि : एक परिशीलन

लेखक

दण्डीस्वामी डॉ० निगमबोध तीर्थ (पूर्वाश्रम में डॉ० राधाकृष्ण)

शास्त्री, प्रभाकर, साहित्य-वेदाचार्य, एम्० ए०, पी-एच्० डी०

साधु आश्रम, होशियारपुर (पंजाब)

श्री रणवीर संस्कृतानुसन्धान पुस्तकालय

श्री रघुनाथ मन्दिर, जम्मू

ग्रन्थांक ......8015......

ग्रन्थ नाम ....

परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली

प्रकाशक :
परिमल पब्लिकेशन्स
२७/२८, शक्तिनगर
दिल्ली-११०००७

© दण्डीस्वामी डॉ० निगमबोध तीर्थ (डॉ० राधाकृष्ण शास्त्री)
प्रथम संस्करण : १९८९

मूल्य : १००.०० रुपये
मुद्रक : चौहान प्रिंटिंग प्रेस, ब्रह्मपुरी, दिल्ली-५३

STUTIKUSUMANJALI : EKA PARISHĪLANA (A Critical Study of Stutikusumāñjali of Jagaddhara Bhaṭṭa) by Dr. NIGAMABODH TIRTHA (alias Dr. Radha Krishna), First Eddition : 1989

दण्डी स्वामी डॉ० निगमबोधतीर्थ:

श्री रणबीर संस्कृतानुसन्धान पुस्तकालय
श्री रघुनाथ मन्दिर, जम्मू
६२७५

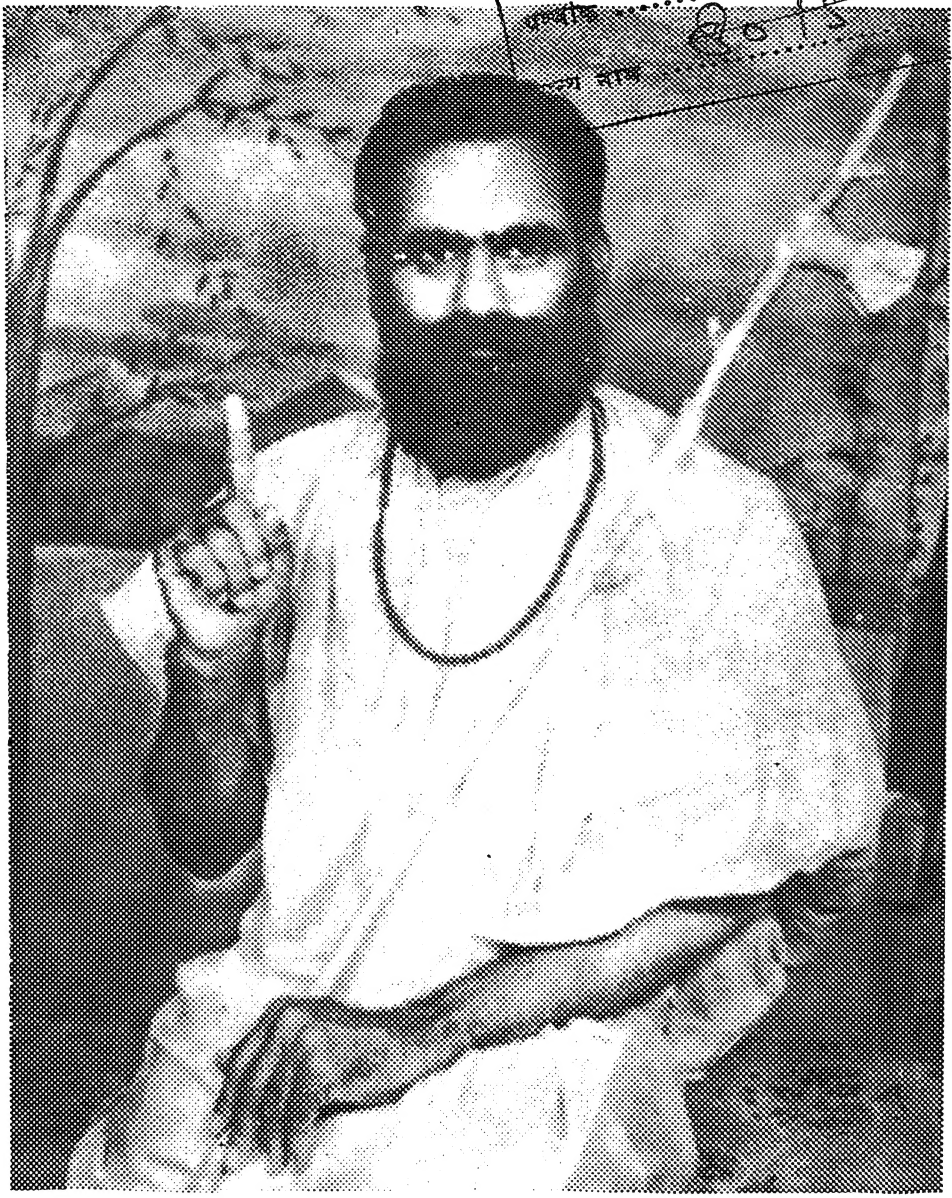

विद्या–दानैश्च विद्यालय-परिकलनैर् ग्रन्थराशिप्रणीत्या
प्रीणीते शारदां यः कृत-बहु-यतनो धर्म-विद्या-प्रचारे ।
सत्काव्यानां प्रणेता कविवर-यशसा भूषितो वित्सु कीर्त्या
भूयात् प्रीत्यै बुधानां यतिवरनिगमो बोधतीर्थः शिवस्य ॥

श्री रणवीर संस्कृतानुसन्धान पुस्तकालय
श्री रघुनाथ मन्दिर, जम्मू
ग्रन्थांक ... 8015
ग्रन्थ नाम ...

लेखक परिचय

दण्डी स्वामी **निगमबोध तीर्थ** का जन्म हरियाणा के दक्षिणी भाग में मार्गशीर्ष अमावस्या, १९९२ वि० (१९३६ ई०) में एक आस्तिक ब्राह्मण-परिवार में हुआ। इनका पिता द्वारा प्रदत्त नाम **राधाकृष्ण** था। अपने गांव के स्कूल में प्राथमिक शिक्षा पाने के बाद आपने संस्कृत अध्ययन का आरम्भ श्री हरियाणा शेखावाटी ब्रह्मचार्याश्रम, भिवानी, में पं० **श्री चन्द्रशेखर जी** के श्रीचरणों में किया। वहां से **प्राज्ञ** कक्षा उत्तीर्ण करने के बाद श्री गागरमल संस्कृत महाविद्यालय, अमृतसर, में पं० **श्री लोकमणि पन्तजी** के श्रीचरणों की छाया में रहकर **शास्त्री** कक्षा उत्तीर्ण की। तदनन्तर पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ से **प्रभाकर**, **साहित्याचार्य** और **वेदाचार्य** उपाधियां ससम्मान प्राप्त कीं। इस प्रकार पौरस्त्य पद्धति से आचार्यत्व प्राप्त करके राधाकृष्णजी ने विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन, से एम० ए० (संस्कृत) उपाधि भी प्रथम श्रेणी में उच्च अङ्कों से अर्जित की। कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र, में देश के जाने-माने विद्वान् डॉ० **कपिलदेव जी** के मार्गनिर्देशन में कश्मीरी कवि **श्री जगद्धर भट्ट** की अमर कृति **स्तुतिकुसुमांजलि** का गम्भीर परिशीलन करके **पी-एच्० डी०** उपाधि प्राप्त करके आप डॉ० **राधाकृष्ण** बन गए।

आपने अपने अध्यापक जीवन का प्रारम्भ साधु आश्रम, होशियारपुर में स्थित श्री विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान में किया और सम्प्रति आप वहीं पर पंजाब विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में अध्यापन कार्य कर रहे हैं।

अपने अध्ययन काल से ही राधाकृष्ण जी की प्रवृत्ति निवृत्तिमार्ग की ओर थी। परम विरक्त सन्त **श्री हरिबाबा** की कृपा राधाकृष्ण जी के जीवन को निरन्तर भक्ति और वैराग्य की दिशा में अग्रसर करती रही। इसीके फलस्वरूप वैराग्य के परिपुष्ट होने पर वेदमन्दिर, दरेसी, लुधियाना, (पंजाब) के संस्थापक श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ, ओङ्कारोपासक, परमविरक्त दण्डी स्वामी श्री **भास्करानन्द तीर्थ** महाराज जी से संन्यास-दीक्षा पाकर **आचार्य डॉ० राधाकृष्ण** दण्डी स्वामी **निगमबोध तीर्थ** हो गए।

दण्डी स्वामी **निगमबोध तीर्थ** की साधना कर्म, भक्ति और ज्ञान, तीनों दिशाओं में बाल्यकाल से ही निरन्तर प्रवृत्त रही। उनकी कर्मसाधना अध्यापन के अतिरिक्त सुचिन्तित लेखों के माध्यम से तो प्रवृत्त रही ही, मां शारदा से प्राप्त कवि प्रतिभा भी समय-समय पर काव्य के विविध रूपों में प्रकाशित होती रही है। पत्रिकाओं में प्रकाशित मुक्तक, कुलक आदि के अतिरिक्त आपका **हरियाणावैभवम्** नामक संस्कृत काव्य संस्कृत जगत् में ख्याति प्राप्त है। उत्तर प्रदेश और हरियाणा के प्रशा-

सनों ने भी **राधाकृष्ण जी** की इस कृति को सम्मानित करके अपने को गौरवान्वित किया है।

दण्डी स्वामी **निगमबोध तीर्थ जी** की कर्मसाधना का एक भव्य सोपान जगद्-गुरु आदि **श्री शंकराचार्य जी** की देशव्यापी नवम शताब्दी के अवसर पर **श्री शंकराचार्य चरितम्**[1] नामक भव्य काव्य के रूप में अभी कुछ मास पूर्व विद्वज्जन के समक्ष प्रकाशित हुआ है।

दण्डी स्वामी **निगमबोध तीर्थजी** की कर्मसाधना का एक लोकहितकारी स्वरूप पंजाब के बिखरे संस्कृतप्रेमियों को **पञ्चनदीय संस्कृत परिषद्** की स्थापना और संचालन के द्वारा एकसूत्र में पिरोने से भी प्रकाशित होता है।

दण्डी स्वामी **निगमबोध तीर्थजी** की कर्मसाधना का रूप हरियाणा के प्राचीन तीर्थ **सर्पदमन** (सफीदों, जिला जींद) में **श्री सनातन धर्म संस्कृत विद्यापीठ** नामक संस्कृत विद्यालय के संचालन के माध्यम से प्रकाशित हो रहा है। इस विद्यालय में २०-२५ बालकों के निःशुल्क अध्यापन, निवास भोजन-छाजन आदि की समस्त व्यवस्था स्वामी **निगमबोध तीर्थ** ही अपने सीमित साधनों तथा जनसहयोग से वहन करते हैं।

उनकी कर्मसाधना का एक रूप **जगद्धर भट्ट** की प्रसिद्ध कृति **स्तुतिकुसुमांजलि : एक परिशीलन** के रूप में आप लोगों के समक्ष प्रस्तुत है ही।

इस ग्रन्थ को शोध के विषय के रूप में चुनने के पीछे **राधाकृष्णजी** के हृदय में प्रवाहित भक्ति की अन्तस्सलिला सरस्वती रही प्रतीत होती है। यों भक्ति और ज्ञान की साधनाएं व्याख्या का विषय नहीं हो सकतीं। वे तो अनुभववेद्य हैं; भक्त एवं ज्ञानी साधक के समूचे कार्यकलाप, जीवन की पद्धति से अनुमेय हैं। ब्रह्मचर्याश्रम को साधनाओं द्वारा परिपक्व करने के बाद सन्याश्रम में प्रवेश से आपकी इन साधनाओं का अनुमान सहज किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त **श्री हरिबाबा**, स्वामी **भास्करानन्द तीर्थ**, परम विरक्त स्वामी **शास्त्रानन्दजी**, तपोमूर्ति अनन्तश्रीविभूषित स्वामी **हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्र स्वामी)**, स्वामी **भूमानन्द तीर्थ**, स्वामी **अखण्डानन्द सरस्वती**, पुरीपीठाधीश्वर जगद्-गुरु शङ्कराचार्य **श्री निरञ्जनदेव तीर्थ**, स्वामी **ब्रह्मदेव जी** आदि अनेक परम विरक्त, तपो-ज्ञानमूर्ति महात्माओं के सान्निध्य एवं उनके वरद हस्त की निरन्तर छाया में स्वामी **निगमबोध तीर्थ** की भक्ति और ज्ञान की साधना सतत प्रवाहशील है। उनकी एकान्त भक्ति-ज्ञान-साधना का क्षेत्र धर्मक्षेत्र, कुरुक्षेत्र में **निगमनिकेतन** के रूप में स्थित है।

लेखन के क्षेत्र में स्वामी **निगमबोध तीर्थ** का योगदान १० पुस्तकों और २० से अधिक लेखों के रूप में हैं। इनमें से मुख्य ये हैं—(१) **हरियाणावैभवम्**। ३००

---

१. यह काव्य भी परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली से ही प्रकाशित हुी हुआ है।

प्रवाहमय श्लोकों में निबद्ध इस काव्य में स्वामी जी ने हरियाणा प्रदेश के सांस्कृतिक और आर्थिक प्रगतिशील परिवेश को सङ्क्षेप से प्रस्तुत किया है। (२) भगवद्गीता की **हरितोषिणी** नामक हिन्दी टीका। इसमें स्वामीजी ने सरल, सङ्क्षिप्त टीका के द्वारा जनसाधारण को गीता के मर्म तक पहुंचाने के लिए एक मार्ग प्रशस्त किया है। (३) **श्री रामार्चास्तोत्र का हिन्दी अनुवाद**। यह स्तोत्र प्रातः स्मरणीय **श्री हरिबाबा** को अत्यन्त प्रिय रहा है। उनके भक्तों के आग्रह से स्वामीजी ने श्रीरामार्चा के विधि-विधान के साथ मूलसहित हिन्दी में प्रस्तुत करके इस स्तोत्र को जन-सुलभ कराया है। (४) **श्री शङ्कराचार्यचरितम्** महाकाव्य। इस काव्य में स्वामीजी ने ६२५ श्लोकों में निबद्ध १३ सर्गों में जगद्गुरु आद्य **शङ्कराचार्य** के कर्मठ एवं विरक्त जीवन का वर्णन ललित और प्रसादमय शैली में प्रस्तुत किया है। (५) **स्तुतिकुसुमांजलि : एक परिशीलन**। यह ग्रन्थ विद्वज्जन के कर-कमलों में प्रस्तुत है। इसमें स्वामी जी ने भक्त कवि **जगद्धर भट्ट** की विशाल एवं महिमामण्डित काव्यकृति **स्तुतिकुसुमांजलि** का आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार से गम्भीर सर्वाङ्गीण विवेचन नाना प्रमाणों के साक्ष्य से प्रस्तुत किया है।

इस ग्रन्थ के मुद्रण की प्रक्रिया में प्रकृत पङ्क्तियों के लेखक ने यद्यपि यथाशक्य सावधानी बरतने की चेष्टा यथासम्भव की है, तथापि **'गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः'** उक्ति के अनुसार मुझसे **क्वापि** नहीं **बहुत्र** प्रमाद हुए है। उन्हें क्षमा करने की प्रार्थना मैं इसके समस्त अध्येताओं से करता हूं। इसमें जो गुण हैं, वे स्वामी जी के श्रम के परिणामस्वरूप हैं; और जो त्रुटियां हैं, वे मेरी असावधानी का परिणाम हैं। अपने ग्रन्थ के अक्षर-अक्षर से कई बार गुजरने का जो पावन अवसर स्वामी जी ने मुझे दिया, उसके लिए मैं उनके मेरे प्रति विश्वास, सौजन्य और स्नेह को लेकर हृदय से आभारी हूं। उनके विश्वास की रक्षा में हुई त्रुटियों के लिए मैं स्वामी जी से सविनय क्षमाप्रार्थी हूं।

इसके अतिरिक्त, उनकी वैराग्य भावना के विपरीत अपनी प्रवृत्तिपरकता के कारण स्वामी जी का चित्र एवं परिचय देने की स्वच्छन्दता बरतने के लिए भी मैं स्वामी जी का इस आशा से अपराधी हूं कि वे करुणावरुणालयैकनिष्ठ होने के नाते मुझे क्षमा तो कर ही देंगे।

जीयादेषा कृतिस्तैर्थी कवेर्भक्त्या प्रपूरिता।
स्वामिना भाविता यत्नाद् यावद् विभाति भास्करः ॥ १ ॥
श्रीनिवाससुधीसूनुः सीतादेव्यङ्कसम्भवः।
जगदम्बाकृपापात्रं प्रस्तौत्येनां सुधीजने ॥ २ ॥
शिवनारायणः शास्त्री तीर्थे भक्त्या समन्वितः।
शास्त्रचर्चामिषेणात्मा पाव्येतेति कृतार्थितः ॥ ३ ॥

ई-४/१५, माडल टाउन,
दिल्ली-११०००९
श्रीगणेशचतुर्थी, भाद्र शुक्ल, २०४५ वि०।

—शिवनारायणः शास्त्री

दो शब्द

भारतीय अध्यात्म-साधना का मूल लक्ष्य आनन्दरूप अमृतमय परमतत्त्व को प्राप्त करके तन्निष्ठ हो जाना है। परमतत्त्व तक पहुँचने के लिये आध्यात्मिक ग्रन्थों में साधक के सामर्थ्य और प्रवणता को दृष्टि में रखते हुए अनेक मार्गों का निर्देश किया गया है। इनमें ज्ञान तथा भक्ति के मार्ग प्रमुख हैं। ज्ञान अथवा तत्त्व-विवेचन का मार्ग कठिन और दुस्साध्य है, क्योंकि इसमें परिष्कृत तथा विकसित बुद्धि की अपेक्षा रहती है। परन्तु भक्ति का मार्ग अन्य मार्गों की अपेक्षा सहज साध्य है। इसमें जीवन के चरमलक्ष्य को प्राप्त करने के निमित्त आतुरता और भावावेश का साधक के हृदय में होना मात्र ही यथेष्ट है। ज्ञान के पथ का अनुसरण करने से एक और कठिनाई आती है। यदि कोई साधक बहुकालपर्यन्त निरन्तर कठोर तप द्वारा अपनी बुद्धि को सुसंस्कृत कर उसके माध्यम से चरम लक्ष्य को प्राप्त भी कर ले तो इससे उसकी तृप्ति नहीं हो पाती। क्योंकि परमानन्द का आस्वादन ज्ञान के माध्यम से पूर्णरूपेण नहीं हो सकता। इसके अलावा ज्ञानस्वरूप या परमबोधरूप परमशिव में प्रतिष्ठित हो जाने पर उसमें लय होने की आशंका बनी रहती है। अतः शैवाचार्यों ने इस प्रकार की उपलब्धि पर विशेष बल नहीं दिया है। उनका कहना है कि साधना का उद्देश्य केवल बन्धन से मुक्त होना ही नहीं अपितु परमतत्त्व परमशिव में प्रतिष्ठित होकर अलौकिक आनन्द का आस्वादन करना है; परमेश्वर की स्वातन्त्र्य की महिमा से जिस जगत् की अभिव्यक्ति हुई है उसमें सक्रिय भाग लेकर चरमानन्द का उपभोग करना है। मानव जीवन की परिपूर्णता इसी में निहित है। अतः इसे ही साधना का लक्ष्य कहा गया है। शैवाचार्यों द्वारा वर्णित साधक की यह चरमोपलब्धि वास्तव में उपनिषदों में उल्लिखित अमृतत्व के आदर्श के समान ही है।

यही कारण है कि जहां शैवग्रन्थों में एक ओर ज्ञानमार्ग का वर्णन मिलता है, वहाँ दूसरी ओर कतिपय शैवाचार्यों ने भक्तिसाधना पर भी यथेष्ट बल दिया है, जिससे साधक परमशिवत्व पद में प्रतिष्ठित होकर क्रीडारसिक लीलामय परमशिव की अचिन्त्य तथा अनन्त लीला का उपभोग करते हुए चरमानन्द का आस्वादन कर सके तथा इससे चरम तृप्ति को पा सके। शैवाचार्यों की यहाँ तक मान्यता है कि ज्ञान का मार्ग मानव साधक को अनुभूति के जिस उच्च शिखर पर ले जाता है उससे भी आगे भक्ति का मार्ग ले जाता है। ज्ञान से केवल मुक्ति मिलती है। भक्ति से भुक्ति और मुक्ति दोनों होती हैं। दोनों का अनुपम सामरस्य मनुष्य को पशु से पति बनाकर परिपूर्णस्वरूप दिव्य जीवन प्रदान करने में समर्थ है। इसी कारण अद्वैत शैव मत के कट्टर पोषक होते हुए भी शैवाचार्यों ने भक्ति पर इतना अधिक बल दिया है।

काश्मीर शैव परम्परा में अनेक आचार्यों ने परमतत्त्व परमशिव की स्तुति में स्तोत्र ग्रंथ लिखे हैं। उपलब्ध स्तुतिपरक स्तोत्र-ग्रन्थों में **उत्पलाचार्य** विरचित **स्त्रोत्रावली, परमेशस्तोत्रावली** (अप्रकाशित), **अभिनव गुप्त** द्वारा रचित **भैरवस्तव, महोपदेशविंशतिकम् अनुभवनिवेदन, देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र, भट्टनारायण**विरचित **स्तवचिन्तामणि, दिवाकरवत्स**विरचित **कक्ष्यास्तोत्र** आदि ग्रन्थों का उल्लेख किया जा सकता है। **क्षेमराज** ने **स्तोत्रावली** तथा **स्तवचिन्तामणि** पर व्याख्यात्मक टीका लिखी जो प्रकाशित रूप में मिलती है। सभी स्तोत्र ग्रन्थों में इष्टदेव परमशिव की स्तुति के व्याज से भक्ति की एक झलक देखने को मिलती है, यद्यपि इन सभी ग्रन्थों में भक्ति का नामोल्लेख स्पष्ट रूप में नहीं किया गया है। भक्ति की सर्वाधिक चर्चा **उत्पलदेव** ने, जो सिद्ध **सोमानन्द** के शिष्य थे, की है। शास्त्रीय दृष्टि से देखने से इस भक्ति को दास्य श्रेणि में रक्खा जाता है, यद्यपि इस विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। इसमें उपासना के समय में जो उपास्य-उपासक भाव परिलक्षित होता है उसका पर्यवसान साधक के अद्वैत तत्त्व में प्रतिष्ठित होने में होता है। यह **निम्बार्क** के **भेदाभेदभाव** अथवा **गौड़ीय** वैष्णवों के अचिन्त्यभेदाभेदभाव से ऊर्ध्व का भाव है जिसका रूप **पूर्णाद्वैत** भूमि में है और साधक को उसी ओर ले जाता है। उदाहरण के लिये **उत्पलाचार्य** की **श्रीशिवस्तोत्रावली** में देखिये—

ऐक्यसंविदमृताच्छधारया सन्ततप्रसृतया कदा विभो।
प्लावनात् परमभेदमानयंस् त्वां निजं वपुराप्नुयां मुदम् ।। १२।१७

अर्थात् "हे ईश्वर, सदा बहती हुई अभेदज्ञान रूपी आनन्द-रसात्मक अमृत की निर्मल धारा से सदा आप्लावित होकर आपके तथा अपने स्वरूप को परम अभेद की दशा को पहुँचाते हुए मैं कब परमानन्द को प्राप्त करूँ।"

अद्वैतभूमि पर पहुँचने से साधक परमशिव के साथ अपने अभेद को देखकर गदगद् हो उठता है और **उत्पलाचार्य** के शब्दों में कहने लगता है—

त्वत्पादपद्मसंस्पर्शपरिमीलितलोचनः ।
विजृम्भेय भवद्भक्तिमदिरामदघूर्णितः ।। ५।५

अर्थात्—"हे प्रभु, मैं आपके चरण-कमलों के स्पर्श से अन्तर्मुख बने हुए नेत्रों वाला बनकर तथा आपकी भक्तिरूपिणी मदिरा की मस्ती से मतवाला होकर नाचता रहूं।" वह प्रभु से प्रार्थना करता है—

अपि लब्धभवद्भावः स्वात्मोल्लासमयं जगत् ।
पश्यन् भक्तिरसाभोगैर्भवेयमवियोजितः ।। ५।१६

अर्थात्—"हे भगवन्, आपके अद्वयानन्द को प्राप्त करके और इस जगत् को अपनी ही आत्मा की झलक से युक्त देखते हुए मैं भक्तिरस के चमत्कारों से वंचित न रहूँ।"

अभिनवगुप्त ने **महोपदेशविंशतिकम्** में उपास्य-उपासक में इसी अभेद को दृष्टि में रखते हुए कहा है कि साधक जब उपास्य को प्रणाम करता है तो यह प्रणाम वास्तव में स्वयं को ही करता है। क्योंकि उपास्य-उपासक वास्तव में एक ही अद्वयतत्त्व के दो नाम है। उनके शब्दों में—

भवद्भक्तस्य सञ्जातभवद्रूपस्य मेऽधुना ।
त्वामात्मरूपं संप्रेक्ष्य तुभ्यं मह्यं नमो नमः ।। ४

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शैवाचार्यों द्वारा परिकल्पित भक्तिभाव उपास्य-उपासक में दृश्यमान द्वैतभावना को हटाकर अद्वैतभूमि पर साधक को ले जाने में समर्थ हैं। जब कोई साधक जीवन के चरम लक्ष्य पर पहुँचने के लिये व्याकुल होकर भक्तिभाव के द्वारा अध्यात्म साधना में जुट जाता है, तो उसका यही भक्तिभाव परमेश्वर की कृपा से घनीभूत होकर भक्ति रस में परिणत हो जाता है और उसे अलौकिक आनन्द का आस्वादन कराता है। साधना की उस चरमोत्कर्ष स्थिति में वह शान्त होकर उसमें तल्लीन हो जाता है। जिस प्रकार **भौंरा** मधु की खोज में तब तक गुंजन करता रहता है जब तक उसे मधु प्राप्त न हो जाय, मधु को प्राप्त करके उसका आस्वादन करते हुए उसी में निश्चेष्ट तल्लीन हो जाता है। उसी प्रकार की स्थिति भक्ति भाव के माध्यम से अद्वयानन्द की खोज करने वाले साधक की होती है। **सोमानन्द** द्वारा निर्दिष्ट निवृतचित् तथा **गौड़ीय वैष्णवों** द्वारा परिकल्पित निकुञ्जलीला साधक की उसी स्थिति को द्योतित करते हैं जिसमें वह भक्ति रस से आप्लुत होकर स्वरूपानन्द का उपभोग करता हुआ स्वरूप में स्थित हो जाता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता **जगद्धर** भट्ट शिवभक्ति के प्रतिपादन करने वाले शैवाचार्यों में प्रमुख आचार्य हैं, जिन्होंने इस परम्परा को आगे बढ़ाने में महनीय प्रयास किया। **जगद्धर** भट्ट **रत्न** भट्ट के पुत्र थे और उनके पितामह **गौरधर** भट्ट भी प्रसिद्ध पण्डित थे। उनका समय उपलब्ध ऐतिहासिक संकेतों के आधार पर चौदहवीं शताब्दी का द्वितीयार्ध निश्चित किया जा सकता है। ये मूलतः वैयाकरण थे जैसाकि उनके द्वारा रचित तीन व्याकरणविषयक ग्रन्थों से पता चलता है। उन्होंने **कातन्त्रव्याकरण** पर **कातन्त्रवृत्ति** तथा **बालबोधिनी** नामक दो टीकाएं लिखीं जिनमें प्रथमोक्त टीका अपने पुत्र **यशोधर** के लिये लिखी ऐसा कहा जाता है। यह टीका अनुपलब्ध है। लेकिन **बालबोधिनी** टीका प्रकाशित रूप में मिलती है। इसके अतिरिक्त व्याकरणविषयक उनकी एक और रचना **अपशब्दनिराकरण** नामक पाण्डुलिपि के रूप में मिलती है। उनकी सर्वप्रसिद्ध रचना **स्तुतिकुसुमाञ्जलि** नामक एक स्तोत्र ग्रंथ है जिसमें उन्होंने अपने इष्ट देवता शिवजी के प्रति भक्तिरसाप्लुत उद्गार व्यक्त किये हैं। यह ग्रन्थ आकार में काफी बड़ा है। इसमें ३८ परिच्छेदों में कुल मिलाकर १४०९ पद्य मिलते हैं। इस ग्रन्थ पर **रत्नकण्ठ** की एक टीका भी मिलती है।

इस अनुपम स्तोत्र ग्रन्थ का **डा० स्वामी निगमबोध तीर्थ ने** जो परिशीलन किया है उसके लिये वे प्रशंसा के पात्र हैं। स्वामी जी संस्कृत साहित्य तथा भारतीय दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् हैं साथ में सफल कवि भी हैं। उन्होंने काश्मीर शैव दर्शन का गहराई से अध्ययन किया है और कवि की दृष्टि से कवि के भक्तिरससिक्त उद्‌गारों के मर्म को सहज सरल भाषा में प्रस्तुत करने का स्तुत्य प्रयास किया है। यदि उनके इस ग्रन्थ से सहृदय पाठकों में भक्तिभाव का संञ्चार हो सके तथा विद्वान् पाठकों को सन्तोष मिल सके तो मैं उनके इन प्रयास को सफल समझूंगा।

कुरुक्षेत्र **देवव्रतसेन शर्मा**

३० मई, १९८८ ई०।

प्राक्कथन

ओं नमश्चिदात्मने । मंगलमूर्ति, करुणानिधान, भक्तभयहर्ता, आशुतोष भगवान् सदाशिव की दिव्य महिमा का सुन्दर गायन भारतीय ऋषि, महर्षि, विवेकी विद्वानों का प्रमुख विषय रहा है । वेद-पुराणों में प्रतिपादित शिव स्वरूप का विशद वर्णन उत्तर-वर्ती संस्कृत वाङ्मय में अनवरत होता रहा है । वह चाहे महाकवि कालिदास के **"कुमारसम्भव"** के रूप में हो अथवा **पुष्पदन्त**विरचित **शिव महिम्न स्तोत्र** के रूप में हो । भिन्न-भिन्न पद्धतियों में सभी ने अपने शब्दार्थमय भावसुमनों से सर्वदा सन्तुष्ट को तुष्ट करने का सफल प्रयास किया ।

ऐसे प्रमुख शिवस्तुतिकर्ताओं में **जगद्धर भट्ट** भी सादर संस्मरणीय हैं ।

शैवागम में परमशिव के दो रूप है—(१) **विश्वात्मक** रूप, जिस रूप में वह जगत् के प्रत्येक जड़ तथा चेतन पदार्थ में व्यापक है, इस कारण उसे आत्मा की संज्ञा दी गई है । **कठोपनिषद्** में **अणोरणीयान् महतो महीयान्** के रूप में किया परम तत्त्व का वर्णन उस पर पूरी तरह से घटित होता है । (२) **विश्वोत्तीर्ण** रूप में वह न केवल सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है अपितु उससे अतीत सर्वोत्तीर्ण तत्त्व के रूप में विद्यमान् है । इस रूप में उसे देश, काल, कार्यकारण सम्बन्धों से अतीत अविकारी माना गया है । उसे इसलिये तत्त्वातीत, अनुत्तर-तत्त्व के नाम से पुकारा गया है । **पुरुषसूक्त** में कहा भी है : **त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः, पादोऽस्येहाभवत् पुनः** (ऋ० १०।९०४) ।

जगद्धरभट्ट ने 'स्तुतिकुसुमाञ्जलि' में जो शिवस्तुति की है, वह कैलाशाधिपति, पार्वतीपति, शिव की ही नहीं है, अपितु शैवागमसंस्तुत उस शिव की भी है, जो चराचरात्मक जगत् का आधारभूत केवल एक ही परम तत्त्व है, जिसे परम शिव भी कहते हैं ।

जगद्धरभट्ट की **स्तुतिकुसुमांजलि** स्तोत्रकाव्यों में एक उत्कृष्ट रचना है । आलोचकों ने इसे स्तुति का सर्वश्रेष्ठ काव्य माना है । प्रायः इसके प्रत्येक पद्य में मानव की लघुता, क्षुद्रता, दीनता और असमर्थता के साथ परम समर्थ भगवान् शिव की असीम उदारता एवं सर्वातिशायी महिमा की मार्मिक अभिव्यक्ति करके जगद्धर ने मानव को सभी कष्टों तथा न्यूनताओं से मुक्त होने के लिए सर्वशक्तिसम्पन्न शिव की ओर उन्मुख होने का सन्देश दिया है । भगवान् शिव के प्रति समर्पित होकर भक्त में दिव्य शक्ति का संचार होता है । वह निर्बल से सबल बन जाता है । भक्ति, दर्शन, भाषा और काव्य सभी दृष्टियों से इस स्तोत्रकाव्य का असाधारण महत्त्व है ।

स्तुतिकुसुमांजलि पर दो टीकाएं तथा कुछ लेख लिखे गये हैं। परन्तु समग्र शोध और समीक्षा की दृष्टि से कोई कार्य नहीं हुआ है। दर्शन, भक्ति, काव्य, एवं भाषा की व्यापक परिधि में इस स्तोत्रकाव्यरत्न के व्यापक समीक्षात्मक अध्ययन की महती आवश्यकता रही है। इसी दिशा में यह शोधप्रबन्ध प्रस्तुत है।

यह प्रवन्ध छह अध्यायों में विभक्त है :

प्रथम अध्याय में अब तक की गवेषणाओं तथा उपलब्ध सामग्री के आधार पर कवि का वंश, जन्म-स्थान एवं जन्मकाल विषयक विविध मतों की समीक्षा की गयी है। कवि की प्रामाणिक कृतियों का उल्लेख करते हुए विद्वानों द्वारा जगद्धर की अनेक रचनाओं सम्बन्धी भ्रामक मान्यता का निराकरण किया गया है। कवि ने अपने परमाराध्य शिव की प्रसन्नता के लिए मात्र **स्तुतिकुसुमांजलि** ही मौलिक ग्रन्थ के रूप में लिखी है, इस बात को सप्रमाण सिद्ध किया गया है।

द्वितीय अध्याय में स्तोत्रकाव्यों की परंपरा में "स्तुतिकुसुमांजलि" का मूल्यांकन किया गया है। इसमें स्तोत्र की प्रवृत्ति का उदय, स्तोत्र का तात्पर्य, स्तोत्र की परिभाषा एवं स्तोत्रकाव्य का आरम्भ दर्शाया गया है। स्तोत्रों के प्राचीन स्रोत के रूप में वेद से आरंभ कर पुराणकाल तक के विस्तृत स्तोत्रसाहित्य पर विचार करते हुए स्वतन्त्र स्तोत्रों का विश्लेषण करके, "स्तुतिकुसुमांजलि" का विशेषरूपेण मूल्यांकन किया गया है। इस प्रसंग में "स्तुतिकुसुमांजलि" पर पूर्व भक्त कवियों का प्रभाव एवं अर्वाचीन भक्तकवियों पर "स्तुतिकुसुमांजलि" के प्रभाव का सोदाहरण प्रदर्शन किया गया है।

तृतीय अध्याय में भक्ति का स्वरूप, भक्ति की महिमा, भक्ति के उद्भव और विकास की चर्चा करते हुए, जगद्धर की भक्तिविषयक मान्यता का प्रतिपादन किया गया है। "स्तुतिकुसुमांजलि" की दृष्टि से नवधा भक्ति का प्रस्तुतीकरण तथा कवि के आराध्य के विविध रूपों का उल्लेख किया है। "स्तुतिकुसुमांजलि" में निर्दिष्ट भक्ति के साधनों का विश्लेषण करते हुए नामसाधन, दैन्यसाधन एवं कृपासाधन को स्पष्ट किया गया है। बाह्य साधन के रूप में "स्तुतिकुसुमांजलि" में उल्लिखित भस्म, माला, गंगा, वाराणसी, व्याघ्रचर्म, कपाल एवं त्रिशूल का उल्लेख किया गया है। भक्तिशास्त्र की दृष्टि से "स्तुतिकुसुमांजलि" के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में दर्शन की विविध मान्यताओं को स्पष्ट करके काश्मीर दर्शन के नाना विषयों पर विचार करते हुए, स्तुतिकुसुमांजलि की पृष्ठभूमि में शैवदर्शन की समीक्षा की गई है।

"दर्शन" शब्द के अर्थ को स्पष्ट करके भारतीय दर्शन के मूल में अध्यात्म की प्रतिष्ठा स्वीकार की गयी है। जगद्धर कवि और दार्शनिक दोनों हैं। उनकी कृति में कविप्रतिभा और अध्यात्मप्रधान दार्शनिकता का प्रमाण उपलब्ध है। "स्तुतिकुसुमांजलि" की पृष्ठभूमि में शैवदर्शन के अनुसार शिव, शक्ति, छत्तीस तत्त्व, मलत्रय,

निर्गुण, सगुण रूप तथा जगन्निर्माण-हेतु आदि दार्शनिक मान्यताओं का निरूपण किया गया है। प्रकृत ग्रन्थ में उपलब्ध वेदान्तदर्शन तथा योगदर्शन की मान्यताओं की भी समीक्षा की गयी है।

पंचम अध्याय में जगद्धर के कवित्व की विशेषताएं दर्शाते हुए उनमें प्रतिभा और व्युत्पति के मणिकांचन संयोग को स्पष्ट किया गया है। जगद्धरसम्मत काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों का निरूपण करते हुए उन्हें शास्त्रपण्डित तथा भक्तकवि दोनों माना गया है। कवि के भाव पक्ष में भक्तिरस की समीक्षा करते हुए भक्तिरस को अंगीरस के रूप में दर्शाकर उसमें उपलब्ध अन्य समस्त रसों का सोदाहरण उल्लेख किया गया है। कलापक्ष में "स्तुतिकुसुमांजलि" की काव्यगत विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए शब्दशक्ति, दोष, गुण, रीति तथा अलंकार की योजना को सोदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

षष्ठ अध्याय में छन्द की महिमा का उल्लेख करते हुए, क्षेमेन्द्र के छन्दो-विषयक मापदण्ड के अनुसार "स्तुतिकुसुमांजलि" के अनेक छन्दों के चारुत्वनिबन्धन का सोदाहरण विश्लेषण किया गया है। छन्द-शास्त्रीय लक्षणों का विवेचन करते हुए स्तुतिकुसुमांजलि के पद्यों में उनकी संगति लगाई गई है। ग्रन्थ में प्रयुक्त समस्त छन्दों की एक तालिका भी दी गई है।

सप्तम अध्याय में स्तुतिप्रसंग में कवि द्वारा निर्दिष्ट विविध पौराणिक उपाख्यानों का उल्लेख है। नाना पुराणों तथा महाभारत के अनेक उपाख्यानों को जगद्धर भट्ट ने "स्तुतिकुसुमांजलि" में यथाप्रसंग उद्धृत किया है। उपाख्यानों का विवेचन इस अध्याय में हुआ है।

अष्टम अध्याय में "स्तुतिकुसुमांजलि" की भाषागत विशेषताओं का विश्लेषण किया गया है। कारक-विवेचन के साथ-साथ नानाविध समासों का विश्लेषण भी प्रस्तुत किया गया है। कवि के धातु-विषयक चमत्कार का विवेचन करते हुए उप-सर्गयुक्त धातुओं की विलक्षणता दिखाई गयी है। इस प्रकार भाषासंबंधी विविध पक्षों के परिप्रेक्ष्य में "स्तुतिकुसुमांजलि" का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

अन्त में, **उपसंहार** में स्पष्ट किया गया है कि "स्तुतिकुसुमांजलि" में शाश्वत आनन्द के धाम भगवान् सदाशिव पूर्ण ब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इसमें भक्ति-विषयक समस्त सिद्धान्त अनायास एकत्रित हो गये हैं तथा अंगी भक्तिरस अपने स्वाभाविक व्यापक परिवेश में पाठक एवं श्रोता का मन आकर्षित करता है। यह स्तोत्रकाव्य की सभी विशेषताओं से अलंकृत है। "स्तुतिकुसुमांजलि" के माध्यम से जगद्धर भट्ट ने भक्ति परंपरा के जिस मौलिक एवं समन्वयात्मक संदेश को वाणी दी है, वह देशकाल के बन्धन से मुक्त है।

जगद्धर भट्ट का यह मौलिक सन्देश है कि शिव के नाते सभी संबंधों को मानने पर ही शिव में सब का और सब में शिव का अनुभव संभव है और तभी उपनिषदों और गीता की वाणी जीवन में चरितार्थ होगी।

इसी प्रकार के समुन्नत समाज की कल्पना "स्तुतिकुसुमांजलि" के कवि ने अपने मनोराज्य में की है। वैष्णव और शैव का, शैव और शाक्त का, व्यक्ति और समाज का समन्वय ही इस स्तुतिग्रन्थ का महत्त्वपूर्ण प्रयोजन है।

चिरकाल से उपेक्षित जगद्धर की इस कृति पर कुछ विद्वानों की दृष्टि गयी है, पर शोध की दृष्टि से कोई विशिष्ट कार्य नहीं हुआ है। आलोचकों ने 'स्तुतिकुसुमांजलि" को अनेक दृष्टियों से जगद्धर की श्रेष्ठतम कृति घोषित किया है। प्रकृत परिशीलन में जगद्धर की इसी व्यापक चेतना को समझने का प्रयास किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में एकमात्र "स्तुतिकुसुमांजलि" को आधार बनाकर जगद्धर के सिद्धांतों तथा मान्यताओं को स्पष्ट किया गया है।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध की मौलिकता की दृष्टि से निम्नलिखित तथ्य उल्लेखनीय हैं—

१. प्रमुखत: "स्तुतिकुसुमांजलि" के आधार पर किया गया जगद्धर के जीवनवृत्त, काल एवं कृतियों का विश्लेषण।

२. स्तोत्रकाव्यपरंपरा के परिप्रेक्ष्य में "स्तुतिकुसुमांजलि" का विशेष समीक्षण तथा स्तुतिकुसुमांजलि पर पूर्ववर्ती स्तोत्रों के प्रभाव एवं अर्वाचीन स्तोत्रों पर स्तुतिकुसुमांजलि के प्रभाव का पर्यवेक्षण।

३. भक्ति के स्वरूप, साधन, भेद एवं महत्त्व आदि की दृष्टि से "स्तुतिकुसुमांजलि" का पर्यवेक्षण।

४. दार्शनिक पृष्ठभूमि में शैवदर्शन, वेदान्त तथा योगदर्शन के सारभूत समन्वित सिद्धान्तों का "स्तुतिकुसुमांजलि" में प्रतिपादन।

५. (क) "स्तुतिकुसुमांजलि" के भावपक्ष के विवेचन में भक्ति के रसत्व का प्रतिपादन एवं अंगी भक्तिरस के विभावानुभाव आदि का अध्ययन।

(ख) "स्तुतिकुसुमांजलि" के कलापक्ष में प्रतिपादन की विविध विशेषताओं का व्यापक परीक्षण।

६. "स्तुतिकुसुमांजलि" के श्लोकों में प्रयुक्त छन्दों के औचित्य अनौचित्य का परीक्षण एवं विवरणात्मक अध्ययन।

७. कवि द्वारा संकलित पौराणिक उपाख्यानों का विवेचन।

८. "स्तुतिकुसुमांजलि" की भाषा का सर्वांगीण विश्लेषण।

इस शोधप्रबन्ध के लिखने में मैंने अनेक विद्वानों एवं उनकी कृतियों, संस्थाओं तथा महानुभावों से सहायता ली है। उन सभी के प्रति आभार व्यक्त करना मेरा परम कर्तव्य है। इस प्रसंग में सर्वप्रथम डा० **कपिल देव शास्त्री जी,** सेवानिवृत्त प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र, का विशेष धन्यवादी हूं। उन्होंने ही मुझे इस स्तोत्रकाव्य पर शोध करने की प्रेरणा देकर इस दिशा में कार्यरत

होने का अवसर प्रदान किया। उन्हीं के विद्वत्तापूर्ण निर्देशन में **मैंने** यह शोधकार्य किया। उनके बहुमूल्य मार्गदर्शन, उचित एवं उपयोगी परामर्श तथा सामयिक सहायता से ही मैं स्तुतिकुसुमांजलि जैसे स्तोत्रकाव्य की विषयगत चेतना को अवगत कर तत्संबंधी सूक्ष्मविषय का विवेचन करने में समर्थ हो सका हूं। इनकी विशेष सहायता के बिना मेरे लिए यह कार्य करना कठिन होता।

स्वर्गीय डा० **गोपिकामोहन भट्टाचार्य**, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र, का भी मैं हृदय से कृतज्ञ हूं। उन्होंने कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में शोधकार्य करने हेतु पंजीकरण कराने में अत्यधिक स्नेहपरिपूर्ण एवं सहानुभूतिशील भाव से मेरी सहायता की तथा समय-समय पर अत्यन्त उपयोगी परामर्श दिये।

पंडित **शिवनारायण शास्त्री**, प्राध्यापक, किरोड़ीमल कालेज, दिल्ली, ने इस शोधकार्य को सर्वतोभावेन अपने वैदुष्यपूर्ण परामर्शों से पूर्ण करवाया तथा प्रकाशन के विविध पक्षों में पूरा उत्तरदायित्व लेकर इसे ग्रन्थरूप देने का सफल प्रयास किया है। एतदर्थ शास्त्रीजी को सर्वतः मंगल कामना प्रदान करता हूं।

जिन विद्वानों की कृतियों से मैंने इस शोधप्रबन्ध के लिखने में किसी भी प्रकार की सहायता ली है, उनके प्रति भी मैं कृतज्ञता प्रकट करता हूं। उन सभी महापुरुषों के चरणों में विनम्र नमन करता हूं जिनकी कृपा से यह कार्य सम्पन्न हुआ है।

इस लेखन कार्य को सम्पन्न करने में मेरे सुयोग्य शिष्य **रमेशचन्द्र शास्त्री** का सहयोग सतत मिलता रहा है। अतः वह भी आशीर्वाद का भागी है।

पंजाब विश्वविद्यालय, होशिआरपुर, के पुस्तकालयाध्यक्ष डा० **श्यामलाल डोगरा** तथा अन्य कर्मचारी भी मेरे धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने समय-समय पर आवश्यक पुस्तकें देकर मेरी सहायता की।

इस ग्रन्थ के प्रकाशक श्री **कन्हैयालाल जोशी**, एम० ए०, वेदालंकार, स्वामी परिमल पब्लिकेशंस, का आभार व्यक्त किये बिना मैं अपने उपकर्ताओं से अनृण नहीं हो सकता। परमशिव की गेहिनी परमवृद्धा सदायुवति भगवती उमा की कृपा का मैं अत्यन्त आभारी हूं, जिसके बिना सूर्य-चन्द्र जब हिलडुल नहीं सकते, तो मादृश जन तो अक्षर की तरफ उन्मुख भी नहीं हो सकता था, अक्षरशोध तो दूर की बात है।

इन विनम्र शब्दों के साथ मैं विद्वज्जन के समक्ष इस कृति को प्रस्तुत कर रहा हूं।

जगद्धरस्य सिद्धस्य शिवस्तोतुर्महाकवेः ।
समर्प्यते शिवाङ्घ्योर्यत् सुकृतेः परिशीलनम् ॥ १ ॥
भवतात् प्रीतये विद्वन्मनोहंस्या गिरः सदा ।
कुसुमाञ्जलिशीलिर्मे भाविता कृपया गिरः ॥ २ ॥

श्रीकृष्णजन्माष्टमी, २०४५ वि०।
केदारघाट, काशी

दण्डी स्वामी निगमबोध तीर्थ
(डॉ० राधाकृष्ण शास्त्री)

ग्रन्थों की संकेतसूची

१. ई० प्र० वि	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति।
२. कठ० उ०	कठोपनिषद्।
३. का० प्र०	काव्यप्रकाश।
४. का० शै० का०	काश्मीर शैवदर्शन और कामायनी।
५. ना० शा०	नाट्य शास्त्र।
६. पा० प्र०	पातंजल योगप्रदीप।
७. पं० ब्रा०	पंचविंश ब्राह्मण।
८. भ० र० सि०	भक्तिरसामृतसिन्धु।
९. भा० पु०	भागवत पुराण।
१०. म० भा०	महाभारत।
११. सा० द०	साहित्यदर्पण।
१२. श्वेता० उ०	श्वेताश्वरतरोपनिषद्
१३. शि० पु०	शिवपुराण
१४. हि० सा० सं०	हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव।
१५. सुवृत्तति०	सुवृततिलक।
१६. स्तु०	स्तुतिकुसुमांजलि।
१७. वं० प०	वंशपरिचय
१८. स्तु० सं० टीका	स्तुतिकुसुमांजलि की संस्कृत टीका।
१९. सं० सा०	संस्कृत साहित्य।
२०. शिवस्तो०	शिवस्तोत्रावली।
२१. ऋ०	ऋग्वेद।
२२. बृ० उ०	बृहदारण्यक उपनिषद्।
२३. वि० प्र०	विनय पत्रिका।
२४. तै० उ०	तैत्तिरीय उपनिषद्।
२५. ऐ० उ०	ऐतरेय उपनिषद्।

विषय-सूची

लेखक परिचय	पण्डित शिवनारायण शास्त्री	(३)
दो शब्द	डा० देवव्रतसेन शर्मा	(७)
प्राक्कथन	दण्डीस्वामी निगमबोध तीर्थ	(११)
ग्रन्थों की संकेतसूची		(१७)
विषय-सूची		(१९)

प्रथम अध्याय—कवि का जीवनवृत्त एवं कृतियां १-२३

(१) कवि-परिचय का स्रोत १
(२) वंश-परिचय
(३) जन्मस्थान ३
(४) जन्मकाल ४
(५) कवि की कृतियां ७
(६) स्तुतिकुसुमांजलि के टीकाकार १३
(७) जगद्धर का व्यापक ज्ञान १७
(८) निष्कर्ष २३

द्वितीय अध्याय—स्तोत्रकाव्यों की परम्परा में स्तुतिकुसुमांजलि का स्थान २५-५६

१. स्तोत्र एवं स्तोत्रकाव्य २५
(क) स्तोत्र की प्रवृत्ति का उदय २६
(ख) स्तोत्र का तात्पर्य एवं परिभाषा
(ग) स्तोत्रकाव्य का स्वरूप २७
(घ) स्तोत्रकाव्य का आरंभ २८
२. स्तोत्र काव्य के प्राचीन स्रोत २८
३. संस्कृत के प्रमुख स्तोत्रकाव्य ३६
४. स्तोत्रकाव्यों में स्तुतिकुसुमांजलि का स्थान ४५
(क) स्तुतिकुसुमांजलि पर प्राचीन स्तोत्रकाव्यों का प्रभाव ४७
(ख) परवर्ती स्तोत्रों पर स्तुतिकुसुमांजलि का प्रभाव ५२
निष्कर्ष ५६

तृतीय अध्याय—स्तुतिकुसुमांजलि का भक्तिपक्ष ५७-९३
१. भक्ति का स्वरूप ५७
२. भक्ति की महिमा ५८
३. भक्ति का उद्भव एवं विकास ६०
४. जगद्धर की भक्तिविषयक मान्यता ६४
५. भक्ति के भेद ६५
६. स्तुतिकुसुमांजलि में आराध्यदेव के विविधरूप ७३
७. भक्ति के आन्तरिक एवं बाह्य साधन ७९
८. निष्कर्ष ९३

चतुर्थ अध्याय—स्तुतिकुसुमांजलि का दार्शनिक पक्ष ९४-१२६
१. दर्शन की प्रवृत्ति ९४
२. दर्शन की उत्पति ९५
३. काश्मीर शैवदर्शन का परिचय ९७
४. काश्मीर शैवदर्शन का आविर्भाव, विकास, साहित्य तथा परम तत्त्व ९८
५. स्तुतिकुसुमांजलि का दार्शनिक पक्ष : शैवदर्शन १०९
६. स्तुतिकुसुमांजलि तथा अन्य दर्शन ११६
७. निष्कर्ष १२५

पंचम अध्याय—स्तुतिकुसुमांजलि का भावपक्ष एवं कलापक्ष १२७-१८६
१. काव्यलक्षण १२८
२. काव्य-प्रयोजन १२९
३. काव्य-हेतु १३०
४. काव्य की आत्मा १३१
५. स्तुतिकुसुमांजलि में रस १३१
६. स्तुतिकुसुमांजलि का अङ्गीरस भक्तिरस १३२
७. रस-परम्परा एवं भक्तिरस १३२
८. ध्वनि १४९
९. अन्य काव्य तत्त्वों की दृष्टि से स्तुतिकुसुमांजलि की समीक्षा १५६
१०. स्तुतिकुसुमांजलि में अलंकारों की स्थिति १६५
निष्कर्ष १८५

षष्ठ अध्याय—स्तुतिकुसुमांजलि की छान्दस समीक्षा १८७-२०१
छन्द की महिमा १८७
छन्द के चारुत्व, अचारुत्व का मापदण्ड १८६
स्तुतिकुसुमांजलि में प्रयुक्त प्रमुख छन्द १६१
निष्कर्ष १६६
स्तुतिकुसुमांजलि में प्रयुक्त छन्दों की स्थल सूची २००

सप्तम अध्याय—स्तुतिकुसुमांजलि के पौराणिक उपाख्यान २०२-२०८
शिव सम्बन्धी उपाख्यान २०३
स्तुतिकुसुमांजलि के उपाख्यान सन्दर्भ २०६
निष्कर्ष २०८

अष्टम अध्याय—स्तुतिकुसुमांजलि की भाषा समीक्षा २०९-२२५
१. स्तुतिकुसुमांजलि की भाषा २०९
२. लिंग विचार २१३
३. कारक २१४
४. समास २१७
५. धातु २१९
६. औचित्यपूर्ण पदचयन २२३
७. निष्कर्ष २२४

उपसंहार २२६

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची २३०

—०—

श्री रणबीर संस्कृतानुसन्धान पुस्तकालय
श्री रघुनाथ मन्दिर, जम्मू
ग्रन्थांक ....
ग्रन्थ नाम ....

प्रथम अध्याय

कवि का जीवनवृत्त एवं कृतियां

१. कवि-परिचय का स्रोत

देववाणी के गण्य मान्य कवियों के जीवनवृत्त का प्रामाणिक विवरण प्राप्त न होने के कारण उनके सम्बन्ध में प्रकटित मत चर्चा का विषय रहा है। यह मतभेद भारतीय वाङ्मय के लिए भूषण न होकर दूषण ही सिद्ध हुआ है। इस अज्ञात प्रवृत्ति के मूल में उन कवियों की विनम्रता ही कारण हो सकती है। परिणामस्वरूप वे लोग अपने सम्बन्ध में कुछ लिखना उचित नहीं समझते थे। उनकी कविता की रचना अपने परमाराध्य देव की तुष्टि एवं पुष्टि हेतु अथवा स्वान्तः-सुखाय होती थी। शनैः-शनैः इस प्रवृत्ति में परिवर्तन आया। श्रीहर्ष आदि कवियों ने अपने सम्बन्ध में कुछ लिखना आरम्भ कर दिया था। सम्भवतः उसी पद्धति का अनुसरण करते हुए जगद्धर भट्ट ने अपनी रचना स्तुतिकुसुमाञ्जलि में अपने सम्बन्ध में थोड़ा-सा परिचय दिया है। किन्तु उन परिचयात्मक पद्यों में जन्म-स्थान, जन्मकाल एवं रचना आदि का पर्याप्त ज्ञान सुलभ नहीं है। यह ज्ञान कवि के परिचय के प्रमाण हेतु आवश्यक ही नहीं परंच अनिवार्य भी है। कवि के अपने श्लोकबद्ध वंश-परिचय से केवल उनके वंश, वैदुष्य तथा लौकिक वैभव का साधारण परिचय मिलता है। इस आधार पर कोई भी पूर्ण परिचयात्मक अंतिम निर्णय करना कठिन है। तथापि जगद्धर के सम्बन्ध में उपलब्ध सामग्री तथा उनकी रचनाओं के आधार पर यहाँ उनके जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में विवरणात्मक निम्न अध्ययन प्रस्तुत है।

२. वंश-परिचय

जगद्धर भट्ट का जन्म परम्पराप्राप्त वैदिक दार्शनिक विद्वानों से संपन्न ब्राह्मणकुल में हुआ। ऐसा उल्लेख कवि ने अपने ग्रंथ के अन्त में 'वंश-परिचय' नामक स्तोत्र में इस रूप में दिया है—

प्राचीन काल में भगवान् शंकर के चरणकमल की धूलि से स्वच्छ, भारद्वाज-गोत्रीय, विद्वानों में अग्रगण्य श्री 'गौरधर' नामक प्रसिद्ध कवि हुए। उन्हें सरस्वती ने अपने स्वेच्छाविहार का स्थान बनाया।[1] पुरातन कवि ब्रह्मा ने महायशस्वी 'गौरधर' की इस धरा पर उत्पत्ति सृष्टि के आरम्भ में न करके बड़ी भूल की। उस भूल का

---

१. पुरा पुरारेः पदधूलिधूसरः सरस्वतीस्वैरविहारभूरभूत्।
विशालवंशश्रुतवृत्तविश्रुतो विपश्चितां 'गौरधरः' किलाग्रणीः॥ स्तु० ३९.१

ज्ञान होने पर उसका परिमार्जन करने के लिये ब्रह्मा ने इस प्रतिभाशाली कवि को समस्त वर्णों की ऊपरि पंक्ति में सम्मानित किया।[1]

इससे स्पष्ट है कि 'गौरधर' का जन्म प्रतिष्ठित ब्राह्मणकुल में हुआ। समस्त सिद्धान्त के ज्ञाता, सकल शास्त्रों के पारंगत, महाशक्तिशाली 'गौरधर' ने यजुर्वेद का 'वेदविलास' नामक भाष्य लिखा।[2] गुणगरिमा से युक्त 'गौरधर' के यहां 'रत्नधर' नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। मनीषियों का शिरोमणि तथा दया-दाक्षिण्यादि गुणों से परिपूर्ण वह रत्न था। उसके समीप रहकर भगवती सरस्वती ने कौस्तुभरत्नधारी विष्णु के विशाल वक्षःस्थल पर विहार करने वाली लक्ष्मी से स्पर्धा की।[3] विद्वद्वरेण्य रत्नधर की प्रौढ़ उक्तियाँ सहृदय जनों के मुख को नानाविध रसास्वाद से अर्धनिमीलित नेत्रों वाला बना देती हैं।[4]

कालान्तर में रत्नधर के यहाँ 'जगद्धर' नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसने शास्त्रार्थ में वादियों के मुखों को अनेक बार मौन-मुद्रा धारण करने के लिए बाधित किया। कविवर जगद्धर का मुख-कमल समस्त शास्त्रों के संस्कारों से समन्वित सरस्वती के वैभव द्वारा अतीव पवित्र हुआ हैं।[5]

वंश-वर्णन के प्रथम श्लोककी हिन्दी टीका में श्री प्रेमवल्लभ त्रिपाठी ने जगद्धर को 'भारद्वाज-गोत्रीय' बतलाया है। अगले पद्य में 'द्विजन्मनाम्' पद का प्रयोग करके कवि ने स्वयं अपने ब्राह्मणत्व को स्पष्ट किया है। एक अन्य स्थल पर परोक्ष रूप से कवि ने स्वयं को ब्राह्मण-कुलोत्पन्न माना है। उसका कथन है—प्रथम तो मानवजन्म दुर्लभ है। तदन्तर पुरुष का शरीर, और उसमें भी ब्राह्मणत्व दुर्लभ है। ततः विद्वत्ता तथा सत्काव्यनिर्माण में प्रवृत्ति और उस पर भी यह शिवैकता सुलभ नहीं है। इस प्रकार उत्तरोत्तर मेरे कल्याणों की यह परम्परा प्रभु की स्तुति के द्वारा सफलता को प्राप्त हुई है।[6] इस प्रसंग से स्पष्ट है कि जगद्धर के पितामह का नाम 'गौरधर' तथा पिता का नाम 'रत्नधर' था। यह कुल ब्राह्मणकुलों में प्रतिष्ठित एवं माननीय था।

---

१. प्रमादनिर्माय पुरातनः कविर्यमग्रिमश्लोकमवश्यमग्रतः।
विमृश्य पंक्तेरुपरि द्विजन्मनां न्यवीविशत् काकपदांकितं पुनः॥ स्तु० ३९।२

२. अनन्तसिद्धान्तपथान्तगामिनः समस्तशास्त्रार्णवपारदृश्वनः।
ऋजुर्यजुर्वेदपदार्थवर्णना व्यनक्ति यस्याद्भुतविश्रुतं श्रुतम्॥ स्तु० ३९।३

३. सुतोऽभवद् रत्नधरः शिरोमणिर्मनीषिणामस्य गुणौघसागरः।
यमाश्रिताह्वास्त सरस्वती हरेरुरःस्थलं रत्नधरं श्रितां श्रियम्॥ स्तु० ३९।४

४. सचेतसामर्धनिमीलितेक्षणं क्षणं वितन्वन्ति मुखं यदुक्तयः। स्तु० ३९।६

५. अथाऽस्य धीमानुदपादि वादिनां वितीर्णमुद्रो वदनेष्वनेकशः।
उदारसंस्कारसुसारभारती-पवित्रवक्त्राम्बुरुहो जगद्धरः॥ स्तु० ३९।७

६. मनुष्यता पूरुषताऽग्रचवर्णता मनीषिता सत्कविता शिवैकता।
इयं मम क्षेमपरम्परा विभोः स्तुतिप्रसंगेन गता कृतार्थताम्॥ स्तु० ३८।९

३. जन्म स्थान

महाकवि जगद्धर ने अपने परिचय में वंश, वैभव का उल्लेख किया है, परन्तु जन्मस्थान के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं दिया है। विविध प्रसंगों से यहाँ जन्म-स्थान का निर्धारण करने में विशेष कठिनता नहीं है। अन्त:साक्ष्य एवं बाह्य प्रमाणों के द्वारा यह पूर्णत: स्पष्ट है कि कवि का जन्म-स्थान अनेक महाकवियों की जन्मस्थली कश्मीर की कविभूमि ही है। इस बात की परिपुष्टि इन अन्त:साक्ष्यों के आधार पर होती है—

तीसवें स्तोत्र में जगद्धर ने 'विजयेश्वर' महादेव की स्तुति की है।[१] यह काश्मीर की ही प्रसिद्ध मूर्ति मानी जाती है।[२]

इस कथन से जगद्धर काश्मीरी ही सिद्ध होते हैं। टीकाकार रत्नकण्ठ ने अन्य स्थानों पर भी काश्मीर का उल्लेख किया है। ये सभी स्थल कवि के काश्मीरी होने में प्रमाणभूत सिद्ध होते हैं।[३] इसके अतिरिक्त कवि ने अपनी कृति में कुछ विशिष्ट शब्दों का प्रयोग किया है। रत्नकण्ठ ने इन शब्दों को काश्मीर में प्रचलित बतलाया है। यथा—

(१) **रुदत्य:** पद की व्याख्या में संस्कृत टीकाकार ने इसके लिए काश्मीर में "नीरीश्य' शब्द प्रचलित बतलाया है। मृतक के लिए भाड़े पर रोने-धोने (स्यापा करने) की प्रथा स्त्रियों में प्रचलित रही है। कवि ने उन्हीं के लिए 'रुदत्य:' पद का प्रयोग किया है।[४]

(२) **दूढ्य:** पद के प्रयोग पर रत्नकण्ठ का कहना है कि यह शब्द कश्मीर में 'डोड' शब्द से अभिहित ब्राह्मण के लिए प्रयुक्त हुआ है। देवताओं तथा पितरों के निमित्त किये जा रहे धार्मिक कार्यों में निमन्त्रित न होते हुए भी ऐसा ब्राह्मण स्वयं ही उपस्थित हो जाता है।[५]

---

१. देव्यां भ्रमद्भ्रु वि जयाविजयार्चितायां
सक्ता तवाऽस्तविजया विजयाय दृष्टि:।
वृष्ट्येव भूर्दिविजया विजयाख्यया ते
मूर्त्या त्रसद्रविजया विजयाह्वया च ।। स्तु० ३९।७०

२. इस पद्य की संस्कृत टीका में रत्नकंठ कश्मीरी का कथन इस प्रकार है—
'अधुना निजभक्तजनानुद्धर्तुं विहितनिजदेशकश्मीरस्थितिं श्रीविजयेश्वरं स्तौति कविर्वृष्ट्येवेत्यादि।' तथा 'हे विभो, ते तव सम्बन्धिन्या विजयाख्यया विजयेश्वरसंज्ञया कश्मीरदेशेऽतिप्रसिद्धया...।'

३. प्रत्येक स्तोत्र की संस्कृत टीका की पुष्पिका तथा स्तु० ६।१२, ११।१०५

४. 'त्वां जीवितेश इति यत्स्तुवते रुदत्य:।' स्तु० ६।१२

५. 'दूढ्य इव निष्ठुरपुष्टभाषी।' स्तु० ११।१०५

विशेषतः, रत्नकण्ठ ने स्तुतिकुसुमांजलि के प्रत्येक स्तोत्र के अन्त में जगद्धर को 'काश्मीरक महाकवि' लिखा है ।[1] हिन्दी व्याख्याकार श्री प्रेमवल्लभ त्रिपाठी ने भी इन्हें काश्मीरक महाकवि कहा है ।[2]

जगद्धर के कश्मीरी होने के बारे में आधुनिक समालोचक एक मत हैं—विश्वसंस्कृतशताब्दी ग्रंथ में कश्मीर के उपलब्ध समस्त संस्कृत विद्वानों का गवेषणात्मक संक्षिप्त परिचय दिया है । इस ग्रंथ में जगद्धर का भी विवरण दिया गया है ।[3] इसके अतिरिक्त पं० भगवद्दत्त का भी यही विचार है कि जगद्धर भट्ट कश्मीर का एक प्रसिद्ध विद्वान है । द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल ने भी 'असावपि' काश्मीरकः[4] कहा है ।[5] पं० बलदेव उपाध्याय का कथन है कि भगवान् शंकर की स्तुति अनेक कवियों ने बड़ी मार्मिकता से लिखी है । कश्मीर शैवदर्शन का अपना विशिष्ट क्षेत्र है । अतः जिस प्रकार वहाँ के कवियों ने शिवचरित्र का आलम्बन कर विशिष्ट प्रबन्ध-काव्यों का निर्माण किया है, उसी प्रकार सुन्दर शैव स्तोत्रों की रचना कर उन्होंने अपने प्रौढ भक्ति-भाव का परिचय दिया है । ऐसे स्तोत्रों में उत्पलदेव की 'शिवस्तोत्रावली' तथा जगद्धरभट्ट की 'स्तुतिकुसुमांजलि' नितान्त प्रसिद्ध हैं । कश्मीरी शैवों में इन स्तोत्रों की वही प्रतिष्ठा है, वही आदर है, जो वैष्णवों में 'करुणा-लहरी' आदि का ।[6]

४. जन्म-काल

संस्कृत के अन्य मूर्धन्य कवियों के समान जगद्धर ने भी अपने समय के बारे में कहीं कोई निर्देश नहीं किया है, अतः इनके काल के निर्धारण के लिए हमें अधिकतर बाह्य प्रमाणों पर ही निर्भर करना पड़ेगा ।

---

१. इति श्रीराजानकशंकरकण्ठात्मज-रत्नकण्ठविरचितया स्तुतिकुसुमांजलिलघुपंचिकया समेतं काश्मीरकमहाकविश्रीजगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुतिकुसुमांजलौ नमस्कारस्तोत्रं द्वितीयस्तोत्रम् । स्तु०, संस्कृतव्याख्या, पृ० २२

२. 'इति श्रीप्रेममकरन्दोपेते काश्मीरकमहाकविश्रीजगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुतिकुसुमांजलौ स्तुतिप्रस्तावनानामकं प्रथमं स्तोत्रम्', इत्यादि ।
स्तु०, हिन्दी व्याख्या, पृ० २३

३. १३५० खिष्टाब्दे काश्मीरप्रदेशस्य पद्मपुराख्ये नगरे जनिमसौ लेभे । अमुष्य पितुर्नाम रत्नधरः । जगद्धरेण 'बालबोधिनी' नाम्नी कातंत्रवृत्तिरेका रचिता । किं च 'स्तुतिकुसुमांजलि' नामकः स्तोत्रग्रन्थोऽप्यमुष्य प्रसिद्धः ।
विश्वसंस्कृतशताब्दीग्रन्थः, जम्बुकाश्मीरभागः, आमुखम्, पृ० ल ।

४. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, पृ० १००

५. संस्कृतसाहित्यविमर्शः पृ० ६७७

६. बलदेव उपाध्याय, संस्कृत का साहित्य इतिहास, पृ० ३६१

संस्कृत साहित्य के इतिहासकारों ने जगद्धर का उल्लेख किया है। स्तुतिकुसुमांजलि की रत्नकण्ठकृत संस्कृत टीका भी कवि के समय पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। अन्य विद्वानों ने भी इस टीका से पर्याप्त सहायता प्राप्त की है। कीथ तथा गैरोला जैसे कुछ विद्वान हैं जिन्होंने अपने इतिहास ग्रंथों में स्तोत्रकारों पर अत्यल्प विचार किया है। संभवत: इसीलिए इन्होंने अपने इतिहासग्रंथ में जगद्धर का उल्लेख नहीं किया है। पुनरपि, उपलब्ध सामग्री के आधार पर जगद्धर का काल-निर्णय परिपुष्ट प्रमाणों द्वारा किया जा रहा है।

कवि का स्थिति-काल १३५० ई० के लगभग माना गया है। जगद्धर ने अपने पुत्र यशोधर को पढ़ाने के लिए एक ग्रंथ की रचना की थी। यह है 'बालबोधिनी' नामक कातन्त्रवृत्ति। इस ग्रंथ के आरम्भ तथा समाप्ति पर जगद्धर ने स्वयं लिखा है कि मैंने अपने पुत्र यशोधर को पढ़ाने के लिए 'बालबोधिनी' लिखी है।[1]

बालबोधिनी की एक संस्कृत टीका भी है। इसके लेखक राजानक शितिकंठ हैं। ये भी कश्मीर के ही अन्तर्गत पद्मपुर के निवासी थे तथा जगद्धर के दौहित्र की दौहित्री के पुत्र थे। इस बात का उल्लेख शितिकंठ ने अपनी व्याख्या के आरम्भ में किया है। राजानक शितिकंठ ने लिखा है कि जिस महान् विद्वान् जगद्धर ने 'बालबोधिनी' नामक वृत्ति का प्रणयन किया है, मैं शितिकंठ उसी वृत्ति की व्याख्या करता हूं।[2] जिस समय हैदरशाह का पुत्र हसनशाह कश्मीर देश पर राज्य करता था, उस समय उन्होंने यह व्याख्या लिखी थी। इसका उल्लेख भी शितिकंठ ने अपनी व्याख्या के आरम्भ में किया है।[3]

स्तुतिकुसुमांजलि की हिन्दी व्याख्या की भूमिका में प्रेमवल्लभ त्रिपाठी ने इसका विवरण इस प्रकार दिया है—

"मुहम्मदशाह ने १४५८ ई० से १५११ ई० तक गुजरात का राज्य किया। हसनशाह ने १४७२ ई० से १४८४ ई० तक कश्मीर का राज्य किया। इसी समय शितिकंठ ने जगद्धर के ग्रंथ की व्याख्या की थी। इसके सवा सौ वर्ष पहले ही जगद्धर हुए होंगे, क्योंकि शितिकंठ उनकी छठी पीढ़ी में हुए थे, अतएव १३५० ई० के लगभग जगद्धर के स्थितिकाल का अनुमान होता है।"

---

१. स्वसुतस्य शिशोर्यशोधरस्य स्मरणार्थं विहितो मया श्रमोऽयम्।
लघुललितपदा व्यधायि वृत्तिर्मृदुसरला खलु बालबोधिनीयम्॥
स्तु०, सं० टीका, भूमिका, पृ १-२

२. यो बालबोधिन्यभिधां बुधेन्द्रो जगद्धरो यां विततान वृत्तिम्।
तन्नप्तृकन्यातनयातनूजो व्याख्यामि तां श्रीशितिकण्ठकोऽल्पम्॥
स्तु०, सं० भूमिका, पृ० २

३ भूजानौ हस्सनाख्ये भुवमवति मया तन्यते ग्रंथ एषः।
स्तु० हिन्दी टीका, भूमिका, ग्रन्थकार का परिचय, पृ० २

इस सम्बन्ध में द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल ने कहा है—

'भट्टोऽयं चतुर्दशशताब्दीसम्भवो विद्वद्वरस्य गौरधरभट्टस्य पौत्रः रत्नधरभट्टस्य चात्मज आसीत् ।'[1]

कृष्णचैतन्य के मत में चौदहवीं शताब्दी के कवि, जगद्धर भट्ट भी पूर्ण चेतना के साथ ईश्वर के सम्मुख उपस्थित होते हैं ।[2]

जयकिशन प्रसाद के मतानुसार 'जगद्धर का स्थिति काल ईसा की चौदहवीं शताब्दी है ।''[3]

जगद्धर के स्थिति काल के सम्वन्ध में युधिष्ठिर मीमांसक ने लिखा है—"जगद्धर काश्मीर का प्रसिद्ध पण्डित है । उसने स्तुतिकुसुमांजलि ग्रन्थ और मालती-माधव आदि अनेक ग्रन्थों की टीकाएं लिखी हैं । डा० वेल्वल्कर ने जगद्धर का काल १०वीं शताब्दी माना है, वह ठीक नहीं है । क्योंकि जगद्धर ने वेणीसंहार नाटक की टीका में रूपावतार को उद्धृत किया है। रूपावतार की रचना सं० ११५० के लगभग हुई है । यह हम पूर्व प्रतिपादित कर चुके हैं। जगद्धर का काल सं० १३५० के लगभग है।"[4]

भगवद्दत ने इस सम्बन्ध में कहा है—"जगद्धर भट्ट कश्मीर का एक प्रसिद्ध ग्रंथकार है । इसने मालतीमाधव आदि अनेक नाटकों पर अपनी टीकाएं रची हैं । इन टीकाओं के अतिरिक्त इसने भक्ति भाव पूर्ण स्तुति-कुसुमांजलि नाम के एक ग्रंथ का निर्माण किया था। इस ग्रन्थ के अन्त में अपने वंश का वर्णन करते हुए "विपश्चितां गौरधरः किलाग्रणीः" लिखा है । इस पर स्तुतिकुसुमांजलि के संस्कृत टीकाकार ने लिखा है "यजुर्वेदपदानामर्थवर्णना भाष्यपद्धतिर्वेदविलासनाम्नी" । इससे सिद्ध होता है कि गौरधर ने यजुर्वेद पर "वेदविलास" नामक भाष्य लिखा था । भाष्य के अन्त में लिखा है—"इति ऋजुव्याख्याने संहितायां चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ।। संवत् १५६४ फाल्गुन शुद्ध १४, भौमे लिखितम् ।।" बहुत सम्भव है कि गौरधर प्रणीत यजु-र्भाष्य यही हो। गौरधर स्तुति-कुसुमांजलिकार जगद्धर का पितामह था । स्तुतिकुसुमां-जलि के सम्पादक हैं पं० दुर्गाप्रसाद और पं० काशीनाथ पाण्डुरंग परब । अपनी भूमिका में वे लिखते हैं कि सन् १३५२ के समीप जगद्धर का काल था । गौरधर का समय १३०० मानना चाहिए ।"[5]

रामगोपाल त्रिवेदी का कथन है—"गौरधर काश्मीरी ब्राह्मण थे । इनके पौत्र "स्तुतिकुसुमांजलि" कर्ता जगद्धरके कथनानुसार गौरधर ने माध्यन्दिन पर "वेदविलास"

---

१. संस्कृतसाहित्यविमर्शः, पृ० ६७७

२. सं० सा० का नवीन इतिहास, अनुवादक विनयकुमार राय, पृ० ४५०

३. संस्कृतसाहित्य की प्रवृत्तियां, पृ० २२८

४. व्याकरणशास्त्र का इतिहास, पृ० ५२०

५. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, पृ० १००

नाम की एक टीका लिखी थी। ये १४वीं शती में थे।"[1]

पी० के० गौड़ का एक लेख "डेट आफ जगद्धर" शीर्षक से प्रकाशित हुआ है, जिसमें जगद्धर के काल पर विस्तार से प्रकाश डालने का प्रयास किया है। लेखक ने निम्नलिखित मत जगद्धर के काल के विषय में देकर उनका काल चौदहवीं शताब्दी ही माना है—

(१) कृष्णमाचार्य के विचार से १५०० ई० के लगभग।
(२) पी० के० गौड़ ई० १३७५ और १४०० के मध्य में।
(३) हरप्रसाद शास्त्री १४७५ ई०।
(४) भाण्डारकर ई० १७०८ के लगभग।

लेखक ने उपर्युक्त मतों का विश्लेषण तथा निराकरण करते हुए अपने विचार से जगद्धर का स्थितिकाल सामान्यतया ईसा की १४वीं शताब्दी प्रमाणित किया है।[2]

यहां जगद्धर का काल-निर्णय करने वाले प्रायः सभी विद्वानों ने जगद्धर को स्तुतिकुसुमांजलि के अतिरिक्त अनेक ग्रन्थों का टीकाकार भी माना है। कालनिर्णय के अवसर पर टीका ग्रन्थों को प्रमाण मानकर ऊहापोह किया गया है। परन्तु यहां पर यह ध्यातव्य है कि स्तुतिकुसुमांजलिकार जगद्धर ने "कातन्त्रवृत्ति" के अतिरिक्त किसी भी ग्रन्थ की टीका नहीं लिखी। इस सम्बन्ध में 'कवि की रचनाएं' नामक स्थल पर आगे विस्तार से विचार किया गया है।

यहां इतना कहना ही पर्याप्त है कि जगद्धर के नाम से प्रसिद्ध टीका ग्रंथों में केवल कातन्त्र की बालबोधिनी वृत्ति ही निर्विवाद रूप से जगद्धरकृत है। अतः उसके व्याख्याता शितिकण्ठ के काल के आधार पर उनका काल निर्धारित करना तर्कसंगत है। अतः जगद्धर का काल ई० सन् की चौदहवीं सदी के मध्य में मानना सर्वथा उचित है।

५. कवि की कृतियाँ

जगद्धर ने अपनी ज्ञानमयी प्रतिभा से किन ग्रंथरत्नों का सृजन किया है? इसका निश्चयात्मक कोई एक उत्तर नहीं दिया जा सकता। जगद्धर नाम के तीन व्यक्ति हैं। इनमें से एक तो "जदू" उपनाम वाले "नीलमतपुराण" के लेखक हैं।[3] इनकी कोई अन्य रचना नहीं है। शेष स्तुतिकुसुमांजलिकार तथा मालतीमाधव आदि ग्रंन्थों के टीकाकार, ये दोनों विद्वानों के लिए विवाद का विषय बने हुए हैं। पण्डित भगवद्दत्त, युधिष्ठिर मीमांसक, कृष्णमाचार्य, पी० के० गौड, भाण्डारकर प्रभृति विद्वान् स्तुतिकुसुमांजलिकार जगद्धर को ही "मालतीमाधव" आदि नाटकों का टीकाकार भी

---

१. वैदिक साहित्य, पृ० ४०२
२. बम्बई विश्वविद्यालय का जर्नल, सितम्बर, १९४०, भाग-९, पृ० २
३. भारतीय साहित्य, प्रथम भाग, द्वितीय खण्ड, पृ० २४१

मानते हैं। उन्होंने जगद्धर की अन्य रचनाओं का उल्लेख इस प्रकार किया है—"देवीमाहात्म्य, भगवद्गीता, मालतीमाधव, मेघदूत, वासवदत्ता, वेणीसंहार, मुद्राराक्षस, सरस्वतीकण्ठाभरण, गीतगोविन्द, रसदीपिका, तत्त्वदीपिनी, संगीतसर्वस्व, चण्डिकावसन्तोत्सव काव्य।

उक्त रचनाओं की प्रामाणिकता में सन्देह प्रकट करते हुए डा० सरनामसिंह ने अपने शोध प्रबन्ध में जगद्धर भट्ट को केवल स्तुतिकुसुमांजलि का ही रचयिता माना है।[1]

पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी का कथन है— "जगद्धर महाकवि थे, परन्तु उन्होंने अपनी कवित्व-शक्ति का उपयोग केवल शिव-स्तुति करने में किया, और किसी विषय पर उन्होंने कविता नहीं लिखी।"[2]

इस प्रकार विद्वानों में परस्पर विरोधी विचारों के होते हुए भी स्तुतिकु‌सुमांजलि के अनुशीलन के आधार पर हम एक निर्णय कर सकते हैं, कि जगद्धर ने केवल दो ही ग्रंथों की रचना की है—स्तुतिकुसुमांजलि तथा बालबोधिनी। स्तुतिकुसुमांजलि में जगद्धर भट्ट ने ऐसा कोई उल्लेख नहीं किया जिसके आधारपर हम उसे अन्य ग्रन्थों का लेखक मान सकें। जगद्धर भट्ट की बस एक ही रट रहती है कि भगवान् शंकर की स्तुति के समान कुछ भी नहीं है। उसका कथन है—"हे शिव, जैसे कोई मधुपान से आलसी होकर सोई हुई वधू को जगाता है, वैसे ही, मैंने इस समय मधु के समान सुमधुर वाणी को आपके गुणानुवाद के लिए सोई हुई को जैसा, जगाया है।"[3] क्योंकि आपका स्वल्प स्तवन भी महान् से महान् पापों को नष्ट कर देता है।[4] इतना ही नहीं, बल्कि सत्कवि की शिवैकशरणा वाणी ही सर्वोत्कृष्ट है।[5]

उपलब्ध टीकाकारों का मत है कि जगद्धर भट्ट ने केवल दो ही पुस्तकें लिखी हैं, यह स्तुतिकुसुमांजलि तथा दूसरी "कातन्त्र" पर "बालबोधिनी" नामक वृत्ति। संस्कृत टीकाकार राजानक रत्नकण्ठ जिसका समय १७३८ विक्रमी है, ने स्पष्ट लिखा[6]

---

१. हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव, पृ० ८४
२. सरस्वती, १६२६, भाग २७, खण्ड २
३. मधुनाशिनार्चितसमं मधुना मधुनामपुष्पजनुषामधुना।
मधुनाऽलसामिव वधूमधुना मधुनाप्लुता त्वयि गिरं मधुना। स्तु० ३०।६२
४. ध्रुवं तथैवाणुरपि स्तव स्तव क्षणादघं दीर्घमपि व्यपोहति। स्तु० ७।१०
५. वाणी शिवैकशरणा जयतीश्वरीव। स्तु० ५।१
६. अयं स्तुतिकुसुमांजलिकर्ता काश्मीरिको महाकविः श्री जगद्धर भट्टः स्वसूनोर्यशोधरस्य कृते बालबोधिनीसमाख्यां कातन्त्रवृत्तिं प्रणीतवान्। स्तुतिकुसुमांजलिं बालबोधिनीं चापहाय नान्यः कोऽपि ग्रन्थो जगद्धरप्रणीतः प्राप्यते। वासवदत्ता-वेणीसंहार-मालतीमाधवानां टीकाकारो जगद्धरस्त्वस्माद्भिन्न इति तत्तद्ग्रंथ-समाप्तिस्थलप्रशस्तिपर्यालोचनया प्रतीयते। स्तु०, सं० टी०, भूमिका, पृ० २

है कि जगद्धर भट्ट ने स्तुतिकुसुमांजलि तथा बालबोधिनी के अतिरिक्त कोई अन्य ग्रन्थ नहीं लिखा। रत्नकण्ठ ने संस्कृत टीका के आरम्भ में जो लिखा है, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्तुतिकुसुमांजलिकार जगद्धर भट्ट ने केवल दो ग्रंथ लिखे हैं। टीकाकार जगद्धर कोई दूसरा ही है।

"विश्वसंस्कृत शताब्दी ग्रन्थ" भी इसी तथ्य का समर्थन करता है। वहां "स्तुति-कुसुमांजलि" के सम्वन्ध में कहा है कि भक्ति रस का जैसा प्रवाह इस ग्रन्थ में है, वैसा अन्यत्र नहीं। इस ग्रन्थ का रचयिता काश्मीरक कवि जगद्धर है।[1] "विश्वसंस्कृत-शताब्दी ग्रन्थ" में बालबोधिनी का उल्लेख भी जगद्धर की रचना के रूप में किया गया है।[2] अतः प्रकृत जगद्धर को स्तुतिकुसुमांजलित तथा बालबोधिनी कातन्त्रवृत्ति का प्रणेता मानना ही उचित है। पूर्व-वर्णित जन्म-काल के सन्दर्भ में इस तथ्य की पुष्टि जगद्धर के अपने शब्दों से भी सिद्ध है। इसी प्रकार राजानक शितिकण्ठ ने पूर्व प्रसंग में जगद्धर को बालबोधिनी का रचयिता बतलाया है।[3]

इस आधार पर यह निष्कर्ष उचित होगा कि जगद्धर (क) स्तुतिकुसुमांजलि तथा (ख) बालबोधिनी नामक दो ग्रंथों के लेखक हैं।

(क) स्तुतिकुसुमांजलि

भगवान् शिव कश्मीरी कवियों के प्रधान रूप से प्रेरणास्रोत एवं स्तुत्य हैं। प्रायः सभी संस्कृत कवियों ने अपने-अपने ग्रंथों के आदि में शिव-विषयक मंगलाचरण किया है और भगवान् शिव के चरित्रों से अपनी सूक्ति-सरिता को पावन किया है। स्तोत्रसाहित्य में सैकड़ों नहीं, हजारों स्तोत्र शिव के गौरवगान में लिखे गये हैं। उनमें से स्तुतिकुसुमांजलि भी एक है। इसमें ३८ स्तोत्र हैं। समस्त श्लोक संख्या १४२३ है। अन्तिम ३९ वें "वंशवर्णन" अध्याय में १९ श्लोकों में कवि ने अपने वंश का परिचय दिया है। स्तोत्रसंख्या का निर्देश जगद्धर भट्ट ने स्वयं किया है।[4] ये सभी स्तोत्र

---

१. "भक्तिरसस्य यादृश उद्रेकोऽस्मिन् ग्रंथे प्रवहति, न तादृशः कस्मिन्नपि पुस्तके" इति कथने नात्युक्तिः स्यात्। अस्य ग्रंथस्य रचयिता प्रसिद्धः काश्मीरकः कविः श्रीजगद्धरभट्टोऽस्ति। विश्वसंस्कृतशताब्दी ग्रंथ, पृ० ३५४

२. असौ भूर्जपत्रेषु शारदालिपिलिखितो जीर्णोऽतिप्राचीनश्छिन्नो द्विशताधिक-पत्रात्मको जगद्धरभट्टविरचितो व्याकरणग्रंथः। विश्वसंस्कृतशताब्दी ग्रंथ, पृ० ३५४

३. यो बालबोधिन्यमिधां बुधेन्द्रो जगद्धरो यां विततान वृत्तिम्।
स्तु० सं० टी०, भूमिका, पृ० २

४. एते प्रभोः प्रमथभर्तुरभीष्टमष्टात्रिंशत्स्तवा विमृशतां विदुषां दिशन्तु।
स्तु० ३८।२५

भक्ति-सौष्ठव में एक से एक बढ़कर हैं। कवि ने प्रत्येक स्तोत्र को एक-एक कुसुम मान कर इनकी अंजलि अपने इष्टदेव को समर्पित की है। डा० वचनदेव कुमार का कथन है कि "३९ स्तोत्रों के १४०० श्लोकों में भक्तिपूरित हृदय से कवि ने शंकर भगवान् की स्तुति की है।"[1] महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"इस कुसुमांजलि में ३८ स्तोत्र हैं। उनकी श्लोक-संख्या १४०० के ऊपर है।"[2] स्तुतिकुसुमांजलि के हिन्दी-टीकाकार प्रेमवल्लभ त्रिपाठी ने ग्रंथ की सूची में स्तोत्रों की संख्या ३९ तथा श्लोक संख्या १४३९ लिखी है।[3] इसी ग्रन्थ के संस्कृत टीकाकार राजानक रत्नकण्ठ की टीका का पुनः सम्पादन पण्डित दुर्गाप्रसाद ने किया है। इसकी सूची में भी स्तोत्र-संख्या ३९, तथा श्लोक संख्या १४३९ लिखी है।[4] अतः उपलब्ध टीकाकारों ने जिन पद्यों की टीका लिखी है, उनकी संख्या १४३९ ही है। इसके विपरीत जगद्धर ने अपने वंश-परिचय में जो उल्लेख किया है, उसके अनुसार समस्त पद्यों की संख्या एक हजार चार सौ पचीस होनी चाहिए।[5]

संस्कृत टीका में रत्नकण्ठ ने लिखा है : **"अत्र च प्रागुक्तानां सप्तशताधिक-पंचसहस्रश्लोकपादानां ५७०० एतदंकं संस्थाप्य चतुर्भिर्भागो देयः। चतुष्पादकत्वात् श्लोकस्य। अत्र भाज्यस्य राशेः ५७०० भाजकेन चतुर्भिः (४) भागं लब्धं पंचविंशति श्लोकाधिकचतुर्दशशतानि वृत्तानाम् (१४२५)। एतावत्संख्याः श्लोका मयाऽस्मिन् ग्रन्थेऽष्टात्रिंशत्स्तवेषु विरचिता, इति ग्रन्थकृता प्रकटीकृतम्।"**

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि स्तुतिकुसुमांजलि की श्लोकसंख्या १४२५ थी। वंशपरिचय सम्बन्धी १६ पद्य इनसे पृथक् थे। ३८ स्तोत्र वंश-परिचय वाले भाग के बिना हैं। दोनों टीकाकारों ने वंश-परिचय को मिलाकर स्तोत्रों की संख्या ३९ तथा श्लोकों की संख्या १४३९ लिखी है। महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा डा० वचनदेव कुमार ने इस सम्बन्ध में विशेष गवेषणा नहीं की। कहीं पढ़कर अथवा सुनकर ही पूर्वोक्त संख्या का उल्लेख कर दिया प्रतीत होता है।

ऐसी स्थिति में अनुमान किया जाता है कि वंश-परिचय सम्बन्धी १६ श्लोकों

---

१. तुलसी के भक्त्यात्मक गीत—डॉ० वचनदेव कुमार, पृ० १०१

२. वही, पृ० १०१

३. स्तु०, सूचीपत्र, पृ० २

४. यह संस्करण निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, से संवत् १८९१ में पुनः प्रकाशित हुआ है।

५. निक्षिप्तं शतसप्तकेन सहितं पादायुतार्धं मया
निर्हिंसे गुणिनि द्विजेन्द्रमुकुटे धर्मैकधाम्नीश्वरे।
प्रायेण क्लिशितस्य दीनवचसः क्ष्माक्षिप्तमूर्ध्नोऽपि मे
पादं नैकमयं प्रयच्छति, विधौ वक्रे करोम्यत्र किम्॥ स्तु०, ३९।१४

को निकाल देने से उपलब्ध ग्रन्थ की श्लोक संख्या १४२३ तथा स्तोत्र संख्या ३८ रह जायेगी। जबकि जगद्धर के पूर्वोक्त कथनानुसार ३८ स्तोत्रों के श्लोकों की संख्या १४२५ होनी चाहिए। इस प्रकार यह बात निश्चितप्राय है कि जगद्धर-लिखित श्लोकों में से २ श्लोक इस विस्तृत काल के गाल में विलीन हो गये होंगे।

उपलब्ध स्तोत्रक्रम एवं श्लोकसङ्ख्या इस प्रकार है—

स्तोत्रसंख्या	श्लोक संख्या	विषय एवं स्तोत्रनाम
१	३१	निर्गुण-सगुणस्तुति
२	३०	निर्गुण-सगुणस्तुति एवं शैवदर्शन के सिद्धान्तों का सूक्ष्म स्वरूप
३	६०	मुक्ति प्राप्ति के लिए शिवाराधना पर बल
४	८	शिवविष्णु का एक ही शरीर से (एकत्व) वर्णन
५	३६	कविकाव्यप्रशंसा स्तोत्र
६	८	हराष्टक
७	४२	सेवाभिनन्दन
८	५२	शरणाश्रयण
९	८२	कृपणाक्रन्दन
१०	९१	करुणाक्रन्दन
११	१४३	दीनाक्रन्दन
१२	३२	तमःशमन
१३	४३	प्रभु-प्रसादन
१४	२८	हित स्तोत्र
१५	४०	करुणाराधन
१६	२७	उपदेशन
१७	३०	भक्ति
१८	२५	सिद्ध
१९	३१	भगवद्वर्णन
२०	४१	हसितवर्णन
२१	२४	अर्धनारीश्वर
२२	१२	कादिपदबन्ध
२३	२७	शृंखलाबन्ध
२४	२८	द्विपदयमक
२५	२७	रुचिरंजन
२६	३५	पादादियमक
२७	३४	पादमध्ययमक
२८	२७	पादान्तयमक

स्तोत्रसंख्या	श्लोक संख्या	विषय एवं स्तोत्रनाम
२९	३६	एकान्तरयमक
३०	८१	महायमक
३१	३०	मंत्रोपदेश
३२	८	शरणागतोद्धरण
३३	४५	कर्णपूर
३४	१३	अन्य वर्णन
३५	२५	ईश्वरप्रशंसा
३६	४१	स्तुतिफलप्राप्ति
३७	२०	स्तुतिप्रशंसा
३८	३०	पुण्यपरिणाम
३९	१६	कविवंश-वर्णन

इन उनतालीस स्तोत्रों में वर्णित भगवान् सदा-शिव की दिव्य स्तुतियां कवि की नई-नई उक्तियां, विचित्र-विचित्र उपालम्भ और विलक्षण ढंग के करुणाक्रन्दन पाठकों के हृदय को आकर्षित किये बिना नहीं रहते।

स्तुतिकुसुमांजलि में जगद्धर ने छन्द, अलंकार एवं रस का न केवल उदाहरण के रूप में वर्णन किया है, परंच नाम-निर्देशपूर्वक इनके महत्त्व को भी दर्शाया है।[1] यद्यपि "चित्र काव्य" को साहित्यिकों ने विशेष महत्त्व नहीं दिया है, तथापि युगानुरूप उसे यहां अपनाया गया है। जगद्धर भट्ट का कथन है कि "इस मेरी वाणी ने प्रसन्नतापूर्वक जो इस प्रकार यमकालंकारप्रधान कविता के द्वारा भगवान् शंकर की अवसरोचित स्तुति की है, यह स्तुति अति प्रशंसनीय, यशोदायक और हमारे पापों को हरने वाली है। प्रसाद रूप में इसकी प्राप्ति उसी करुणा सागर से हुई है।"[2]

(ख) कातन्त्र-व्याकरण की बालबोधिनी वृत्ति—

व्याकरण के ग्रन्थों में "कातन्त्र-व्याकरण" का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह "कलाप" और "कौमार" नाम से भी प्रसिद्ध है। इस व्याकरण में दो भाग हैं। एक आख्यातान्त, और दूसरा कृदन्त। दोनों भाग भिन्न-भिन्न विद्वानों की रचनाएं हैं। पं० युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार "कातन्त्रीय वैयाकरणों में किंवदन्ती है कि महादेव के पुत्र कुमार (कार्तिकेय) ने सर्वप्रथम इसे मयूर की पूंछ पर लिखा था, अतएव इसका नाम "कालाप" हुआ। "कौमार" के सम्बन्ध में किंवदन्ती है कि

---

१. इस विषय का विवरण आगे "काव्यपक्ष" विचारणा में किया जायेगा।

२. देवं यदेवं यमकैर्महेशं तुष्टाव तुष्टावसरोचितं गीः
शस्यो यशस्योऽयमुपस्थितोऽस्मादेनोभिदे नोऽभिमतः प्रसादः। स्तु० २६।३४

कुमार कार्तिकेय की आज्ञा से शर्ववर्मा ने इस शास्त्र की रचना की। हमारा विचार है—कुमारों (बालकों) को व्याकरण का साधारण ज्ञान कराने के लिए आरम्भ में यह ग्रंथ पढ़ाया जाता था। अतएव इसका नाम "कुमाराणामिदं कौमारम्" हुआ।"[१] मीमांसक जी ने इस ग्रंथ के "आख्यातान्त भाग" का कर्ता "शर्ववर्मा" को तथा कृदन्त भाग का कर्ता "कात्यायन" को माना है।"[२]

कातन्त्र पर सब मिलाकर कुल कितनी वृत्तियां लिखी गयी होंगी, इसका इदमित्थं रूप में समाधान कठिन है। उपलब्ध सामग्री के आधार पर युधिष्ठिर मीमांसक ने कातन्त्र के सात वृत्तिकर्ताओं का उल्लेख किया है।[३] इनमें शर्ववर्मा को प्रथम तथा पुण्डरीकाक्ष विद्यासागर को अन्तिम वृत्तिकार माना है। इन वृत्तिकारों की वृत्तियों पर भी विद्वानों ने टीकाएं लिखी हैं। यथा—त्रिलोचन दास ने दुर्ग-वृत्ति पर "कातन्त्रपंजिका" नामक विस्तृत व्याख्या लिखी है।

इसी परम्परा को समृद्ध करने वालों में हमारे विवेच्य "जगद्धर भट्ट" भी अन्यतम हैं। जगद्धर ने "कातन्त्र" पर "बालबोधिनी वृत्ति" लिखी है। इस वृत्ति के लिखने का एकमात्र उद्देश्य अपते पुत्र यशोधर को व्याकरण पढ़ाना है। इस वृत्ति में भी जगद्धर का प्रखर वैदुष्य प्रकट हुआ प्रतीत होता है। इसका उदाहरण राजानक शितिकण्ठ द्वारा लिखित "बालबोधिनी" की "न्यास" नाम की टीका है। टीका पर टीका अथवा टिप्पणी लिखना भी प्राचीन परंपरा रही है। परन्तु यह किसी विशेष विद्वान् की टीका पर ही चरितार्थ होती है। अतः यह सिद्ध है कि जगद्धर द्वारा लिखित कातन्त्र व्याकरण की बालबोधिनी वृत्ति विषय-गाम्भीर्य के कारण विद्वानों में समादरणीय रही है।

६. स्तुतिकुसुमांजलि के टीकाकार

जगद्धर भट्ट का प्रखर पाण्डित्य, उच्चकोटि का दार्शनिक ज्ञान तथा दार्शनिक एवं साहित्यिक भावों का प्रौढ एवं प्रांजल भाषा में सरल और सरस ढंग से प्रकटीकरण, भक्तिप्रवण हृदय के मनोरम भाव किस सहृदय के हृदय को आकर्षित नहीं करते? ऐसे उद्भट विद्वानों द्वारा लिखित ग्रंथों पर टीका करना वैदुष्य का परिचायक है। यद्यपि स्तोत्र-ग्रथों पर टीका लिखने का प्रचलन कम ही रहा है, तथापि स्तुतिकुसुमांजलि पर यह बात पूर्ण रूप से नहीं घटती। क्योंकि इस ग्रंथ पर संस्कृत एवं हिन्दी में टीकाएं लिखी गई हैं। इनमें उपलब्ध राजानक रत्नकण्ठ द्वारा लिखित "लघुपंचिका" नामक संस्कृत टीका प्राचीन है। यह १७३८ विक्रम सं० में लिखी

१. व्याकरणशास्त्र का इतिहास, पृ० ५०२
२. वही, पृ० ५११
३. वही, पृ० ५१२

गयी थी ।[१] स्तुतिकुसुमांजलि के रचना-काल से टीकाकार राजानक रत्नकण्ठ के समय तक, लगभग चार सौ वर्षों के मध्य अनेक टीकाएं लिखी गयी हैं । आज वे अनुपलब्ध हैं । इन टीकाओं का ज्ञान भी रत्नकण्ठ की संस्कृत टीका से ही होता है । स्तुति-कुसुमांजलि के दूसरे स्तोत्र के बीसवें श्लोक की व्याख्या करते हुए रत्नकण्ठ ने लिखा है—

'यत्तु अन्यटीकाकारैः "कमलाख्यं कुवलयम्" इति व्याख्यातम्, तत्प्रमादेन लिखितमिति तज्ज्ञैरनादरणीयम् ।'

रत्नकण्ठ के इस कथन से एक बात स्पष्ट है कि रत्नकण्ठ की संस्कृत टीका से पूर्व अनेक टीकाएं स्तुतिकुसुमांजलि पर लिखी जा चुकी थीं । इसके मान लेने में यह भी हेतु है कि स्तुतिकुसुमांजलि की पुस्तकें भारत के अनेक स्थानों पर पहुंच चुकी थीं । यह पुस्तक विकृत रूप में आज भी अनेक स्थानों में उपलब्ध है ।[२] मूलमात्र शुद्ध एक प्राचीन ग्रंथ जयपुर में राजगुरु भट्ट लक्ष्मीदत्त के पुत्र भट्ट श्रीदत्त के संग्रह में है । एक सटीक शुद्ध प्रतिलिपि, जिसमें २४८ पत्र हैं, काश्मीर के महाराजा के आश्रित विश्वेश्वर शर्मा के यहां है । उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों का उल्लेख संस्कृत टीका के सम्पादक पण्डित दुर्गाप्रसाद और काशिनाथ शर्मा ने स्तुतिकुसुमांजलि की संस्कृत टीका की भूमिका में किया है ।[३]

इनके अतिरिक्त, अन्य टीकाकारों तथा ग्रन्थों के अनुपलब्ध होने पर भी बड़ी दृढता से कहा जा सकता है कि स्तुतिकुसुमांजलि की अनेक टीकाएँ थीं । रत्नकण्ठ ने ऊपर "टीकाकारैः" पद का प्रयोग कर अनेक टीकाकार होने का संकेत किया है ।

स्तुतिकुसुमांजति के एक स्थल[४] पर टीका में रत्नकण्ठ ने "खण्डः परशुरस्य जामदग्न्येन सह कुठारविनिमयात्" इति जिनेन्द्रकृतटीकायाम्" लिखा है । यहाँ "जिनेन्द्र" नामक संस्कृत टीकाकार का स्पष्ट उल्लेख किया है । इस प्रकार की टीकाओं के नाम-मात्र शेष हैं । आज केवल एक संस्कृत टीका तथा एक हिन्दी टीका दो ही शुद्ध रूप से उपलब्ध हैं ।

(क) लघुपंचिका

स्तुतिकुसुमांजलि पर राजानक रत्नकण्ठ की "लघुपंचिका" नामक संस्कृत टीका निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, से "काव्यमाला" के अन्तर्गत १९९१ वि० में प्रकाशित

---

१. स्तु०, सं० टीका, भूमिका
२. शारदालिपि में लिखित केवल नब्बे (९०) भोजपत्रों पर स्तुतिकुसुमांजलि का एक विकृत हस्तलिखित ग्रन्थ विश्वेश्वरानन्द पुस्तकालय, पंजाब विश्वविद्यालय, होशिआरपुर, में रखा है
३. स्तु० सं० टीका, भूमिका, पृ० ३
४. स्तु० संस्कृत टीका, १५।३७

हुई है। इसका सम्पादन पण्डित दुर्गाप्रसाद तथा काशीनाथ शर्मा ने संयुक्त रूप से किया है।

रत्नकण्ठ औरंगजेब के समय में विद्यमान था। उसने विक्रम संवत् १७३८ में 'स्तुतिकुसुमांजलि' की यह टीका लिखी थी। ग्रन्थ के आरम्भ में टीकाकार ने अपने सम्बन्ध में कहा है—

"जब औरंगजेब समस्त पृथ्वी का शासन करता था, उस समय १७३८ विक्रम संवत् में मैंने बालकों को सरलता से अर्थबोध कराने के लिए तथा विद्वानों को प्रसन्न करने के लिए, जगद्धर कवि के काव्य पर यह 'लघुपंचिका' नामक संस्कृत टीका लिखी है।"[1] टीकाकार ने पुनः लिखा है : "मैं काश्मीर प्रदेश का निवासी, धौम्यायन कुल में जन्म लेने वाला विद्वान् हूं। भगवान् शंकर के चरणारविन्द के भावनारूपी रस में निमज्जित जगद्धर कवि के काव्य की व्याख्या करता हूं।"[2]

प्रत्येक स्तोत्र की संस्कृत टीका की समाप्ति पर रत्नकण्ठ ने अपना संक्षिप्त परिचय दिया है।[3]

संस्कृत टीका में रत्नकण्ठ का प्रखर पाण्डित्य तथा विवेचन-प्रधान गम्भीर चिन्तन पदे-पदे दृष्टिगोचर होता है। इस टीका के विशेष अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि टीकाकार दर्शनशास्त्र, व्याकरण एवं साहित्य का मर्मज्ञ विद्वान् है। व्याख्या के संदर्भ में जहाँ अलंकार, ध्वनि आदि का निर्देश किया है, वहीं क्लिष्ट पदों में समास आदि का स्पष्टीकरण भी किया है। जगद्धर द्वारा प्रयुक्त गम्भीर दार्शनिक शब्दों एवं मान्यताओं का सुन्दर विवेचन किया है।

विशेषतः कश्मीर में प्रचलित शब्दों की उचित व्याख्या करना रत्नकण्ठ का ही कार्य है। इस प्रकार से 'लघुपंचिका' नामक यह संस्कृत टीका जगद्धर जैसे प्रौढ विद्वान् के गम्भीर चिन्तन एवं क्लिष्ट पदावली को सुस्पष्ट करने में पूर्णतः सक्षम है।

---

१. वस्वग्न्यत्यष्टिभिवर्षैर्मिते विक्रमभूपतेः।
अवरंगमहीपाले कृत्स्नां शासति मेदिनीम्॥
बालानां सुखबोधाय हर्षाय विदुषां कृता।
जगद्धरकवेः काव्ये तेनैषा लघुपंचिका॥ स्तु०, संस्कृत टीका, पृ० १

२. द्विनभोष्टिमिते शाके धौम्यायनकुलोद्भवः।
कश्मीरदेशवास्तव्यो रत्नकण्ठाभिधः सुधीः॥
महेशचरणाम्भोजभावनारसभाविते।
जगद्धरकवेः काव्ये करोति लघुपंचिकाम्॥ स्तु०, सं० टीका, मंगलाचरण

३. श्रीशारदाचरणसरोजरजःकणपवित्रस्थलवास्तव्यविपश्चिद्वरराजानकशंकरकण्ठात्मजराजानकरत्नकण्ठविरचितया स्तुतिकुसुमांजलिलघुपंचिकया समेते काश्मीरकमहाकविश्रीजगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुतिकुसुमांजलौ स्तुतिप्रस्तावनाख्यं प्रथमं स्तोत्रम्। स्तु० संस्कृत टीका, पृ० १३

(ख) प्रेममकरन्द

स्तुतिकुसुमांजलि पर 'प्रेममकरन्द' नामक भाषानुवाद उपलब्ध है। टीकाकार धर्मशास्त्राचार्य पण्डित श्री प्रेमवल्लभ त्रिपाठी संस्कृत तथा हिन्दी के महान् विद्वान् हैं। इस भाषानुवाद का लेखन वि० स० १९९५ में हुआ है। प्रकाशन पण्डित श्री केशवदत्त त्रिपाठी, गंगातरंग, नगवा, काशी, के द्वारा हुआ है।

भाषानुवाद का 'प्राक्कथन' किसने लिखा है, यह अस्पष्ट है। प्राक्कथन के लेखक का नाम न तो अनुवादक ने ही दिया है और न ही लेखक ने। प्राक्कथन के अन्त में 'कश्चिद्भिक्षुः' लिखा है।

बारह पृष्ठ का प्राक्कथन लेखक के स्तुतिकुसुमांजलि-विषयक व्यापक ज्ञान का परिचायक है। अनुवादक ने स्तुतिकुसुमांजलि के आरम्भ में पांच श्लोक लिखे हैं। आरम्भ के दो श्लोकों में अपने गुरु के प्रति श्रद्धा व्यक्त की है।[1] इस पद्य में लिखित हरिहरानन्द[2] नाम स्वामी करपात्री जी महाराज का है। स्वामी करपात्री जी अपने को भिक्षु भी लिखते हैं। अतः प्राक्कथन भी सम्भवतः स्वामी करपात्री जी ने ही लिखा है।

स्तुतिकुसुमांजलि के भाषानुवादक प्रेमवल्लभ ने अपने सम्बन्ध में किसी प्रकार का विशेष उल्लेख नहीं किया है। ये काशी में रहते थे तथा संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे, इस बात की पुष्टि 'स्तुतिकुसुमांजलि' के आरम्भ में लिखित पांच श्लोकों से होती है। प्रेमवल्लभ का भाषानुवाद पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि इन्होंने राजानक रत्नकण्ठ की संस्कृत टीका से पर्याप्त सहायता ली है। इनकी एक विशेषता अवश्य है, संस्कृत टीकाकार ने श्लोक के साथ उसका अन्वय नहीं दिया है, प्रेमवल्लभ ने भाषानुवाद में श्लोक के साथ उसका अन्वय भी दिया है। विशेष विषय एवं पदों का भाव स्पष्ट करने के लिए अनेक स्थलों पर टिप्पण भी दिये हैं। इस प्रकार संस्कृतभाषा के क्लिष्ट पदों तथा भावों को स्पष्ट करने में अनुवादक पूर्णरूपेण सफल रहा है। प्रेमवल्लभ ने जगद्धर की श्लेषमयी, अनुप्रास-प्रधान, दार्शनिक एवं साहित्यिक भाषा को सरल प्रकार से हिन्दी में प्रस्तुत किया है। यह एक महती उपलब्धि है। प्रेमवल्लभ ने यथास्थान विशेष विवरण में अलंकार आदि का निर्देश कर इस ग्रन्थ के गौरव को बढ़ाया है। इस भाषानुवाद के सम्बन्ध में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने निम्नलिखित भाव व्यक्त किये हैं[3]—

"महाराज, आपने बड़ा काम किया। संस्कृत और हिन्दी दोनों टीकाएं परमोत्तम हैं। कवि के भाव को आपने बड़े सुन्दर शब्दों में व्यक्त कर दिया है। ये

---

१. दीनोद्धारपरायणो विजयते कारुण्यपूर्णो गुरुः। स्तु०, हि० टी० मंगलाचरण

२. सोऽव्यान्मां भवभीतितो हरिहरानन्दाऽभिधः सद्गुरुः। वही २

३. द्रष्टव्य— स्तु०, हिन्दी टीका, प्रथम पृष्ठ, द्विवेदी जी का पत्र

शब्द इस बात की भी पुष्टि करते हैं कि स्तुतिकुसुमांजलि की ही दो टीकाएं व्यवस्थित रूप में उपलब्ध हैं, जो 'लघुपंचिका' तथा 'भाषानुवाद' के नाम से हैं।

(ग) जगद्धर का व्यापक ज्ञान

जगद्धर भट्ट की प्रस्तुत रचना के आधार पर यह प्रमाणित होता है कि ये संस्कृत के प्रौढ कवि एवं विविध-शास्त्र-पारंगत विद्वान् थे। इन्होंने वेद आदि अनेक शास्त्रों के भावों को अपनी कोमलकान्त पदावली के माध्यम से भक्तजनमानस पर अंकित करने का सफल प्रयास किया है। जगद्धर के स्तुति पद्यों को पढ़कर, उन्हें 'पण्डित कवि' कहना अधिक उपयुक्त है। भामह का यह कथन कि "संसार में कौन ऐसा पदार्थ है, जो कवि के काव्य का वर्ण्य विषय नहीं बनता।"[1] स्तुतिकुसुमांजलि पर अक्षरश: चरितार्थ होता है।

संस्कृत भाषा पर जगद्धर का विशेष अधिकार है। गूढातिगूढ भावों की अभिव्यक्ति करने के लिये सरस पदों की पंक्तियां अहमहमिकया तत्काल उत्पस्थित हो जाती हैं। इनके सालंकृत, सरस एवं भावप्रवण प्रयोग सहृदय के हृदय को बलात् आकर्षित कर लेते हैं। जगद्धर ने जिस स्तोत्र-शैली में अपने गूढ़ भावों को अभिव्यक्त किया है, वह उनका एक अनुपम प्रयास है। जगद्धर बहुमुखी प्रतिभा के स्वामी थे। इस प्रतिभा का उपयोग जिस दिशा में भी हुआ, वही दिशा कवित्व के अद्भुत आलोक से प्रतिभासित हो उठी। कवि को अपने कवित्व एवं पाण्डित्य पर पूर्ण आत्म-विश्वास है। कवि का कथन है कि निराश विद्वानों को मेरी कविता से आशामयी प्रेरणा मिलेगी।[2]

आगे के पृष्ठों पर कवि के नानाविध पाण्डित्य का सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत है—

वेदज्ञान—वेद के साथ जगद्धर का सम्बन्ध बाल्यकाल से रहा है। इनके पिता 'गौरधर' ने यजुर्वेद पर 'वेदविलास' नामक भाष्य लिखा था। अत: इन संस्कारों से प्रभावित जगद्धर के स्तोत्रकाव्य में अनेक स्थलों पर वैदिक प्रभाव लक्षित होता है। निम्नलिखित उद्धरणों से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है—

"मयस्कर"—कवि कहता है, यदि मनुष्य जन्म-मरण प्रवाह-रूप संसार-सागर को पार करना चाहता है, तो शीघ्र ही ईश्वर के मयस्कर (परमकल्याणकारक) आराधन का आश्रय ले।[3] 'मयस्कर' पद वैदिक है। वेदों में 'मयस्कर' पद का प्रयोग

---

१. न स शब्दो न तद् वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्यांगमहो भारो महान् कवे: ॥ काव्यालंकार ५।४

२. इयं मधुश्रीरिव केलिकाननं सरोवरं प्रावृडिवातपक्षतम्।
स्तवावली काव्यकुतूहलं सतामकालजीर्णं तरुणीकरिष्यति॥ स्तु० ३८।३९

३. यदि तितीर्षसि संसृतिसागरं श्रय मयस्करमीश्वर-सेवनम्। स्तु० १०।४६

अनेक स्थलों पर उपलब्ध है।[1] जैसे कि रुद्र-सूक्त में कहा है—"**नमः शंकराय च मयस्कराय च**"। यद्यपि लौकिक संस्कृत में ऐसे शब्दों को अप्रयुक्त दोष माना गया है। यहाँ शिवभक्ति-विषयक होने से न केवल दोषमुक्त ही है, अपितु कवि के वैदिक ज्ञान का परिचायक है।

इतना ही नहीं, कवि के कुछ पद्यों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है, मानो वे वेद-मंत्र ही हों—"**सहस्रशीर्षा पुरुषः पुनातु वः सहस्रचक्षुर्भगवान् सहस्रपात्** (स्तु० ३८।१)। स्पष्टतः इस श्लोक की पृष्ठभूमि वेद के पुरुषसूक्त का यह मंत्र है—**सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्** (ऋग्वेद, १०।९०।१)।

"**तितउ**'—स्तुतिकुसुमांजलि के ग्यारहवें स्तोत्र में कवि कहता है कि जसे चलनी सार वस्तु को छोड़कर केवल असार वस्तु को ही ग्रहण करती है, वैसे ही मेरे चित्त ने आपका ध्यान करते हुए आप सर्वगुणनिधान प्रभु से केवल असारता को ही ग्रहण किया।"[2] यहां 'चलनी' अर्थ में प्रयुक्त 'तितउ' पद ऋग्वेद[3] में भी 'चलनी' अर्थ में ही प्रयुक्त है। यह पद निरुक्तकार का भी विवेच्य रहा है।[4]

इस प्रकार के विशिष्ट वैदिक पदों का प्रयोग कवि के वैदिक ज्ञान का परिचायक है।

"**दूढ्य**"—राजानक रत्नकण्ठ ने इस पद की संस्कृत टीका (११।१०५) मे काश्मीर की भाषा के विशेष अर्थ (डोड) का वाचक लिखा है। यह पद वैदिक मंत्रों में अनेक स्थलों पर प्रयुक्त है।[5] ऋग्वेद (मंत्र १।९४।८) के भाष्य में सायण ने कहा है—**दूढ्यः दुर्धियः, पापबुद्धीन्, अस्मदनिष्टाचरणपरान् शत्रून्।**

जगद्धर को स्वयं वेद के प्रति बड़ी आस्था है। वह स्वयं अपनी कविता को समता वेद से करता हुआ कहता है : "**त्वद्भक्तान् ये श्रुतिमिव नुतिं तावकीं शिक्षयन्ति** (३६।४१)।" यहाँ स्तुति को श्रुति के समान कहा है। इसी प्रकार का अन्य स्थल (३०।७७) भी है, जहां वैदिक पद का प्रयोग अथवा वैदिक मंत्र के भाव का उल्लेख कर कवि ने अपनी वैदिक निष्ठा तथा वैदिक पाण्डित्य का परिचय दिया है। उपर्युक्त वैदिक पदों के प्रयोग से यह भी सिद्ध होता है कि कवि का वैदिक मंत्रों से घनिष्ठ

---

१. यजुर्वेद-माध्यन्दिन संहिता, १६।४१; काठकसंहिता, १७।६,१५; तैत्तिरीयसंहिता, ४।५।८।१; मैत्रायणी संहिता, २।९।७; कठसंहिता, २७।५।

२. त्वत्तोऽपि मे तितउ-कल्पमवाप चेतः। स्तु०, ११।८१

३. सक्तुमिव तितउना पुनन्तो। ऋग्वेद १०।७१।१

४. निरुक्त, ४९

५. ऋग्वेद—१।९४।८, १०५।६, ३।१६।२, ७।८२।१०, ८।१९।१५, तै० २।५।१२।३, ६।११।२, मै० ४।११।६, १२।४, काठ० ७।१७, ३९।१५, वैदिकपदानुक्रम कोश, भाग-४।

सम्बन्ध रहा है। अतएव अभ्यासवशात् वैदिक पद यथा-प्रसंग स्वयमेव उपस्थित होकर अपने सम्बन्ध की अभिव्यक्त करते हैं।

उपनिषद्-ज्ञान

निर्गुण-निराकार का प्रतिपादक होने के कारण उपनिषद् का सगुण-साकार की स्तुति में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। उपनिषद्विद्या के दृढ़ संस्कारों से संस्कृत कवि जब सगुण की स्तुति करता है, उस समय अभ्यासवशात् निर्गुण के वे विशेषण सगुण में भी प्रतिबिम्बित होते प्रतीत होते हैं, जिनके कारण प्रसंगवश कवि उन शब्दों एवं सिद्धान्तों का उल्लेख कर देता है। शिव की स्तुति करते हुए भक्त कवि कहता है—

यस्मिन्निदं जगदुदेति च लीयते च, तच्छाम्भवं भवतु वैभवमृद्धये वः (स्तु० ३।२)। अर्थात् जिस शिव में यह जगत् उत्पन्न होता है, और शिव में विलीन होता है, वह शिव हमारा कल्याण करें। ये भाव एवं शब्द उपनिषद् के नीचे दिये गये वाक्य का अनुसरण करते हैं—"**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, यतो जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ।**[1]

उपनिषदों के सिद्धान्तों एवं भावों से मिलते हुए अन्य स्थल भी स्तुतिकुसुमांजलि में इस प्रकार हैं—

कवि कहता है—जहाँ सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि भी कुछ नहीं कर सकते, हृदय के उस अज्ञान-रूप अन्धकार को आपकी कृपा ही दूर करती है, ऐसे ज्योतिस्वरूप शिव की हम उपासना करते हैं।[2]

उपर्युक्त भावों को प्रकारान्तर से श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है—न वहां सूर्य का प्रकाश कार्य करता है, न चन्द्रतारक तथा न विद्युत् का प्रकाश ही अपना प्रभाव दिखलाता है। परमात्मा के प्रकाश से ही यह समस्त जगत् प्रकाशित है।[3]

जगद्धर का कथन है कि चराचरात्मक जगत् में एक परमात्मा ही अनेक रूपों में विद्यमान है।[4] इन्हीं भावों को उपनिषद् में कहा है—वह एक ही देव सब प्राणियों में छिपा हुआ है।[5]

---

१. तैतिरीयोपनिषद् ३।१।

२. भानुना तुहिन भानुना बृहद्भानुना च विनिर्वर्तितं न यत्।
येन तज्झगिति शान्तिमान्तरं ध्वान्तमेति तदुपास्महे महः॥ स्तु० १।७

३. न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारका नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।१४

४. एकमेव चिदचित्स्वनेकधा। स्तु० १।८

५. एको देवः सर्वभूतेषु गूढः। श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।११

श्री मद्भगवद्गीता

जगद्धर की स्तुति में भगवद्गीता का एक भाव प्रत्यक्ष रूप से प्रतिबिम्बित हो रहा है। गीता का कथन है कि जो उत्पन्न होता है, वह समाप्त भी होता है, जिसका जन्म है उसकी मृत्यु भी निश्चित है।[1] जगद्धर ने गीता के इस भाव को निम्नलिखित रूप से प्रकट किया है—**जातस्य मृत्युरिति चेत् स न लंघितः किम्** (८।५५)।

वेदान्त दर्शन—

स्तुतिकुसुमांजलिकार वेदान्त-दर्शन का मर्मज्ञ विद्वान् था। उसने अपने स्तुति-काव्य में वेदान्त के प्रमुख विषय "विवर्तवाद" का केवल विषय-प्रतिपादन ही नहीं किया, अपितु विवर्त के सिद्धान्त का सोदाहरण उल्लेख करते हुऐ, "विवर्त" पद का भी स्पष्ट प्रयोग किया गया है। कवि का कथन है कि ब्रह्म सर्वव्यापक है। शिव का महान् एश्वर्य दिशा, देश, काल और आकार के द्वारा परिच्छिन्न नहीं हो सकता। शिव ही सर्व-विध सृष्टि का मूल कारण है। जैसे सूक्ष्म से सूक्ष्म बीज से महान् वृक्ष की उत्पत्ति होती है, वैसे ही जिस परम कारण ब्रह्म से यह चराचर जगत् उत्पन्न होता है। यह समस्त विश्व उसी का "विवर्त" है। जिस प्रकार कटक, कुण्डल आदि आभूषण स्वर्ण से उत्पन्न होते हैं, और गला देने के बाद सब पुनः स्वर्णरूप ही हो जाते हैं। यह समस्त जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है, और प्रलयकाल में ब्रह्म में ही विलीन हो जाता है। अत: यह वस्तुजात ब्रह्म का विवर्त है।[2]

कवि ने यहां "विवर्त" पद के साथ "ब्रह्म" पद का प्रयोग किया है, शिव आदि पद का नहीं। क्योंकि "विवर्त" तथा "ब्रह्म" ये दोनों ही वेदान्त-दर्शन के पारिभाषिक शब्द हैं।

"बिवर्त" वेदान्त का मुख्य सिद्धान्त है। जब कोई वस्तु अपने स्वरूप का परित्याग किए बिना ही दूसरे रूप में भासित होने लगती है, उसे 'विवर्त' कहते हैं।

जैसे रज्जु के विवर्त सर्प की रज्जु से पृथक् अपनी कोई सत्ता नहीं होती, उसी प्रकार ब्रह्म का विवर्त होने से जगत् की ब्रह्म से पृथक् कोई सत्ता नहीं है, ब्रह्म रूप से ही सत्ता है। अर्थात् रज्जु में अज्ञान से भासने वाला सर्प ज्ञान होने पर रज्जु में ही विलीन हो जायेगा।

उसी प्रकार यह समस्त वस्तुजात ब्रह्म में ही था, और अन्त में ब्रह्म में ही विलीन होगा। मध्य में जो कुछ भास रहा है, यह सब अज्ञान-जनित है। यह वेदान्त

---

१. जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः । श्रीमद्भगवद्गीता २।२७

२. दिग्देशाकारकालैरकलितविभवं यन्महद् बीजभूतं,
भूतग्रामस्य यस्य त्रिभुवनविषयं वस्तुजातं विवर्तः।
यस्मिन्हेम्नीव नानाभरणपरिकरो लीयते विश्वमन्ते
तद् भिन्नेष्वप्यभिन्नं भव भवसि परं ब्रह्म तस्मै नमस्ते ॥ स्तु० ३३।४४

३. अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहृतः। वेदान्तसार, खण्ड-४७

दर्शन की मुख्य मान्यता है, जिसका उपर्युक्त पद्य में जगद्धर ने स्पष्ट उल्लेख किया है।

सांख्य-दर्शन

जगद्धर विद्वानों की बुद्धि एवं वाणी को महिमा के प्रसंग में अनायास ही बुद्धि के वैशिष्ट्य को इस प्रकार से कहता है कि उससे सांख्य मत में प्रतिपादित बुद्धि का लक्षण घटता है तथा सांख्य-शास्त्रीय प्रक्रिया की अनुभूति होती है। कवि कहता है—

याता गुणैरुपचयं विमला प्रकृत्या, नैसर्गिकीं परिणतिं प्रथमां वहन्ती।
बुद्धिः सतां शशिकलामुकुटप्रसादाद्वाणी च न क्वचिदपि प्रतिघातमेति ॥[1]

उपर्युक्त पद्य में बुद्धि को "गुणैः उपचयम् याता" कहा गया है, तथा "प्रकृत्या विमला", इसका विशेषण दिया है। इस सन्दर्भ में टीकाकार रत्नकण्ठ ने भी लिखा है—सांख्य मत में बुद्धि सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों से परिपूर्णता को प्राप्त होती है। तीनों गुणों की जो आदि अवस्था प्रकृति है, उसी का स्वाभाविक प्रथम परिणाम "बुद्धि तत्त्व" कहा जाता है।[2]

ज्योतिष-शास्त्र

ज्योतिष-शास्त्र में खगोल का ज्ञान है, जिसमें ग्रह, नक्षत्र आदि का पूर्ण परिचय मिलता है। कौन पापग्रह है, किस नक्षत्र का कैसा प्रभाव है आदि। जगद्धर ने भी प्रसंगवश अपने ज्योतिष-ज्ञान का परिचय दिया है।

ग्रह—ज्योतिषशास्त्र में ग्रहों का मुख्य स्थान है। ग्रहचाल के आधार पर ही काल का निर्णय होता है। जगद्धर ने स्तुति-प्रसंग में राहु और केतु को छोड़ कर सात ग्रहों का उल्लेख एक ही स्थान पर किया है। स्तुतिकुसुमांजलि के तृतीय स्तोत्र में कवि ने कहा है—"जिस भगवान् शंकर को सूर्य आदि सप्त ग्रह मन्दार एवं कुमुद के पुष्पों से पूजते हैं।"[3]

यहां पर कवि ने ग्रह-गणना का वही क्रम रखा है, जो ज्योतिष-शास्त्र में प्रचलित है। जैसे ग्रह-गणना का आरम्भ सूर्य से होता है, वैसे ही जगद्धर ने भी सूर्य से आरम्भ किया है।

---

१. स्तु० ५।१२
२. प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणः षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥—सांख्यकारिका २२
३. अर्केन्दुभौमबुधवाक्पतिकाव्यमन्दा
मन्दारकुन्दकुमुदैर्यमुदर्चयन्ति ॥ स्तु० ३।४६

ग्यारहवें स्तोत्र में पापग्रह का उल्लेख किया है ।[1] ज्योतिष में "सूर्य" को पापग्रह माना है । इसी स्तोत्र में पुनः कहा है कि सूर्य आदि सभी नवग्रह मेषादि बारह राशियों का समान रूप से भोग करते हैं। उनमें से केवल सूर्य और चन्द्रमा को ही अपने नेत्रमार्ग का आश्रय दिया है, मंगल आदि ग्रहों को क्यों त्याग दिया ?[2] इस प्रकार स्तुति के प्रसंग में ग्रहों का विशेष उल्लेख ज्योतिर्ज्ञान का परिचायक है ।

नक्षत्र—ज्योतिष में नक्षत्रों का महत्त्वपूर्ण स्थान है । इनकी कुल संख्या २८ है । जगद्धर ने स्तुति-प्रसंग में ग्यारह नक्षत्रों का उल्लेख किया है ।[3] वर्तमान सन्दर्भ में केवल इतना ही अभिप्राय है, कि जगद्धर को ज्योतिष शास्त्र की मान्यताओं का ज्ञान था ।

आयुर्वेद

कविवर जगद्धर ने उन्नीसवें स्तोत्र में अमृत की वर्तिका का उल्लेख किया है । वर्तिका की समता रसायन की बत्ती से करता हुआ कवि कहता है—

"हे शिव, आप की मूर्ति अमृतवर्तिका के समान है, जिसका सेवन करने से अश्रुकण गिरते हैं, मोहरूपी अंधकार दूर होता है, राग शान्त होता है तथा नेत्रों में प्रसाद (ज्ञान की कृपा) प्रकट होता है ।"[4]

शार्ङ्गधर संहिता में नेत्ररोग के उपशमनार्थ अनेक प्रकार की वर्तिकाओं का उल्लेख किया है । इनमें से 'चन्द्रोदया वर्ति' के बनाने की विधि तथा सामग्री का उल्लेख करते हुए इस वर्तिका की महिमा में कहा गया है, 'मसूर के बीज के बराबर पानी में इस गोली को घिस कर आंख में लगावें तो तिमिर, मांसवृद्धि, कांचबिन्दु, नेत्रपटलगत

---

१. पापग्रहो धृतिमुपैति विना परेषाम् ।। स्तु० ११।४४

२. हेयोऽस्म्यसेवकतया तव चेद् ग्रहेषु
कुर्वत्सु तुल्यमखिलेष्वपि राशिभोगम् ।
द्वावुज्झतस्तव न दृक्पथमर्कचन्द्रा-
वेतावता परिहृता भवता किमन्ये ।। स्तु० ११।६३

३. श्रीकण्ठस्य सकृत्तिकार्तभरणी मूर्तिः सदारोहिणी
ज्येष्ठा-भद्रपदा-पुनर्वसुयुता-चित्रा विशाखान्विता ।
दिश्यादक्षतहस्तमूलघटिताषाढामघालंकृता
श्रेयो वैश्रवणाश्रिता भगवतो नक्षत्रपालीव वः ।। स्तु० ३।५३

४. मूर्तिध्रुवं तव शिवामृतवर्त्तिरेनामासाद्य यत्कतिचिदश्रुलवाः पतन्ति ।
नश्यत्यघौघपटलं तिमिरं व्यपैति रागः प्रशाम्यति दृशः प्रथते प्रसादः ।।
स्तु० १९।३

कोई भी रोग, अर्बुद, रतोंधी तथा एक वर्ष की पुरानी फूली दूर हो जाती है। इसे लोग चन्द्रोदया वर्त्ती कहते हैं।[1]

आगे लिखा है, 'कंजे के बीज को पीसकर ढाक के फूल के रस में कई बार भावना देकर के खरल करें और वत्ती के समान लम्बी किन्तु छोटी गोलियां बना लें। इस वत्ती को नेत्र में लगाने से नेत्र के फूली आदि रोग उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जैसे किसी औजार से काटे गए हों।'[2]

ग्यारहवें स्तोत्र में श्लेष के द्वारा 'अपस्मार' रोग एवं उसकी चिकित्सा पर प्रकाश डाला है।[3]

इससे सिद्ध होता है कि जगद्धर ने आयुर्वेद के सिद्धान्तों का पठन एवं श्रवण अवश्य किया हैं। अतएव स्तुतिप्रसंग में भी उन्होंने रोग, निदान तथा औषध का उल्लेख किया है।

निष्कर्ष

शोधप्रबन्ध की पृष्ठभूमि के रूप में इस अध्याय में जगद्धर के जीवन से संबंधित प्रमुख बिंदुओं पर विचार किया गया है। शोध की दिशा में नवीन गवेषणात्मक सम्बद्ध तथ्यों के आधार पर यहां युक्तिपूर्ण निष्कर्ष दिए गए हैं। इस प्रसंग में निम्न-लिखित निष्कर्ष विशेष महत्त्व के हैं—

जगद्धर की जन्मतिथि के सम्बन्ध में अनेक मत हैं, जिनमें ११०० ई० से १५०० ई० तक जगद्धर की जन्मतिथि मानी गयी है। इनमें १३५० ई० वाला मत अधिक समीचीन एवं बहुमत-सम्मत है।

कवि के जन्मस्थान के सम्ब्रन्ध में कोई विवाद नहीं है। सभी समालोचकों ने इन्हें काश्मीरप्रदेशान्तर्गत पद्मपुर का निवासी माना है। इनकी माता के नाम का कहीं उल्लेख नहीं है। पिता 'रत्नधर' के नाम से प्रसिद्ध विद्वान् थे। इनका घर लक्ष्मी एवं सरस्वती दोनों का विहार-स्थल रहा है। जगद्धर जाति से ब्राह्मण थे।

इनकी रचनाओं के सम्बन्ध में विद्वानों में वैमत्य है। इस शोध-प्रबन्ध

---

१. तिमिरं मांसवृद्धिश्च काचं पटलमर्बुदम् ।
रात्र्यन्धं वार्षिकं पुष्पं वर्तिश्चन्द्रोदया जयेत् ॥
शार्ङ्गधरसंहिता, उत्तरखण्ड, सूत्रस्थान, १३।७७

२. पलाशपुष्पस्वरसैर्बहुशः परिभाविता ।
करंजबीजवर्तिस्तु शुक्रादीन् शस्त्रवल्लिखेत् ॥ वही १३।७८

३. व्यक्तिर्न यस्य न गतिर्न मतिर्न शक्तिर्नापि स्मृतिर्विपदपस्मृतिपीडितस्य ।
तस्योपधीशमुकुटं त्रिजगद्गुरुं त्वां मुक्त्वा करिष्यति परो मम कश्चिकित्साम् ॥
स्तु० ११।९२

में पूर्ण ऊहापोह करके यह निष्कर्ष निकाला गया है कि जगद्धर ने केवल दो ही ग्रन्थों की रचना की है, 'स्तुतिकुसुमांजलि तथा 'कातन्त्र-व्याकरण' पर 'बालबोधिनी-वृत्ति'।'

भक्ति की दृष्टि से 'स्तुतिकुसुमांजलि' जगद्धर की अद्‌भुत और असाधारण कृति है। इसमें कवि का प्रखर पाण्डित्य वेद, उपनिषद्, ज्योतिष तथा आयुर्वेद के शास्त्रीय ज्ञान से स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। कवि का आत्मपरिष्कार एवं आत्मतोष इस रचना के व्यक्तिगत उद्देश्य हैं। मानवमात्र का भवतापशमन इसका सामाजिक उद्देश्य है। जगद्धर संस्कृत-कविता के मर्मज्ञ विद्वान्, भाषा, भाव तथा अभिव्यक्ति के निपुण कलाकार, संस्कृत-स्तोत्र-साहित्य-गगन के जाज्वल्यमान नक्षत्र-मणि हैं।

द्वितीय अध्याय

स्तोत्रकाव्यों की परंपरा में स्तुतिकुसुमांजलि का स्थान

१. स्तोत्र एवं स्तोत्रकाव्य

इस अध्याय में स्तोत्रकाव्यों में स्तुतिकुसुमांजलि का स्थान निर्धारित करने के लिए वैदिक स्तोत्र-काव्यों से आरम्भ कर वर्तमान तक समुपलब्ध स्तोत्रकाव्यों का विवेचन करने का प्रयास किया है। एतदर्थ उन्हीं प्रमुख स्तोत्रकाव्यों को उद्धृत करना है, तो प्रकृत विषय के अनुकूल हैं।

सामान्य रूप से भाव एवं भाषा की दृष्टि से स्तोत्रों में साम्य होता ही है। जैसे प्रत्येक शिवस्तोत्र में शिव के नाम, लीला एवं ऐश्वर्य आदि गुणों का स्तवन है। अथवा नमस्कारात्मक स्तुति है।

इस दृष्टि से समीक्षा करने पर प्रायः प्रत्येक शिवस्तोत्र के कुछ न कुछ भाव स्तुतिकुसुमांजलि जैसे विशाल स्तोत्रकाव्य में उपलब्ध होते हैं। अतएव प्रकृत सन्दर्भ में जगद्धर के पूर्ववर्ती एवं परवर्ती, उन स्तोत्रकाव्यों का उल्लेख किया है, जिनके साथ स्तुतिकुसुमांजलि का अत्यन्त साम्य है।

स्तोत्र भागों में विभक्त न होते हुए एकमात्र अपने आराध्य की स्तुति करने वाला होता है, जैसे शिवमहिम्नस्तोत्र आदि। स्तोत्रकाव्य अनेक भागों में विभक्त होता है। इसमें भी अपने आराध्य का स्तवन ही मुख्य होता है, जैसे उत्पलदेव की शिवस्तोत्रावली।

(क) स्तोत्र की प्रवृत्ति का उदय

सृष्टि के इतिहास में मानव ने जब सर्वप्रथम आंखें खोलीं तो अपने चारों ओर एक अद्भुत जगत् को देखा। उसने रूपहले दिनों और छिटकती उजली चांदनी में नहाई रातों, पवन की चाल पर थिरकती वनस्पतियों एवं मस्तों में झूमते सुमनों तथा कल-कल रव से अनवरत बहती नदियों का साक्षात्कार किया और नियमित रूप से सूर्य और चन्द्र का उदय एवं अस्तमान देखा। अपनी अभिलाषाओं की सफलता एव असफलता के पीछे किसी नियति के हाथ का अनुभव हुआ। अपने सिर के ऊपर अनन्त आकाश एवं विशालकाय पर्वतों, भयावह जंगलों व रमणीय उपवनों की विषमता को प्रत्यक्ष कर उसके मन में हर्ष, भय आदि भावों का संचार हुआ। भावविभोर होकर वह किसी अलक्षित शक्ति की कल्पना करके उसके आगे नतमस्तक हुआ। उसके प्रति जो श्रद्धा के उद्गार उसके हृदय में प्रकट हुए, वे ही स्तोत्र का पूर्वरूप थे।

(ख) स्तोत्र का तात्पर्य एवं परिभाषा

स्तोत्र ऐसी काव्यमयी कृति को कहा जाता है, जिसके द्वारा अपने किसी श्रद्धास्पद व्यक्ति की प्रशंसा की जाती है। "स्तूयतेऽनेन इति स्तोत्रम्" इस व्युत्पति से बना यह शब्द बड़ा व्यापक है। लोक और काव्य दोनों क्षेत्रों में यह पाया जाता है। विश्व का कोई समाज नहीं, जिसमें किसी प्रकार के स्तोत्र का व्यवहार न होता हो। मन्दिरों, गुरुद्वारों, मस्जिदों और गिरजाघरों में सर्वत्र अपनी-अपनी भावना और विश्वासों के अनुसार लोग स्तोत्रपाठ करते हैं।

स्तोत्रों का विषय ईश्वर, देवता, सिद्ध, महात्मा, पीर, पैगम्बर सभी हैं। विशेषतः ईश्वर, देवी, देवता या उपास्य को प्रसन्न करने के लिए जो प्रशंसा एवं समर्पणात्मक उद्‌गार प्रकट किये जाते हैं, उन्हें स्तोत्र के नाम से पुकारा जाता है।

"स्तोत्र" शब्द—स्तु धातु से करण में त्र (ष्ट्रन्) प्रत्यय लगने से स्तोत्र शब्द निष्पन्न होता है।[1] "स्तोत्र" शब्द के पर्यायवाची "स्तुति" और "स्तव" शब्द भी माने जाते हैं। इन दोनों शब्दों की निष्पत्ति स्तु+क्तिन् तथा स्तु+अप् से हुई है। जैन लेखक मलयगिरि ने "स्तुति" और "स्तव" में अन्तर बताते हुए लिखा है—

एतदुगतिसिलोया थुतिओ बन्नेसि होर जा सत।
देविदत्थयमादो तेणं तु परं यथा होई॥[2]

एकश्लोका द्विश्लोका त्रिश्लोका वा स्तुतिर्भवति। परतश्चतुःश्लोकादिकः स्तवः। अन्येषामाचार्याणां मतेन एकश्लोकादिः सप्तश्लोकपर्यन्ता स्तुतिः। ततः परमष्टश्लोकादिकाः स्तवाः।

अर्थात् एक श्लोक से तीन श्लोकपर्यन्त स्तुति और उसके अनन्तर चार श्लोक आदि स्तव हैं। मतान्तर से एक श्लोक से सात श्लोक पर्यन्त स्तुति और आठ श्लोक अथवा इससे अधिक श्लोक स्तव कहलाते हैं।

जैन स्तोत्रकाव्य की परम्परा का अध्ययन करते हुए श्री नेमिचन्द्र शास्त्री ने स्तव और स्तोत्र में भेद बतलाते हुए लिखा है—"स्तव गंभीर अर्थ वाला और संस्कृत भाषा में निबद्ध किया जाता है, तथा स्तोत्र की रचना विविध छन्दों द्वारा प्राकृत भाषा में होती है। पर स्तोत्र और स्तव का यह संविधान आरम्भ में भले ही रहा हो, आगे नहीं रहा है। समन्तभद्र (विक्रम संवत् द्वितीय शती) ने संस्कृत में ही स्तोत्रों की रचना की है।[3]

वस्तुतः आराध्य के गुणों की प्रशंसा करना स्तुति है। आचार्य बट्टकेर ने बताया है—ऋषभ, अजित आदि चौबीस तीर्थंकरों के नाम उच्चारण करना, उन

---

१. अष्टाध्यायी ३।२।१८२

२. व्यवहारभाष्य उ० ७ गा० १८३

३. संस्कृतकाव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, पृ० ५५

नामों की निरुक्ति अर्थात् नामों के अनुसार अर्थ करना, उनके असाधारण गुणों की प्रशंसा करना, उनके चरणयुगल पूजकर मन-वचन-कार्य को शुद्धता से उन्हें प्रणाम करना स्तव है।[1]

इस दृष्टि से स्तोत्र के अनेक लक्षण किये गये हैं। वाचस्पत्य में "स्तवे गुण-कर्मादिभिः प्रशंसने भरः" ऐसा कह कर इसे चतुर्विध माना है—द्रव्यस्तोत्र, कर्मस्तोत्र, विधिस्तोत्र और इसी तरह अभिजन स्तोत्र।[2]

स्तोत्र के सम्बन्ध में इस प्रकार की मान्यता प्रायः पुराणों में उपलब्ध है। मत्स्यपुराण में कहा गया है कि प्रत्येक मन्वन्तर में भिन्न-भिन्न श्रुतियों का विधान होता है। ऋक्, यजुः तथा साम ये तीनों वेद पूर्ववत् देवताओं से युक्त रहते हैं। विधि, स्तोत्र तथा अग्निहोत्र, ये भी पूर्व युगों के समान पिछले युगों में प्रचलित रहते हैं। द्रव्यस्तोत्र, गुणस्तोत्र, कर्मस्तोत्र और अभिजन स्तोत्र, ये चार प्रकार के स्तोत्र सभी मन्वन्तरों में वेदों से भिन्न-भिन्न रूप में आविर्भूत होते हैं। उन्हीं से ब्रह्म-स्तोत्र पुनः पुनः प्रवृत्त होता है।[3]

संस्कृत-शब्दार्थकौस्तुभ में भी कहा है, "स्तोत्र' प्रशंसा, स्तुतिः, विरुदावलिः, प्रशंसात्मकं गीतम्। कवितास्तुत्यात्मकश्लोकाः।[4]

जगद्धर भट्ट स्तुति तथा स्तव को समानार्थक मानते हैं। जैसे उन्होंने अपने ग्रंथ का नाम "स्तुतिकुसुमांजलि" रखा है, साथ ही इसे एक स्थल पर कवि ने "स्तवावलि"[5] भी कहा है।

(ग) स्तोत्र-काव्य का स्वरूप

यहां हम जिस स्तोत्र पर विचार कर रहे हैं, वह विशुद्ध रूप से वह रचना है जो काव्य के रूप में हो और भक्ति भावना से भरपूर हो। स्तोत्र में श्लोकों की संख्या

---

१. संस्कृत साहित्य में जैन कवियों का योगदान, पृ० ५६

२. द्रव्यस्तोत्रं कर्मस्तोत्रं विधिस्तोत्रं तथैव च।
तथैवाभिजनस्तोत्रं स्तोत्रमेतच्चतुष्टयम्॥ शब्दवाचस्पत्य, पृ० ५३६२

३. अत्र वो वर्णयिष्यामि विधिं मन्वन्तरस्य तु।
ऋचो यजूंषि सामानि यथावत् प्रतिदैवतम्॥
विधिर्होत्रं तथा स्तोत्रं विधिस्तोत्रं तथैव च।
तथैवाभिजनस्तोत्रं स्तोत्रमेतच्चतुष्टयम्॥
मन्वन्तरेषु सर्वेषु यथाभेदा भवन्ति ये।
प्रवर्तयन्ति तेषां वै ब्रह्मस्तोत्रं पुनः पुनः॥ मत्स्य पुराण ४५।१२१।

४. संस्कृत-शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ० १२३२

५. इयं भवत्वाभरणं महेश्वरस्तवावली वक्त्रसरोरुहे सताम्॥ स्तु० ३८।१५, १६-२१ भी द्रष्टव्य हैं।

बहुत न्यून होती है तथा वहां एकमात्र स्तुत्य के गुणकथन पर ही विशेष ध्यान होता है। इसके विपरीत स्तोत्रकाव्य में श्लोक-संख्या अधिक होती है तथा स्तुत्य के विविध गुणों का सविस्तार वर्णन करते हुए प्रसंगत: प्रकृति आदि का वर्णन भी मिलता है। इसके अतिरिक्त स्तोत्र काव्य अनेक भागों में विभक्त होता है। जैसे स्तुतिकुसुमांजलि ३९ स्तोत्रों में विभक्त है और शिवस्तोत्रावली २० स्तोत्रों में।

(घ) स्तोत्रकाव्य का आरम्भ

सृष्टि के प्रारम्भ से ही स्तोत्र की रचना का आरम्भ हुआ, यह निर्विवाद है। परन्तु उस स्तोत्र को यथावसर परिष्कृत रूप देने का श्रेय साहित्य एवं साहित्यकारों को ही दिया जाता है। उपलब्ध साहित्यिक सामग्री के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर, स्तोत्र-साहित्य कितना पुराना है ? इसका आरम्भ किस काल में हुआ ? किस व्यक्ति का स्तोत्र उपलब्ध साहित्य में सर्वप्रथम है ? सर्वप्रथम स्तोत्र की भाषा क्या थी ? आदि-आदि अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं। इनके समाधान के लिए वर्तमान काल में उपलब्ध साहित्य एवं बहुमत-स्वीकृत ऐतिहासिक तथ्य ही एकमात्र पथ-प्रदर्शक हैं, जिनके आलोक में उपर्युक्त प्रश्नों का समाधान किया जा सकता है।

२. स्तोत्रकाव्य के प्राचीन स्रोत

उपलब्ध स्तोत्रकाव्य का समारम्भ वेद से ही हुआ है। ब्राह्मण उपनिषद् रामायण, महाभारत एवं पुराणों में भी स्तोत्रकाव्य की वैदिक धारा सदा प्रवहमान रही है।

आर्यजनों का यह दृढ़ विश्वास है कि सृष्टि का आरम्भिक साहित्य वेद ही है और उसमें भी आदिम ग्रंथ ऋग्वेद है।

इसमें अग्नि, इन्द्र, वरुण, विष्णु, पूषा, अश्विनी, उषा आदि देवताओं की भावविभोर ऋषियों ने ऋचाओं द्वारा स्तुति की है। इनमे काव्यतत्त्व एवं उपासना का भाव दोनों का सन्तुलित सामंजस्य है। ऋग्वेद के सहस्राधिक सूक्तों में इन देवताओं की स्तुति श्रद्धा एवं भक्ति से प्रेरित होकर की गई है। इनमें अनेक सूक्त ऐसे हैं, जिनमें स्तोत्रकाव्य के सभी तत्त्व विद्यमान हैं।

ऋग्वेद

यहां ऋग्वेद के कुछ स्तोत्रों का दिग्दर्शन प्रस्तुत है—

उषा

उषा स्तोत्र के विषय में विद्वानों का विचार है कि वैदिक काव्य में उषा का चित्र अत्यन्त शालीन है। विश्व-साहित्य के किसी भी वर्णनात्मक धार्मिक स्तुति काव्य में इतना आवर्जक इतर रूप प्राप्त नही होता।[१]

---

१. वैदिक देवशास्त्र, पृ० ४७

उषा की स्तुति में एक स्थल पर कवि अपनी कल्पना के द्वारा चार उपमाओं की योजना प्रस्तुत करता है। इसे स्तोत्रकाव्य का सुन्दरतम उदाहरण कहा जा सकता है।[१] उषा की स्तुतियों में भावविभोर स्तोता एक साथ ही सुन्दर पद-विन्यास, अलंकारचयन, पदानुप्रास एवं वर्णानुप्रास का निबन्धन कर देता है।[२] एक अन्य स्तुति में उषा के मानवीकरण के कारण उसमें मानवी अनुभूति के दर्शन होते हैं।[३]

मन्त्र-द्रष्टा ऋषि उषा की दिव्य आभा को देखकर कह उठता है— हे प्रकाशवती उषा, तुम कमनीय कन्या की भांति अत्यन्त आकर्षणमयी बनकर अभिमतफलदाता सूर्य के निकट जाती हो तथा उसके सम्मुख स्मितवदना युवति की भांति वक्ष को आवरणरहित करती हो।[४] यहाँ कवि की मानवीकरण की भावना अत्यन्त प्रबल हो उठती है। यहां उषा के कुमारी रूप की कल्पना है। स्मितवदना, सुन्दर रूप प्रकट करने वाली, युवति कन्या की कल्पना सूर्य के पास प्रणय-मिलन की भावना से जाने वाली उषा के ऊपर पर्याप्त सयुक्तिक है तथा सरल है। एक अन्य स्थल पर, प्राचीन क्षितिज पर सुवर्ण के समान अरुण छटा टिकाने वाली उषा का साक्षात्कार करते समय स्तुतिकर्ता का हृदय इस कोमल चित्र में रम जाता है और वह उल्लासमयी भाषा में कह उठता है—"प्रकाशमयी उषा, तुम सोने के रथ पर चढ़कर अमरशील बनकर चमको। तुम्हारे उदय के समय पक्षिगण सुन्दर रसमयी वाणी का उच्चारण करते हैं। सुन्दर, शिक्षित, पृथुबल से सम्पन्न घोड़े सुवर्ण वर्ण तुम्हें वहन करें।"[५]

अग्नि

अग्नि की स्तुति ऋग्वेद में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है, जो स्तुतिकाव्यों के समस्त नियमों का परिपालन करती है तथा स्तोत्रों के जनक रूप में आगे के लिए

---

१. अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः॥ ऋ० १।१२४।७

२. सत्या सत्येभिर्महती महद्भिर्देवी देवेभिर्यजता यजत्रैः॥
रुजद् दृढानि दददुस्रियाणां प्रति गाव उषसं वावशन्तः॥ ऋ० ७।७५।७

३. परायतीनामन्वेति पाथ आयतीनां प्रथमा शाश्वतीनाम्।
व्युच्छन्तीनां जीवमुदीरयन्त्युषा मृतं कं चन बोधयन्ती॥ ऋ० १।११३।८

४. कन्येव तन्वा शाशदाना एषि देवि देवमियक्षमाणम्।
संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती॥ ऋ० १।१२३।१२

५. उषो देव्यमर्त्या विभाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती।
आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णां पृथुपाजसो ये॥ ऋ० ३।६१।२

दिग्दर्शन कराती है। वैदिक ऋषि कहता है—हे अग्नि देवता, हम प्रतिदिन नमन करते हुए, श्रद्धा और भक्तिभाव सहित आपके चरणों में सदा उपस्थित रहें।[१] हे परम-प्रकाश, ज्ञान के निधान अग्ने, आप हमारी आयु को पवित्र करें। हमें सुखप्रद स्वास्थ्य, बल और अन्न प्रदान कीजिए और इसके साधन में जो दुःख, लोभ आदि बाधायें आवें उन्हें हटा दीजिए।[२] हे अग्ने, हमें धन से सम्पन्न सुमार्ग से ले चलो। हमारे अन्दर किसी भी प्रकार की जो पापमयी प्रवृत्ति जागृत होती है, उसे हम से दूर करो। हम आप के समीप रह कर सदैव सन्मार्ग पर चलते हुए आप की स्तुति करें।[३]

इन्द्र

इन्द्र परमैश्वर्य सम्पन्न, इन्द्रियरूप विविध लोकों के स्वामी और सारे संसार पर अपने ओज से शासन करने वाले हैं।[४] अनेक भक्तों द्वारा पुकारे जाने वाले और सब को पार लगाने वाले प्रभु ! हमें समस्त द्वेषों से दूर कर दो, जिससे हम स्वस्ति की नाव पर बैठ कर इस भव-सागर को पार कर सकें।[५] यहाँ कौन है, जो सौम्य प्रभु के आगे स्तुतिवचनों द्वारा प्रणत होता है ? ऐसा कौन है, जो मन में लाने की इच्छा करता है और उसकी किरणों को अपने अन्दर धारण करता है ? ऐसा कौन है, जो उस का सखा बनने की और उसके भ्रातृ-भाव की कामना करता है ? है कोई ऐसा प्रभु का प्यारा भक्त, जो उस महान् कवि के लिए अपने हृदय में भक्ति-भावना रखता हो ?[६]

---

१. उप त्वाऽग्ने दिवे-दिवे दोषावस्तर्धिया वयम् ।
नमो भरन्त एमसि ।। ऋ० १।१।७

२. अग्न, आयूंषि पवस आ सुवोर्जमिषं च न ।
आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ।। वही ९।६६।१९
अग्ने, पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम् ।
दधद्रयिं मयि पोषम् ।। वही २१

३. अग्ने, नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुराणमेनो भूयिष्ठांस्ते नम उक्तिं विधेम ।। यजुर्वेद ४०।१६

४. इन्द्रमीशानमोजसा अभि स्तोमा अनूषत । ऋ० १।११।८

५. स नः पप्रिः पारयाति स्वस्ति नावा पुरुहूतः ।
इन्द्रो विश्वा अति द्विषः ।। ऋ० ८।१६।११

६. को नानाम वचसा सोम्याय, मनायुर्वा भवति वस्त उस्राः ।
क इन्द्रस्य युज्यं कः सखित्वं को भ्रात्रं वष्टि कवये क ऊती ।। ऋग्वे० ४।२५।२

रुद्र

ऋग्वेद में केवल तीन सूक्त ही समग्ररूपेण रुद्र से संबंधित हैं। यजुर्वेद में इन की महिमा का व्यापक गान हुआ है। ऋग्वेद में इनकी शारीरिक विशेषताओं की स्तुति इस प्रकार से की गई है—रुद्र की भुजाएं और अवयव दृढ और सन्नद्ध हैं।[१] इनका दिव्यरूप आँखों को चौंधिया देने वाला हैं, ये हाथ में शक्तिशाली औषध रखते हुए सबको सुख प्रदान करते हैं।[२] इनके हजारों नेत्र हैं।[३] वे नीलकण्ठ हैं।[४] कल्याण-कारी शरीर वाले वे पर्वतों पर निवास करते हैं।[५] रुद्र के संबंध में यह भी कहा गया है कि उनके पास धनुष-बाण हैं तथा वे औषधियों के भी विशेषज्ञ हैं।[६] उपासक उनकी स्तुति करते है कि वे नीरोग बने रहें और उन पर रुद्रदेव की कृपा बनी रहे।[७] रुद्र को भिषक्तम कहकर उनसे मांग की गई है कि वे अपनी औषधों से स्तोताओं को वीर नर (पुत्र) प्रदान करें। एक स्थान पर उनके लिए 'नृहन्' विशेषण भी प्रयुक्त हुआ है।[८]

तैत्तिरीयसंहिता अथवा कृष्ण यजुवद में अपेक्षाकृत शिव-स्तुति अधिक है। प्रसिद्ध वैदिक शिव स्तोत्र 'रुद्राष्टाध्यायी' यजुर्वेद का एक अंश है जिसकी मान्यता शैवों में सर्वोपरि है।

यजुर्वेद का स्तोता कभी धनुर्धारी, व्याघ्रचर्मयुक्त शिव से रक्षा की प्रार्थना करता है।[९] कभी उसके नील ग्रीवा वाले, सहस्रों नेत्रों वाले दिव्य स्वरूप को नमस्कार

---

१. स्थिरेभिरंगैः पुरुरूप उग्रो बभ्रुः शुक्रेभिः पिपिशे हिरण्यैः ॥ ऋ० २।३३।९

२. दिवो वराहमरुषं कपर्दिनं त्वेषं रूपं नमसा नि ह्वयामहे।
हस्ते बिभ्रद् भेषजा वार्याणि शर्म वर्मच्छदिरस्मभ्यं यसत् ॥ ऋ० १।११४।५

३. अस्त्रा नीलशिखण्डेन सहस्राक्षेण वाजिना।
रुद्रेणार्धकघातिना तेन मा समरामहि ॥ अथर्ववेद ११।२।७

४. असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः। वा० सं० १६।७

५. या ते रुद्र शिवा तनूरघोरा पापकाशिनी।
तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभि चाकशीहि ॥ वा० सं० १६।२

६. तमु ष्टुहि यः स्विषुः सुधन्वा यो विश्वस्य क्षयति भेषजस्य।
यक्ष्वा महे सौमनसाय रुद्रं नमोभिर्देवमसुरं दुवस्य ॥ ऋग्वेद ५।४२।११

७. ऋग्वेद २।३३।१, ७

८. ब्रवः कदग्ने रुद्राय नृघ्ने। ऋ० ४।३।६

९. अवततधन्वा पिनाकावसः कृत्तिवासा अहिंसन्नः शिवोऽतीहि। यजुर्वेद ३।६१

करता है,[1] तो कहीं अपने पुत्र, पौत्र, गऊ, घोड़ों, वीरों की रक्षा के लिए याचना करता है।[2] इस प्रकार मन्त्रों द्वारा अपने इष्ट को सतत नमन करता हुआ, अपने कल्याण की कामना करता हुआ, अपने स्तुत्य की विविध भावों के द्वारा स्तुति करता है।

अथर्ववेद

अथर्ववेद में भी रुद्र की स्तुति की गई है, जो स्तोत्र-काव्य के सभी निष्कर्षों पर खरी उतरती है। इस वेद का ऋषि रुद्र को कभी शत्रु-विनाश के लिए याद करता है[3], तो कभी रोगाक्रान्त होने के कारण वैद्य के रूप में बुलाता है।[4] तो कभी मरुतों के पिता एवं पशुओं के अधिपति रुद्र से अपनी रक्षा की प्रार्थना करता है।[5] कभी-कभी रुद्र के अनेकों नामों का गायन करता है।[6] उस सर्वव्यापक को नाना रूपों में नमस्कार करता है।[7] इस प्रकार अनेक भावों से भावित ऋषि ने अपने आराध्य की बहुविध स्तुति की है।

उपनिषद्

उपनिषदों में भी स्तोत्र-काव्यों के सुन्दरतम उदाहरण मिलते हैं। अग्नि, प्राण एवं रुद्र की स्तुति अनेक उपनिषदों में उपलब्ध है। उपनिषदों में रुद्र के वैभव तथा प्रभाव का वर्णन उपलब्ध होता है। श्वेताश्वतर में रुद्र की एकता, जगन्निर्माण में निरपेक्षता, विश्व के आधिपत्य, महर्षि तथा देवताओं के उत्पादक तथा ऐश्वर्य सम्पन्न बनाने का प्रतिपादन स्पष्ट भाव में किया गया है। रुद्र को एक कहा गया है।[8] वह सर्वव्यापी होने पर भी सर्वाननशिरोग्रीव है, अंगुष्ठमात्र प्रमाण से सबके हृदय में रहते हुए भी हजारों शिर एवं हजारों चक्षु वाला भी है।[9] यह विचित्र विश्व जो भूत एवं वर्तमान में है, सब रुद्र ही है। वही रुद्र हिरण्यवर्ण, हिरण्यबाहु, हिरण्यपति है तथा

---

१. नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे ।। यजु० १६।८
२. मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः ।
   मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे ।। वही १६।१६
३. रुद्रः शरव्ययैतान् ममामित्रान् वि विध्यतु । अथर्ववेद १।१६।३
४. रुद्र जलाष भेषज नीलशिखण्ड कर्मकृत् । अथर्ववेद २।२७।६
५. मरुतां पिता पशूनामधिपतिः स माऽवस्तु । अथर्ववेद ५।२४।१२
६. भवाशवो मृडतं माऽभि यातं भूतपती पशुपती नमो वाम् । वही ११।२।१
७. भवो दिवो भव ईशे पृथिव्या भव आ पप्र उर्वन्तरिक्षम् ।
   तस्मै नमो यतमस्यां दिशीतः ।। अथर्ववेद ११।२।२७
८. एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः । श्वेताश्वतरोपनिषद् ३।२
९. श्वेताश्वत रोपनिषद् ३।११, १३, १४

वही अम्बिकापति, उमापति है, उसे हम बार-बार नमस्कार करते हैं।[1] पूर्व दिशा जहां सूर्य उदित होता है एवं पश्चिम सहित सभी दिशाओं में रुद्र का ही आधिपत्य है।[2]

महाभारत

महाभारत न केवल इतिहास एवं पुराणों में ही प्रमुख है, बल्कि इसे पंचम वेद कहा गया है। पुरुषार्थचतुष्टय में से कोई ऐसा नहीं जिसका व्यापक विश्लेषण महाभारत में न हो।[3] इस ग्रंथ के निर्माता महर्षि वेदव्यास ने इस ग्रन्थ में अनेक स्तोत्र लिखे हैं, जो प्रकरणानुसार अनेक देवताओं से सम्बद्ध हैं, जिन्हें महाभारत से लेकर पृथक् स्वतंत्र स्तोत्रग्रन्थ के रूप में भी लिया है। जैसे गीता तथा विष्णुसहस्रनाम आदि।

श्रीविष्णुसहस्रनाम

स्तोत्रों के अनेक भेद-प्रभेद होने पर भी उन्हें प्रायः दो भागों में रखा जा सकता है। गुण-कीर्तन तथा नाम-कीर्तन। गुणकीर्तन में गीता का ग्यारहवां अध्याय तथा उसी प्रकार के अन्य स्तोत्र लिये जा सकते हैं। नामकीर्तन में विष्णुसहस्रनाम आदि। नामकीर्तनप्रधान स्तोत्रों में अपने आराध्य के नामों का ही कीर्तन (पठन) किया जाता है। अनेक देवताओं के अनेक स्तोत्र 'नामस्तोत्र' हैं। महाभारत में पठित 'विष्णुसहस्रनाम'[4] स्तोत्र भीष्म जी द्वारा कहा गया है। इसमें भगवान् विष्णु के एक हज़ार नामों का उल्लेख है। स्तोत्रकार का कथन है—जिसके स्मरण करने मात्र से मनुष्य जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है, उस प्रभावशाली विष्णु को हमारा नमस्कार है।[5] सब धर्मों में यही श्रेष्ठ धर्म है कि भक्तिपूर्वक उस परमात्मा का पूजन, उसके नामस्तोत्रों से करें।[6] इस नामस्तोत्रपद्धति के लिए किसी बाह्य उपकरण की आवश्यकता कम ही होती है। नाम का जापक (पाठक) नाम के प्रभाव मात्र से ही नामी को अपना लेता है।

---

१. महानारायणोपनिषत् १३।२-४

२. छान्दोग्योपनिषद् ३।७।४

३. धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥ महाभारत, आदिपर्व ६३।५३

४. महाभारत, अनुशासन पर्व, १४९ अध्याय।

५. यस्य स्मरणमात्रेण जन्मसंसारबन्धनात्।
विमुच्यते नमस्तस्मै विष्णवे प्रभविष्णवे॥ विष्णुस०, मंगलाचरण

६. एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः।
यद् भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा॥ विष्णुस०, ८

इसी महाभारत में अश्वत्थामाकृत शिवजी की स्तुति भी स्तोत्र-परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। भक्त अपने भगवान् को किन-किन भावों से देख सकता है, उनमें से कुछ भाव यहां देखे जा सकते हैं :

अश्वत्थामा कहता है—प्रभो, आप उग्र, स्थाणु, शिव, रुद्र, शर्व, ईशान, ईश्वर और गिरिश आदि नामों में प्रसिद्ध, वरदायक तथा संपूर्ण जगत् को उत्पन्न करने वाले परमेश्वर हैं। आपके कण्ठ में नील चिह्न है। आप अजन्मा एवं शुद्धात्मा हैं। आप ही संहारकारी हर, विश्वरूप, भयानक नेत्रों वाले, अनेक रूपधारी तथा उमादेवी के प्राणनाथ हैं। आप श्मशान में निवास करते हैं।[1]

महाभारत का यह स्तोत्र प्रपत्ति एवं शरणागति भक्तिभेद से भावित एक भक्त का आत्मसमर्पण व्यक्त करता है। इसी प्रकार कृष्ण एवं अर्जुन के द्वारा की गई शिव की स्तुति नामस्तोत्रों में गणनीय है। जिसमें भगवान् के अनेक नामों का गुणगान किया है।[2] ऐसा भी उल्लेख है कि एकाकी कृष्ण ने भी शिव की स्तुति करके उन्हें प्रसन्न किया है।[3] इसी प्रकार उपमन्यु ने भी शिवस्तुति की है।[4]

पुराण

पुराणों की रचना भक्तिभावपरिपूरितान्तःकरणप्रधान महर्षियों के द्वारा हुई है। पुराणों में तर्क की अपेक्षा श्रद्धा एवं विश्वास का आधिक्य है। इसीलिए पुराणों में प्रचुर मात्रा में नानाविध स्तोत्र उपलब्ध होते हैं। पुराणों में तो प्रायः सभी देवताओं की स्तुतियां की गई हैं।

श्रीमद्भागवत महापुराण सभी पुराणों से अधिक प्रचलित है। यह पुराण तो स्तोत्रों की रत्नमंजूषा ही है। इस पुराण में दक्षयज्ञविध्वंस के बाद ब्रह्मा द्वारा की गई भगवान् शिव की स्तुति भाषा एवं भाव की दृष्टि से शिवस्तोत्रों में प्रमुख कही जा सकती है। कुपित हुए जगदीश को प्रसन्न करने के लिए ब्रह्मा जी कहते हैं—मैं आपको निखिल ब्रह्माण्ड का बीज जानता हूं। सभी यज्ञों के स्रष्टा तथा सभी मंगलमय कर्मों में मंगल आप ही हैं। आपकी माया के वशीभूत होकर ही दक्ष ने यह अपराध किया

---

१. महाभारत, सौप्तिक पर्व ७।२-३

२. नमो भवाय शर्वाय रुद्राय वरदाय च।
पशूनां पतये नित्यमुग्राय च कपर्दिने॥
महादेवाय भीमाय त्र्यम्बकाय शिवाय च।
ईशानाय मखघ्नाय नमोऽस्त्वन्धकघातिने॥ वही, द्रोण ७४।५२-५४

३. वही द्रोण पर्व, ८०।४७

४. वही, अनुशासनपर्व २२।६६-६६, १५४-१९२

है, क्षमा कीजिए ।[1] भागवतकार की यह शिवस्तुति न केवल भक्ति-भावमय अपराध-क्षमापन की दृष्टि से ही श्रेष्ठ है, बल्कि अनुप्रास की छटा से समन्वित व्यंग्यप्रधान भी है ।

विषपान के प्रसंग में भी इसी प्रकार के भावों से युक्त स्तुति प्रजापतियों द्वारा की गई है ।[2]

शिवपुराण

श्री शिवमहापुराण के शिव ही एकमात्र प्रतिपाद्य हैं । शिवसम्बन्धी सामग्री से ही यह भरपूर है । प्रसंगवश अनेक स्वतन्त्र शिवस्तोत्र भी यहां उपलब्ध हैं, जो भाव एवं भाषा की दृष्टि से स्तोत्रकाव्यों में गणनीय हैं । उदाहरणार्थ कुछ स्तोत्र प्रस्तुत हैं ।

विष्णु आदि के द्वारा की गई शिव की स्तुति का प्रथम श्लोक भगवान् शिव के सात नामों से आरम्भ होता है ।[3] ५२ पद्यों का संपूर्ण अध्याय शिवस्तुतिमय है । शिव को परब्रह्म और मनवाणी के अगोचर कहा है ।[4] सृष्टि स्थिति संहार करते हुए अपने ही स्वरूप वाली अपनी शक्ति में आप ऊर्णावस्त्र के समान आप ही क्रीडा करते हैं ।[5] इस प्रकार अनेक गुणों से विशिष्ट शिव का नमस्कारात्मक स्तुति भी है ।[6] स्तोत्र-काव्य के अनेक गुणों से मण्डित अनेक स्तोत्र शिवपुराण में विद्यमान हैं, जिनमें देवी-स्तुति[7], स्कन्दस्तुति[8] आदि मुख्य हैं ।

---

१. जाने त्वामीशं विश्वस्य जगतो योनिबीजयोः ।
शक्तेः शिवस्य च परं यत्तद् ब्रह्म निरन्तरम् ॥ भाग०पु०, ४।६।४२
त्वं कर्मणां मंगलं मंगलानां कर्तुः स्म लोकं तनुषे स्वः परं वा ।
अमंगलानां च तमिस्रमुल्बणं विपर्ययः केन तदेव कस्यचित् ॥ वहीं, ४५

२. त्वं शब्दयोनिर्जगदादिरात्मा प्राणेन्द्रियद्रव्यगुणस्वभावः ।
कालः क्रतुः सत्यमृतं च धर्मस्त्वमक्षरं यत् त्रिवृदामनन्ति ॥ वही, ८।७।२५

३. देव देव महादेव लौकिकाचारकृत्प्रभो ।
ब्रह्म त्वामीश्वरं शंभुं जानीमः कृपया तव ॥ शिव पु०, ४१।१

४. परब्रह्म परस्त्वं च मनोवाचामगोचर ॥ वही, श्लोक० २

५. त्वमेव विश्वं सृजसि पास्यत्सि निजतन्त्रतः ।
स्वरूपां शिवशक्तिं हि क्रीडन्नूर्णपटो यथा ॥ वही, ४१।४ ।

६. नमो रुद्राय शान्ताय, नमस्ते नीलकण्ठाय, नमस्ते भगवन् रुद्र, नमो भवाय देवाय । —वही, श्लो०, ११-१७

७. शिवपुराण, पार्वती खण्ड, ३।२६-३८, कुमार खण्ड, १७।३२-३३

८. वही, कुमार खण्ड, ११।४,१२।२-६

इस प्रकार स्तोत्रकाव्य-परम्परा को आगे बढ़ाने में पुराणों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

३. संस्कृत के प्रमुख स्तोत्रकाव्य

पूर्वनिर्दिष्ट स्तोत्रों के अतिरिक्त जिस स्तोत्रसाहित्य का निर्माण हुआ है, उसे तीन मार्गों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम में वे स्तोत्र आते हैं जिसमें देवताओं अथवा देव-विशेष की नामावली का परिगणन मात्र है। जैसे गोपाल-सहस्रनाम आदि। दूसरे भाग में वे स्तोत्र हैं जिनमें अनुभूति की मार्मिकता के स्थान पर शब्दाडंबर और चमत्कार-प्रदर्शन के द्वारा अपना पाण्डित्य प्रदर्शित किया है। जैसे रावण नामक व्यक्ति द्वारा लिखित 'शिवताण्डव स्तोत्र'। तीसरे भाग में वे स्तोत्र हैं जिनके रचयिताओं को हम महाकवि कहने में भी संकोच नहीं करते। ऐसे स्तोत्रों में अनुभूति का गाम्भीर्य दर्शनीय है। इनमें वैयक्तिकता, स्तोता की आध्यात्मिक विरहजन्य वेदना तथा उपास्य के प्रति सच्ची भक्ति प्रदर्शित होती है। इन स्तोत्रों में देवता के नख-शिख रूप-सौन्दर्य का वर्णन, उस की महिमा का स्तवन तथा साथ ही अपनी दीनता की अभिव्यक्ति करते हुए स्तोता उनसे अपने उद्धार की प्रार्थना करता है।[1]

इन स्तोत्रों का स्वतन्त्र स्तोत्र के रूप में आरम्भ किस प्रकार से एवं किस स्तोत्र से हुआ, यह कहना तो कठिन है। उपलब्ध स्तोत्रसाहित्य में शैव स्त्रोत्रों में पुष्पदन्तविरचित 'शिवमहिम्न स्तोत्र' अति प्रसिद्ध एवं प्राचीन है।[2] शैव स्तोत्रों की द्विविध स्तोत्र-शैली उपलब्ध होती है। एक तो संक्षिप्त, जिसमें शिव से सम्बन्ध रखने वाले विविध भाव-कुसुमों को सजाकर माला-सी तैयार की जाती है। उसमें भाव एवं श्लोक-संख्या सीमित-सी होती है तथा आरम्भ से अन्त तक अनेक श्लोकों में गुम्फित वह स्तोत्र एक ही स्तोत्र कहा जाता है। उसमें अध्याय, सर्ग अथवा इसी प्रकार का अन्य कोई विभाजक चिह्न नहीं होता। इस प्रकार के स्तोत्र का उदाहरण पुष्पदन्त रचित 'शिवमहिम्नस्तोत्र' है।

दूसरे प्रकार के स्तोत्रों में वे हैं, जिनमें अनेक भावों एवं कथाओं को विभिन्न रूपों में व्यक्त किया जाता है। यह अनेक अध्याय आदि में विभक्त होने पर भी एक ही नाम से पुकारा जाता है। ऐसे स्तोत्रों का प्रतिनिधित्व आचार्य उत्पलदेव-विरचित 'श्रीशिवस्तोत्रावली' तथा जगद्धर भट्ट की 'स्तुतिकुसुमांजलि' करती हैं।

चण्डीशतक

स्वतन्त्र स्तोत्र काव्यों में 'चण्डीशतक' को प्रथम स्तोत्र माना जाता है। यह स्तोत्र महाकवि बाणरचित होने से सातवीं शताब्दी का है।[3] मुख्यतया स्रग्धरा छन्द में

१. संस्कृत साहित्य की प्रवृत्तियां, पृ० २०४

२. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३५०, बलदेव उपाध्याय

३. संस्कृत साहित्य का इतिहास, डा० कीथ, अनु० मंगलदेव शास्त्री, पृ० २५३

१०२ पद्यों में निबद्ध इस स्तोत्र की शैली गाढ बन्ध वाली है। इसमें भक्तिभाव की अपेक्षा पाण्डित्य-प्रदर्शन अधिक है। उदाहरणार्थ एक पद्य प्रस्तुत है—

विद्राणे रुद्रवृन्दे सवितरि तरले वज्रिणि ध्वस्तवज्रे,
जाताशङ्के शशाङ्के विरमति मरुति त्यक्तवैरे कुबेरे।
वैकुण्ठे कुण्ठितास्त्रे महिषमतिरुषं पौरुषोपघ्ननिघ्नं
निर्विघ्नं निघ्नती वः शमयतु दुरितं भूरिभावा भवानी॥

यह पद्य अनेक ग्रन्थों[1] एवं सुभाषित-संग्रहों में उद्धृत है। इसी स्तोत्र का एक पद्य राजशेखर ने भी उद्धृत किया है, जिसे व्युत्पत्ति और प्रतिभा दोनों के एक साथ योग का उदाहरण बतलाया है। जैसे—

जङ्घाकाण्डोरुनालो नखकिरणलसत्केसरालीकरालः
प्रत्यग्रालक्तकाभाप्रसरकिसलयो मंजुमंजीरभृंगः।
भर्तुर्नृत्यानुकारे जयति निजतनुस्वच्छलावण्यवाणी-
सम्भूताम्भोजशोभां विदधदभिनयाखण्डपादो भवान्याः॥[2]

सूर्यशतकम् (सातवीं शताब्दी)

बाण के सम्बन्धी महाकवि मयूर का यह स्तोत्र संस्कृत वाङ्मय में प्रख्यात है। आचार्य मम्मट ने इसे और भी स्पष्ट कर दिया।[3] रोगनिवारणार्थ सूर्य की स्तुति में लिखा यह स्तोत्र भाषा एवं कवित्व की दृष्टि से सुन्दरतम है। अपने आराध्य भगवान् भास्कर से कवि कहता है—

यस्याधोऽधस्तथोपर्युपरि निरवधि भ्राम्यतो बिम्बमश्वै-
रावृत्तालातलीलां रचयति रयतो मण्डलं चण्डधाम्नः।
सोऽव्यादुत्तप्तकार्तस्वरसरलशरस्पर्द्धिभिर्द्धामदण्डै
रुद्दण्डैः प्रापयन्वः प्रचुरतमतमः स्तोभयंस्तं समस्तम्॥[4]

यद्यपि मयूर का यह कवित्व स्तोत्रकाव्य की दृष्टि से उत्तम श्रेणी में नहीं लिया जा सकता, क्योंकि कठिन भाषा एवं समास-बाहुल्य ने भक्ति के सरस भावों को दबा लिया प्रतीत होता है। केवल अनुप्रास की झंकार ही प्रभावी बन गई है। इस बात की पुष्टि डा० सुशील कुमार डे ने भी की है।[5] डा० कीथ का कथन है—'श्लेषों' से युक्त

---

१. सरस्वती-कण्ठाभरण, भोजराज, २।२११, संस्कृतसाहित्यकविमर्शः, पृ० ६७५
२. काव्यमीमांसा, पृ० ४०
३. काव्यप्रकाश, १।२
४. काव्य मीमांसा, पृ० २१२
५. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १६२

बोझिल और थकाने वाली शैली के कारण इनकी कविता को उत्तम श्रेणी में नहीं रखा जा सकता, परन्तु इससे इस विचार को पुष्टि मिलती है कि वे बाण के समकालीन थे।[१]

शिवमहिम्नस्तोत्र (आठवीं शताब्दी)

शिवस्तोत्रों में प्रमुख इस स्तोत्र के लेखक पुष्पदन्त हैं, जिन्होंने अपने को 'गन्धर्वराज' कहा है। यद्यपि इनका पूरा परिचय अनुपलब्ध है, तथापि राजशेखर ने शिवमहिम्न का एक पद्य अपनी काव्यमीमांसा में उद्धृत किया है।[२] जिससे इसका समय दशम शतक पूर्व होना सिद्ध है।

शिखरिणी वृत्त में लिखा गया यह स्तोत्र बड़ा भावपूर्ण हैं। इसमें ४० पद्य हैं। इस स्तोत्र में कहीं दार्शनिक मान्यताओं का स्पष्टीकरण हैं।[३] तो कहीं पौराणिक कथाओं का निदर्शन है।[४] कहीं शिव के अष्टविध स्वरूप का वर्णन है[५], तो कहीं उनके प्रसिद्ध आठ नामों का उल्लेख है।[६]

भक्त का विश्वास है कि अपनी-अपनी रुचि के अनुसार नाना प्रकार के साधनों में लगे हुए सभी साधक, अन्ततः उसी परम शिव की शरण लेते हैं। वही एकमात्र सबका साध्य है, गन्तव्य है।[७]

उपर्युक्त विचारों से यह निश्चित-प्राय है कि शिवमहिम्न-स्तोत्र न केवल भावगाम्भीर्य-प्रधान स्तुतिमात्र के कारण ही लोकप्रिय है, अपितु प्राचीन स्तोत्रों में काल की दृष्टि से भी माननीय है।

शंकराचार्य के स्तोत्र (८वीं शताब्दी पूर्व से पश्चात् तक)

शंकराचार्य भारतीय विद्या-माला के सुमेरु थे। यद्यपि उन्हें पूर्ण अद्वैतवादी माना गया है, तथापि उनके स्तोत्र किसी भक्त कवि से कम नहीं हैं।[८] शंकर के

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २४३
२. काव्यमीमांसा पृ० ९१
३. शिवमहिम्न स्तोत्र, श्लोक ५-७
४. वही, १२, १८-१९
५. त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवहस्
त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च ॥ शिवमहिम्न स्तोत्र, श्लोक २६
६. भवः शर्वो रुद्रः पशुपतिरथोग्रः सहमहांस्
तथा भीमेशानाविति यदभिधानाष्टकमिदम् ॥ वही, श्लोक २८
७. रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥ वही, श्लोक ७
८. शङ्कराचार्य की महिमा की व्याख्या के लिए लेखक का संस्कृत महाकाव्य 'श्रीशङ्कराचार्यचरितम्' देखें।

स्तोत्रनिर्माण में शायद यह भावना रही हो कि सत्य के पारमार्थिक और व्यावहारिक, इन दोनों पक्षों को लेकर चलने वाले सिद्धान्त लोकप्रचलित विश्वासों को पूर्णतया स्वीकार कर सकें और अपनी भावनाओं को इस प्रकार अभिव्यक्त कर सकें कि तत्त्वज्ञानियों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों को भी वे स्वीकार्य हो सकें। इस धारणा के साथ यदि हम उस परम्परा पर विश्वास कर सकें, जो शंकर को अनेक स्तोत्रों का रचयिता बतलाती है, विशेषतः देवी के स्तोत्र का, जिन्हें शाक्त लोग ब्रह्माण्ड की सर्वोच्च शक्ति के रूप में पूजते हैं, तो हमें दार्शनिक शंकर को एक अत्यन्त उत्साहपूर्ण तथा उच्चकोटि का स्तुतिकवि मानना होगा। उन्होंने इस प्रकार के स्तोत्र-काव्यों की रचना की थी, इस विषय में सन्देह करने के लिए कोई कारण नहीं है।[1] आगे के पृष्ठों पर शंकराचार्य के नाम से प्रचलित स्तोत्रों का विवरण दिया जा रहा है, यद्यपि उनके शंकराचार्यरचित होने में अनेक विद्वानों को संदेह है।

(क) गणेश स्तोत्र

(१) गणेश पंचरत्न—१६ श्लोक, (२) भुजंगप्रयात—६ श्लोक, (३) गणेशाष्टक—८२ श्लोक, (४) वरद गणेश स्तोत्र।

(ख) देवी स्तोत्र

(१) सौन्दर्य-लहरी—१०० श्लोक, (२) देवी-भुजंगप्रयातस्तोत्र—२८१ श्लोक, (३) आनन्द-लहरी—२० श्लोक, (४) त्रिपुरसुन्दरी-वेदपाद—११० श्लोक, (५) त्रिपुरसुन्दरी-मानस-पूजा—१२७ श्लोक, (६) देवीचतुःषष्ट्युपचारपूजा—७२ श्लोक, (७) त्रिपुर-सुन्दर्यष्टक—८ श्लोक, (८) ललितापंचरत्न—६ श्लोक, (६) कल्याण-वृष्टिस्तव—१६ श्लोक, (१०) नवरत्नमालिका—१० श्लोक, (११) मंत्रमात्रिका पुष्पमाला—१७ श्लोक, (१२) गौरीदशक—१३ श्लोक, (१३) भवानी-भुजंगप्रयात—१७ श्लोक, (१४) कनकधारा १८ श्लोक, (१५) अन्नपूर्णाष्टक—१२ श्लोक, (१६) मीनाक्षी पंचरत्न—५ श्लोक, (१७) मीनाक्षी स्तोत्र—८ श्लोक, (१८) भ्रमराम्बाष्टकम्—८ श्लोक, (१६) शारदाभुजंग-प्रयाताष्टक—८ श्लोक।

(ग) विष्णु स्तोत्र

(१) कामभुजगप्रयात—१० श्लोक, (२) विष्णुभुजंगप्रयात—१४ श्लोक, (३) विष्णुपादादिकेशान्त—५२ श्लोक, (४) पाण्डुरंगाष्टक—८ श्लोक, (५) अच्युताष्टक—८ श्लोक, (६) कृष्णाष्टक—८ श्लोक, (७) हरिमीडे स्तोत्र—४३ श्लोक, (८) गोविन्दाष्टक—८ श्लोक, (६) भगवन्मानस-पूजा—१७ श्लोक, (१०) जगन्नाथाष्टक—८ श्लोक।

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २५६, बलदेव उपाध्याय

(घ) युगल देवता स्तोत्र

(१) अर्धनारीश्वर स्तोत्र—९ श्लोक, (२) उमामहेश्वर स्तोत्र—१३१ श्लोक, (३) लक्ष्मीनृसिंह-पंचरत्न—५ श्लोक, (४) लक्ष्मीनृसिंहकरुणारसस्तोत्र—१७ श्लोक।

(ङ) नदीतीर्थविषयक स्तोत्र

(१) नर्मदाष्टक—८ श्लोक, (२) गंगाष्टक—८ श्लोक, (३) यमुनाष्टक (दो प्रकार का)—८ श्लोक, (४) मणिकर्णिकाष्टक—८ श्लोक, (५) काशीपंचक—५ श्लोक।

साधारण स्तोत्र

(१) हनूमत्पंचरत्न—६ श्लोक, (२) सुब्रह्मण्यभुजंगप्रयात—३३ श्लोक, (३) प्रातःस्मरण स्तोत्र—४ श्लोक, (४) गुर्वष्टक—९ श्लोक, (५) आनन्द-लहरी, (५) गोविन्दाष्टक, (७) दक्षिणामूर्तिस्तोत्र, (८) दशश्लोकी, (९) चर्पट-पंजरिका, (१०) षट्पदी, (११) मनीषा-पंजरिका, (१२) सोपान-पंचक, (१३) शिवभुजंगप्रयात।

शंकराचार्य के नाम से ऊपर जिन स्तोत्रों का उल्लेख किया गया है, इन्हें शृंगेरी मठ के शंकराचार्य की अध्यक्षता में श्रीवाणीविलास प्रेस से प्रकाशित शंकर-ग्रंथावली में स्थान दिया गया है। परन्तु शंकर के नाम से कम से कम २८० स्तोत्र छपे हैं।[1]

इन स्तोत्रों की शैली तथा विषय का अनुशीलन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अधिकांश स्तोत्र विचित्र कृत्रिमता धारण किये हुए हैं। अतः उन्हें शंकरकृत मानने में हमें विशेष सन्देह है। कम से कम पन्द्रह स्तोत्र 'भुजंगप्रयात' छन्द में लिखे गए हैं और गणेशगण्डकी, दक्षिणामूर्ति, दत्त, देवी, नृसिंह, भवानी, राम, विष्णु, साम्ब, शिव, सुब्रह्मण्य तथा हनुमान आदि देवताओं की स्तुति में निबद्ध हैं। इनमें से किसी के ऊपर प्राचीन ग्रंथकार की व्याख्या उपलब्ध नहीं होती। अतः शिवभुजंगप्रयात को छोड़कर अन्य स्तोत्रों के आदिशंकररचित मानने में हमें पर्याप्त आपत्ति है। इसके अनन्तर लगभग ३५ 'अष्टक' हैं, जिनमें अच्युत, अन्नपूर्णा, अम्बा, अर्धनारीश्वर, कालभैरव, कृष्ण, गंगा, गणेश, गोविन्द, चिदानन्द, जगन्नाथ, त्रिपुरसुन्दरी, दक्षिणामूर्ति, नर्मदा, पाण्डुरंग, बालकृष्ण, बिन्दुमाधव, भवानी, भैरव, भ्रमराम्बा, मणिकर्णिका, यमुना, राघव, राम, लिंग, शारदाम्बा, शिव, श्रीचक्र, सहजा, हालास्य आदि देवताओं के विषय में उपलब्ध होते हैं।[2]

---

१. शंकराचार्य, बलदेव उपाध्याय, पृ० १६४

२. शंकराचार्य, बलदेव उपाध्याय, पृ० १६५

शंकराचार्य कृत स्तोत्रों में सन्देह के कारण में अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। परन्तु प्रबलतम उदाहरण देव्यपराधक्षमापन स्तोत्र है, जिसके एक पद्य में, लेखक ने अपनी पचासी वर्ष की आयु में यह स्तोत्र लिखने की चर्चा की है।[1] आदि शंकराचार्य ने ३२ वर्ष की आयु में देहत्याग कर दिया था। अतः यह संशय निर्मूल नहीं कहा जा सकता कि शंकराचार्य के नाम से प्रचलित सभी स्तोत्र आदिशंकराचार्य के द्वारा लिखित नहीं हैं। परन्तु ग्यारह स्तोत्रों को आदि शंकराचार्यकृत मानने में विद्वान् सहमत हैं।[2]

श्री बलदेव उपाध्याय ने इन स्तोत्रों में "मोहमुद्गर" का उल्लेख नहीं किया है, जिसे डॉ० कीथ तथा श्रीकृष्ण चैतन्य ने आदि शंकराचार्यकृत माना है।[3]

मोहमुद्गर (आठवीं शताब्दी)

इकतीस श्लोकों में निबद्ध यह स्तोत्र भगवद्विमुख मनुष्य के लिए एक प्रकार का उद्बोधन है। तुम में, मुझ में, तथा अन्य में, केवल विष्णु का ही निवास है। प्रत्येक आत्मा में आत्मा को देखो और अन्तर के समस्त विचार त्याग दो।[4] सर्वत्र एक परमात्मा को देखता हुआ[5], काम, क्रोध, लोभ, मोह का त्याग कर।[6]

इस स्तोत्र का प्रत्येक पद्य पाठक को इस क्लेशमय लोक से दूर कहीं आनन्द-लोक का विचरण कराता-सा प्रतीत होता है। वैराग्य-प्रधान आत्मा की यह दिव्य झंकार प्रत्येक आत्मा को परमात्मा से मिलने के लिए व्याकुल कर देती है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि शंकराचार्य ने स्तोत्रकाव्य-परम्परा को अच्छी गति प्रदान करने में अपूर्व योगदान किया है।

---

१. परित्यक्ता देवा विविध-विधि-सेवाकुलतया
मया पंचाशीतेरधिकमपनीते तु वयसि।
इदानीं चेन्मातस्तव यदि कृपा नापि भविता
निरालम्बो लम्बोदरजननि कं यामि शरणम्॥

२. संस्कृत साहित्य का नवीन इतिहास, श्रीकृष्ण चैतन्य, अनुवाद—विनयकुमार राय, पृ० ४४७

३. सस्कृत साहित्य का इतिहास, डा० कीथ, अनुवाद, पृ० २८२
संस्कृत साहित्य का इतिहास, अनु० डा० विनयकुमार राय, पृ० ४४७

४. त्वयि मयि चान्यत्रैको विष्णुर्व्यर्थं कुप्यसि मय्यसहिष्णुः।
सर्वस्मिन्नपि पश्यात्मानं, सर्वत्रोत्सृज भेदाज्ञानम्॥
—मोहमुद्गर, श्लोक० २४, श्री शंकराचार्यविरचित ग्रन्थ-संग्रह, पृ० ९९

५. वही, श्लोक २५

६. वही, श्लोक २६

श्रीशिवस्तोत्रावली (९२५ ई०)

बीस अलग-अलग स्तोत्रों में विभाजित यह ग्रन्थ, आचार्य उत्पलदेव द्वारा रचित माना गया है। यद्यपि कहा यह गया है कि उत्पलदेव ने अपनी विभिन्न अवस्थाओं में जिन शिवस्तुतिपरक श्लोकों का उच्चारण (कथन) किया, उन श्लोकों को उत्पलदेव के शिष्यों ने लिख लिया तथा बाद में श्रीराम एवं आदित्यराम ने उन्हें व्यवस्थित कर भागों में विभक्त किया। उत्पलदेव ने स्वयं केवल तीन स्तोत्रों, तेरहवें, चौदहवें और पन्द्रहवें के नाम क्रमशः 'संग्रह स्तोत्र' 'जयस्तोत्र' और 'भक्तिस्तोत्र' रखे हैं। शेष सत्रह स्तोत्रों के नाम तो आचार्य विश्वावर्त ने ही रखे।[1] प्रत्येक स्तोत्र का नाम स्तोत्र के आदि और अन्त में दिया गया है। विचार करने पर प्रतीत होता है कि ये तीन स्तोत्र, अन्य स्तोत्रों की अपेक्षा अत्यन्त सुन्दर तथा प्रभावोत्पादक बन पड़े हैं। उत्पलदेव ने इस स्तोत्रावली में शैव दर्शन के सूक्ष्म सिद्धांतों के साथ भक्ति-प्रधान भावों का भी विशदरूपेण उल्लेख किया है। भक्तिसम्प्रदाय के सिद्धान्तानुसार कविहृदय सुख-दुःख का लक्षण करता है कि भगवान् की विस्मृति ही दुःख है, उनका मिलन ही सुख है।[2] मेरे जीवन की सफलता यही है कि मैं आपके चिदानन्दरूपी अमृतरस से भरे स्वरूप में लीन होकर, आपकी आराधना में लगा रहूं। फिर मुझे मृत्यु और मोक्ष में कोई भेद नहीं प्रतीत होता।[3] इस प्रकार दर्शन-प्रधान भक्ति का यह स्तोत्र काश्मीर में अतिप्रिय है।

सामान्य स्तोत्र

पूर्वोक्त साहित्यिक-ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ लोगों ने स्वतन्त्र शिवस्तोत्रों की रचना भी की है। ये स्तोत्र विविध स्तोत्रसंग्रहग्रन्थों में एवं स्वतन्त्र रूप से भी उपलब्ध हैं। ऐसे उपलब्ध स्तोत्रों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है, जिनमें से अनेक स्तोत्रों के लेखकों का नाम अनुपलब्ध है—

स्तोत्र का नाम	लेखक का नाम	पद्य सं०
१. शिवाष्टोत्तरशतनामस्तोत्र	अज्ञात	१३
२. शिवरक्षास्तोत्र	श्रीयाज्ञवल्क्य	१२
३. शिवताण्डवस्तोत्र	श्रीरावण	१४
४. शिवमानसपूजा	कृष्णानन्द सरस्वती	२३
५. शिवमानस पूजा	अज्ञात	६

---

१. शिवस्तोत्रावली, भूमिका, राजानक लक्ष्मण

२. संग्रहेण सुख-दुःखलक्षणं मां प्रति स्थितमिदं शृणु प्रभो
सौख्यमेष भवता समागमः स्वामिना विरह एव दुःखिता ॥ शि० स्तो० १३।१

३. शिव० स्तो० १३।३

६. दारिद्रयदहन शिवस्तोत्र	श्री वसिष्ठ	९
७. प्रदोषस्तोत्र	अज्ञात	१४
८. शिवशिवास्तोत्र	अज्ञात	८
९. शिवाष्टक	अज्ञात	९
१०. लिंगाष्टक	अज्ञात	९
११. चन्द्रशेखराष्टक	अज्ञात	१०
१२. विश्वमूर्त्यष्टक	श्री दक्ष	११
१३. शिवरामाष्टक	श्री रामानन्द	११
१४. विश्वनाथाष्टक	श्री व्यासदेव	१०
१५. बिल्वाष्टक	अज्ञात	९
१६. रुद्रस्तोत्र	श्री वासुदेवानन्द सरस्वती	९
१७. उपमन्युकृतशिवस्तोत्र	उपमन्यु	२०
१८. शंकरस्तोत्र	श्री वासुदेवानन्द सरस्वती	१०
१९. पशुपतिस्तोत्र	अज्ञात	५
२०. काशीविश्वेश्वरादिस्तोत्र	अज्ञात	८
२१ शिवरक्षास्तोत्र	उमामहेश्वरसम्वाद रुद्रयामल में	७
२२. अर्द्धनारीश्वरस्तोत्र	अज्ञात	४
२३. शम्भुस्तव	अज्ञात	६
२४. शिवस्तुति	श्रीलंकेश्वर	१०
२५. शिवकण्ठस्तुति	अज्ञात	४
२६. ताण्डवस्तुति	अज्ञात	५
२७. गौरीश्वरस्तुति	अज्ञात	३
२८. शिवलोचनस्तुति	अज्ञात	४
२९. श्रीशिवजटाजूटस्तुतिः	अज्ञात	३
३०. शिवजटाजूटस्थित शशिलेखास्तुति	अज्ञात	३
३१. श्री शिवगणस्तुति	अज्ञात	१
३२. द्वादशज्योतिर्लिङ्गस्तोत्र[1]	अज्ञात	१३

जैनस्तोत्र

जैन स्तोत्रों का प्रारम्भ प्राकृत भाषा में हुआ, ऐसा विद्वानों का विचार है। जैन-परम्परा में एक कथानक प्रचलित है कि भगवान् महावीर को केवल ज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् कई महीनों तक गणधर के अभाव में वे धर्मोपदेश नहीं कर सके।

१. ये सभी स्तोत्रनाम बृहत्स्तोत्ररत्नाकर, डा० चमनलाल गौ०, संस्कृति संस्थान, बरेली, से हैं। इन स्तोत्रों के अतिरिक्त ४०० अन्य स्तोत्र भी उपलब्ध हैं। —द्रष्टव्य पंचदेवतास्तोत्राणि, पृ० ४९

अतः इन्द्र विद्यार्थी के रूप में मगध-देशवासी इन्द्रभूति नामक उद्‌भट विद्वान के यहां पहुंचा और उसने इन्द्रभूति से कई प्रश्न पूछे। इन्द्रभूति जब प्रश्नों का उत्तर देने में असमर्थ रहा, तो उसने कहा कि मैं तुम से क्या शास्त्रार्थ करूं ? चलो तुम्हारे गुरु से ही शास्त्रार्थ करूंगा। इस प्रकार जब इन्द्रभूति महावीर के समक्ष पहुंचा तो उसने 'जयति हुअण' नामक स्तोत्र का पाठ करते हुए उन्हें नमस्कार किया।[1] विक्रम की प्रथम शती में जैन आचार्य कुन्दकुन्द ने तित्थयर शुद्धि[2] की रचना की है। इस स्तोत्र के केवल आठ गाथाएं हैं, जिनमें प्रथम कुन्दकुन्दने प्राकृत में सिद्धभक्ति, श्रुतिभक्ति, चरित्रभक्ति, योगभक्ति, आचार्यभक्ति और निर्दाणभक्ति की भी रचना की है। भद्रबाहु के नाम से 'उवसगहर'[3] स्तोत्र की रचना मानी जाती है। इस स्तोत्र में केवल पांच पद्य हैं।

मानतुंग सूरि का 'भयहर'[4] स्तोत्र भी प्राकृत भाषा का अच्छा काव्य है। इसमें २१ पद्य हैं और भगवान् पार्श्वनाथ की भक्ति प्रदर्शित की गई है। धनपाल कवि द्वारा विरचित 'ऋषभपंचाशिका'[5] पचास पद्यों का प्रसिद्ध स्तोत्र है। इसी प्रकार अभयदेव का 'महावीरस्तोत्र', जिनवल्लभसूरि का 'पंचकल्याणक स्तोत्र' और जिनप्रभसूरि का 'चतुर्विशति जिनकल्याणकल्प' भी प्राकृत के प्रसिद्ध स्तोत्रों में हैं।

यद्यपि जैन स्तोत्रों का समारम्भ प्राकृत से ही हुआ, तथापि आगे चलकर यह स्थिति एकदम बदल गई और प्राकृत का स्थान संस्कृत भाषा ने ले लिया। ऐसा क्यों हुआ ? इसका क्या कारण था ? इत्यादि प्रश्नों पर विचार न करके वर्तमान सन्दर्भ में तो हमें केवल जैन स्तोत्रों पर ही संक्षिप्त दृष्टिपात करना है।

विक्रम की द्वितीय शताब्दी से ही जैन कवि संस्कृत भाषा में स्तोत्रों की रचना करते आ रहे हैं। संस्कृत भाषा में सबसे प्राचीन स्तोत्र आचार्य समन्तभद्र के उपलब्ध हैं। आचार्य समन्तभद्र के स्वयंभूस्तोत्र, देवागमस्तोत्र, युक्त्यनुशासन और जिनशतकालंकार चार स्तोत्र ग्रन्थ हैं। ये उच्चकोटि के दार्शनिक स्तोत्रकाव्य हैं। इस प्रकार करने से जैन स्तोत्रों ने स्तोत्रकाव्य को समृद्ध करने में महान् योगदान दिया है, जिसके परिणामस्वरूप यह स्तोत्रमन्दाकिनी अजस्र स्वरूप से प्रवाहित रही।

---

१. पुरातन जैन वाक्यसूची, वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा, प्रस्तावना, वही, पृ० १२
२. प्रभाचन्द्राचार्यकृत संस्कृत-टीका-सहित, दशभक्ति, सोलापुर, वही, पृ० १७-१८
३. जैनस्तोत्रसंदोह, द्वितीय भाग, अहमदाबाद, वही, पृ० १-१३
४. जैनस्तोत्र संदोह, द्वितीय भाग, अहमदाबाद, पृ० १४-१९
५. काव्यमाला, सप्तम गुच्छक, निर्णयसागर, बम्बई, १९२६ ई०, पृ० १२४-१३१

बौद्ध स्तोत्र

बौद्ध विद्वानों ने भी अपनी मान्यता के अनुसार अनेक स्तोत्रों की रचना की है, जिन्हें नीचे उद्धृत किया जा रहा है।

मातृचेट ने, जो अश्वघोष का समकालीन रहा, दो सूक्तचक्रों, चतुःशतक स्तोत्र और पंचशतक स्तोत्र की रचना की जिनमें, क्रमशः चार सौ और एक सौ पचास श्लोक हैं। इन कृतियों के मूल संस्कृत रूप के कुछ अंश ही उपलब्ध हैं, यद्यपि इनका पूर्ण-रूप तिब्बती और चीनी भाषाओं में सुरक्षित है। इन दोनों में ही उदार बुद्ध की हार्दिक स्तुतियां की गई हैं। यथा "वासना की धूलि को छुड़ाने में तुम्हारी वाणी वर्षामेघ के समान कार्य करती है। सर्वदा नवीन, यह अज्ञान के अन्धकार को मध्याह्न की भांति विसर्जित कर देती है। यह आत्मपाखण्ड के पर्वतों को विदीर्ण करने के लिए इन्द्र के वज्र के समान है। तुम निन्दक को सहनशीलता से, क्षति पहुंचाने वाले को आशीर्वाद से, अपवादियों को सत्यता से, प्रतिशोधियों को मित्रता से विजित करते हो।"

बुद्ध को सम्बोधित चौबीस श्लोकों के सुप्रभात स्तोत्र नामक स्तुतिकाव्य का लेखक सम्राट् हर्ष को माना गया है। आठवीं शती में काश्मीर के सर्वज्ञ मित्र ने बौद्ध देवी तारा की स्तुति में सैंतीस श्लोकों का एक स्तोत्र रचा था। नवीं शताब्दी में वज्र-वत ने अवलोकितेश्वर की स्तुति में एक स्तोत्र की रचना की थी। तेरहवीं शताब्दी में बंगाल के एक ब्राह्मण रामचन्द्र कवि भारती, जो लंका जाकर बौद्ध हो गये और तदुपरान्त उन्होंने बुद्ध की स्तुति में एक स्तोत्र की रचना की जो काव्यशैली पर आधारित हिन्दु भक्ति और प्रेम की अतिरंजित भावनाओं से ओत-प्रोत है। ज्यों-ज्यों शताब्दियां व्यतीत हुईं भारत बुद्ध को भूल-सा गया, किन्तु सोलहवीं शताब्दी जैसे बाद के समय में भी अयोध्या के एक कवि रामचन्द्र भट्ट ने उनका स्मरण किया।[1]

४. स्तोत्रकाव्यों में स्तुतिकुसुमांजलि का स्थान

इस विशालकाय स्तुतिग्रन्थ में एकमात्र सदाशिव का गुणगान है। प्रत्येक स्तोत्र का नाम विषयवर्णन के अनुकूल रखा गया है। इस स्तोत्रकाव्य में ऐसे प्रभावोत्पादक तथा हृदयद्रावक ढंग से अपने आराध्य को आत्म-निवेदन किया है, कि जिसे पढ़ने से कठिन-हृदय व्यक्तियों का चित्त भी भक्तिभाव से आर्द्र हो जाता है। विशेषकर सप्तम, अष्टम तथा नवम स्तोत्रों में कवि ने करुण रस का परिपाक बड़े सुन्दर ढंग से किया है।[2] स्तोत्रकाव्य का प्रमुख रस शान्त, करुण तथा भक्ति ही होता है, जिसका

---

१. संस्कृत साहित्य का नवीन इतिहास, पृ० ४४४

२. स्तु० ६।२८

निर्वाह स्तुतिकुसुमांजलि में सफलतापूर्वक हुआ है, परन्तु गौण रूप से प्रसंगवश शृंगार हास्य आदि अन्य रसों के उदाहरण भी उपलब्ध हैं।

जगद्धर के समय स्तोत्रपरम्परा निर्गुण, सगुण भेद से दो पृथक् धाराओं में प्रवाहित थी। जगद्धर ने समन्वयात्मक दृष्टि से उसे एक करने का सफल प्रयास किया। अतएव इस स्तोत्रावली में भगवान् सदाशिव का उभयविध वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया गया है। इस कारण यह स्तोत्रकाव्य परमात्मा के सम्बन्ध में प्रचलित, विशेषत: शिव से सम्बन्ध रखने वाली, समस्त वैदिक मान्यताओं का विशद स्पष्टीकरण करने में पूर्ण समर्थ है। इस ग्रन्थ के गहन अध्ययन करने के बाद शिवविषयक समस्त जानकारी हो सकती है। स्तोत्रकाव्यों में इतना गम्भीर एवं विस्तृत विवेचन सुलभ नहीं है, जो जगद्धर ने किया है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी को स्तुतिकुसुमांजलि के सम्बन्ध में कहना पड़ा—

"कुछ विद्वानों का विचार है कि महिम्नस्तोत्र से बढ़कर कोई स्तोत्र नहीं। स्तोत्ररत्नाकर आदि में प्रकाशित अन्य कितने ही स्तोत्रों के सुन्दर भावों और सरस उक्तियों पर कुछ लोग मुग्ध हो जाते हैं। शंकराचार्य की सौन्दर्य-लहरी और जगन्नाथ की गंगालहरी की भी प्रशंसा अनेक रसिकों के मुख से सुनी जाती है। परन्तु हमारी सम्मति तो यह है कि स्तुतिसाहित्य में इस कुसुमांजलि से बढ़कर कोई ग्रन्थ नहीं। उसकी कविता इतनी सरस है, उसके स्तवनों में अधिकांश भाग इतने कारुणिक हैं, और उसने अपने आत्मनिवेदन को ऐसे प्रभावोत्पादक और हृदय-द्रावक ढंग से किया है कि पढ़ते-पढ़ते हृदय पसीज उठता है, आंखों में अश्रुधारा बह निकलती है और मन-बेतरह विकल हो उठता है। उसकी नई-नई उक्तियां, उसके विचित्र-विचित्र उपालम्भ, उसके करुण-क्रन्दन के अनूठे-अनूठे ढंग पढ़ने वाले के हृदय पर बहुत ही आश्चर्यजनक प्रभाव उत्पन्न करते हैं।"[1]

इस स्तोत्रावली का विस्तार एवं गाम्भीर्य उभयविध अध्ययन करने पर यह दृढता से कहा जा सकता है कि वेदों में जो स्थान ऋग्वेद का है तथा पुराणों में जो स्थान श्रीमद्भागवत का, स्तोत्रकाव्यों में वही स्थान स्तुतिकुसुमांजलि का है। इससे अधिक तो क्या, इसकी समता वाला कोई भी स्तुतिकाव्य दुर्लभ है।

इस स्तुतिकुसुमांजलि में भक्त कवि ने भक्ति के सभी भावों को श्रद्धा, विश्वास एवं सहृदयता की सभी मान्यताओं को सजीव रूप से प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है। भक्त कवि को पूर्ण विश्वास है कि सरस्वती की कृपा से लिखित स्तोत्र अपने उत्कट सौरभ से सहृदयों के मन को मुग्ध करेंगे।[2] इस स्तवावली को नाना

---

१. साहित्य संदर्भ, पृ० १३२-१३३

२. अयमिह किंकरेण रचितश्चरणाम्बुजयो: स्तुतिकुसुमांजलिर्भगवतस्तरुणेन्दुभृत: ।
अविरलभक्तिसिक्तनवसूक्तिलताऽवचित: कलयतु सौरभेण सुकृतां स्पृहयालु मन: ।।
स्तु० ३८।२६

उपमाओं से सुशोभित कर, कवि कहता है कि यह विद्वज्जनों के मुख-कमल में सुशोभित हो।[१] जगद्धर की यह सफल सरस्वतीसेवा उत्तरवर्ती स्तोत्रों में भी यत्रतत्र प्रतिबिम्बित होती है।

(क) स्तुतिकुसुमांजलि पर प्राचीन स्तोत्रकाव्यों का प्रभाव

शिवस्तोत्रावली—

जगद्धर भट्ट ने स्तुतिकुसुमांजलि की रचना में ९वीं शताब्दी के कवि उत्पलदेवकृत शिवस्तोत्रावली से प्रेरणा ली है। इस बात का उल्लेख अन्यत्र अनुपलब्ध होने पर भी दोनों स्तोत्रकाव्यों के गहन अनुशीलन से इस विषय की पुष्टि हो जाती है।

दोनों ही ग्रन्थकार काश्मीरी हैं। भगवान् शिव ही दोनों के आराध्यदेव हैं। दोनों शैवदर्शन के विद्वान् एवं अनुयायी हैं। दोनों ने 'भक्ति' का विशेष रूप से प्रतिपादन किया है।

निम्नलिखित तथ्यों से दोनों का साम्य प्रतीत होता है—

१. शिवस्तोत्रावली भिन्न-भिन्न नाम वाले बीस स्तोत्रों में विभक्त है। प्रत्येक स्तोत्र का अपना-अपना पृथक्-पृथक् नाम है।

स्तुतिकुसुमांजलि ३९ स्तोत्रों में विभक्त है। स्तोत्रों के नाम भी पृथक्-पृथक् हैं।

२. दोनों स्तोत्रकाव्यों में एक स्तोत्र समान नाम वाला है। शिवस्तोत्रावली का पन्द्रहवां तथा स्तुतिकुसुमांजलि का सत्रहवां स्तोत्र 'भक्तिस्तोत्र' के नाम से है।

३. शिवस्तोत्रावली के अन्तिम पद्यों में शिवस्तुति एवं भक्ति का प्रसार हो, ऐसी कामना की गयी है।

स्तुतिकुसुमांजलि के भी ३८वें स्तोत्र के अन्तिम भाग में इन्हीं भावों का उल्लेख किया गया है।

४. शिवस्तोत्रावली में जिस प्रकार की दार्शनिक विचारधारा का उल्लेख किया गया है, उसी प्रकार की दार्शनिक मान्यता स्तुतिकुसुमांजलि में भी दिखलाई गयी है।

शिवस्तोत्रावली में जगत् का कारण केवल शिव को ही माना है। शिव को जगन्निर्माण के लिए किसी साधनान्तर की आवश्यकता नहीं है।[२] स्तुतिकुसुमांजलि में इसी सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए कहा गया है कि शिव केवल

---

१. मरालमाला सरसीव निर्मले कुचस्थले हारलतेव सुभ्रुवाम्।
इयं भवत्वाभरणं महेश्वरस्तवावली वक्त्रसरोरुहे सताम्॥ स्तु० ३८।१५

२. संसारैक-निमित्ताय। शिवस्तोत्रावली, २।८

अपनी इच्छा-मात्र से ही भुवनों का निर्माण करता है ।[1] उत्पलदेव ने शिव की क्रिया-शक्ति का उल्लेख किया है ।[2] जगद्धर भी क्रियाशक्ति को इसी रूप में मानता है ।[3] उत्पलदेव ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु, रूप में बनाये गए जगत् के संहारकर्ता शिव को प्रणाम करता है ।[4] जगद्धर भी इसी प्रकार ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र-रूप-धारी शिव को नमन करता है ।[5]

५. शिवस्तोत्रावली में शिव एवं शिवा का अभिन्न सम्बन्ध दिखलाया गया है। कवि कहता है कि शिव कभी शिव होते हैं, तो कभी शिवा,[6] अर्थात् शिव की प्रधानता कभी 'शिव' के रूप में देखी जाती है और कभी 'शक्ति' के रूप में । जगद्धर ने स्तुतिकुसुमांजलि का २१वां स्तोत्र पूरा ही 'अर्धनारीश्वर' नाम से लिखा । जहां वह कहता है कि क्या यह 'शिव' है, अथवा 'शिवा' है, पूजा-विधि में यह भ्रम हो जाता है ।[7] अर्थात् शिव एवं शिवा में तात्त्विक भेद नहीं है । शिवस्तोत्रावली में कहा गया है कि शिव सदैव शक्ति के साथ रहता है ।[8] स्तुतिकुसुमांजलि में भी शिव को उमा के साथ ही लिया है ।[9]

इस प्रकार से दोनों के समान भावों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि स्तुतिकुसुमांजलि का प्रेरणा स्रोत शिवस्तोत्रावली ही रही होगी ।

६. शिवस्तोत्रावली में अनेक स्थलों पर भक्तिरस का उल्लेख किया गया है ।[10]

---

१. इच्छयेव भुवनानि भावयन् । स्तु० १।१५

२. क्रियाशक्तिमीश ते । शिवस्तो० २०।१६

३. ज्ञानक्रियस्य पुरतः स्फुरति प्रपंचः ।। स्तु० ३।५

४. ब्रह्मेन्द्रविष्णुनिर्व्यूढजगत्संहारकेलये ।
आश्चर्यकरणीयाय नमस्ते सर्वशक्तये ।। शिवस्तो० २।१३

५. नमो ब्रह्म-हरि-त्र्यक्षश्रवसे भवसेतवे ।
जगत्-सर्ग-स्थिति-ह्रास-हेतवे वृषकेतवे ।। स्तु० २।२३

६. क्वचिदेव भवान् क्वचिद् भवानी सकलार्थक्रमगर्भिणी प्रधाना ।
परमार्थपदे तु नैव देव्या भवतो नापि जगत्त्रयस्य भेदः ।। शिवस्तो० १८।२

७. किमयं शिवः किमु शिवाऽथ शिवाविति यत्र वन्दनविधौ भवति ।। स्तु० २१।१८

८. त्वमसि सदा परमेश्वरीसमेतः । शिवस्तो० १२।१५

९. उमया हृतमर्धमेव यत् । स्तु० १५।९

१०. शिवस्तोत्रावली—जयति भक्तिरसः (१४।१०), त्वद् भक्तिरसपूरितः (९।१३), स्वादुभक्तिरसास्वादः (१७।४२), पश्यन् भक्तिरस-(५।१६) ।

स्तुतिकुसुमांजलिकार ने भी भक्तिरस को सर्वोपरि मान्यता दी है।[1]

७. शिवस्तोत्रावली में योग आदि से भक्ति को गरीयसी माना है।[2] स्तुतिकुसुमांजलि में भी यह मान्यता उपलब्ध है।[3]

८. शिवस्तोत्रावलीकार ने कहा है कि जो व्यक्ति दंभ से भी भगवान् की पूजा करने का संकल्प करता है, उसे भी भगवान् का सान्निध्य मिल जाता है।[4] स्तुतिकुसुमांजलि में भी प्रकारान्तर से इन्हीं भावों का उल्लेख किया गया है।[5]

९. शिवस्तोत्रावली में एक ही स्थल पर शिव के अनेक नामों का उल्लेख करते हुए 'शिव' नाम की विशेष महिमा दर्शायी गई है।[6] स्तुतिकुसुमांजलि में भी उपर्युक्त मान्यता दृष्टिगोचर होती है।[7] दोनों स्तोत्रकाव्यों में समान रूप से 'नाम' की महिमा वर्णित है।[8]

---

१. भक्तिरसस्तव देव मतां जयति (२४।४), भक्तिरसपारणनित्यतृप्तम् (९।२५)

२. न योगो न तपो नार्चाक्रमः कोऽपि प्रणीयते।
अमाये शिवमार्गेऽस्मिन् भक्तिरेका प्रशस्यते॥ शिवस्तो० १।१८
ज्ञानस्य परमा भूमिर्योगस्य परमा दशा।
त्वद्भक्तिर्या विभो कर्हि पूर्णा मे स्यात्तदर्थिता॥ शिवस्तो० ६।९

३. मुक्तं विकल्पकवलैः सुरलोकसौख्यमालोकिता विविधशास्त्रदृशैव मुक्तिः।
पीता सुधा श्रवणशुक्तिपुटैः समक्षमास्वादिता पुनरियं शिवभक्तिरेव॥
स्तु० ९।३५। एतद्-विषयक अन्य स्थल हैं—स्तु० ३।४४, ५।२३

४. यस्य दम्भादिव भवत्पूजासंकल्प उत्थितः।
तस्याप्यवश्यमुदितं सन्निधानं तवोचितम्॥ शिवस्तो० १२।१०

५. दम्भादपि ध्रुवमनंगजितः प्रयुक्तः। सेवाविधिः प्रमदसम्पदमादधाति॥ स्तु० ८।४८

६. (क) शिव-शिव-शिवेति नामनि तव निरवधि नाथ जप्यमानेऽस्मिन्। शिवस्तो० ५।२३
(ख) ते जयति मुखमण्डले भ्रमन्नस्ति येषु नियतं शिवध्वनिः। शिवस्तो० ४।१४
(ग) अन्य स्थल द्रष्टव्य हैं—शिवस्तो० १।२०, ५।१५, १।६७, १।१९, २०।१४

७. (क) शिवस्तव शिव स्तवः प्रविहितस्ततोयं मया। स्तु० कु० २४।२७
(ख) इयत्यमुष्मिन् भुवनाध्वनि ध्वनिर्नमःशिवायेति चमत्करोति मे। स्तु०७।२२
(ग) अन्य स्थल देखिये—स्तु० कु० २।२, २४।२७

८. (क) किमिव च लभ्यते बत न तैरपि नाथ जनैः
क्षणमपि कैतवादपि च ये तव नाम्नि रताः। शिवस्तो० ११।१०
(ख) त्वन्नाम पामरजनैरपि गीयमानमानन्दमपर्यति यं हृदि भक्तिभाजाम्॥ स्तु० १२।२४

दोनों स्तोत्रकाव्यों में एक ही स्थल पर अनेक 'नामों' का उल्लेख किया गया है ।[1]

१०. शिवस्तोत्रावली में भक्ति को मुक्ति से महती कहा गया है ।[2] जगद्धरभट्ट ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया है ।[3]

११. शिव-स्तोत्रावली में भक्ति से भगवत्कृपा-प्राप्ति का उल्लेख है ।[4] स्तुतिकुसुमांजलि में भी भगवत्प्राप्ति को भक्तिसाध्य कहा गया है ।[5]

१२. शिवस्तोत्रावली में जिस प्रकार से भक्त की अवस्था का उल्लेख किया गया है[6] स्तुतिसुकुमांजलि में भी उसी प्रकार भक्त की अवस्था वर्णित है ।[7]

(२) शिवमहिम्न स्तोत्र

स्तुतिकुसुमांजलि के कतिपय श्लोक पूर्ण रूप से या अंशतः पुष्पदन्त के शिवमहिम्न स्तोत्र से भाव की दृष्टि से समान हैं। अतः यह कहना उचित होगा कि जगद्धर पुष्पदन्त के स्तोत्र से प्रभावित हैं। उदाहरणार्थ दो स्थल प्रस्तुत हैं—

१. शिवमहिम्न स्तोत्र में कहा गया है कि शिव की पूजा करते समय एक कमलपुष्प के कम होने पर विष्णु ने उस कमी की पूर्ति के लिए अपना नेत्रकमल भगवान् शिव को समर्पित कर दिया था। इस पुण्य कार्य के फलस्वरूप शिव से सुदर्शन चक्र प्राप्त कर उन्होंने तीनों लोकों की रक्षा की ।[8]

---

१. (क) शम्भो शर्व शशांकशेखर शिव त्र्यक्षाक्षमालाधर ।
श्रीमन्नुग्र कपाललाञ्छनलसद्भीमत्रिशूलायुध ॥ शिवस्तो० ११।११
अन्य स्थल देखिये शिवस्तो० २।४, १४।२

(ख) सर्वज्ञशम्भुशिवशंकरविश्वनाथ-मृत्युञ्जयेश्वर-मृड प्रभृतीनि देव ।
स्तु० ११।८३

अन्य स्थल देखिए—स्तु० कु० १०।५७, १४।४

२. शान्तये न सुखलिसुता मनाग् भक्तिसम्भृतमदेषु तैः प्रभोः ।
मोक्षमार्गणफलापि नार्थना स्मर्यते हृदयहारिणः पुरः ॥ शिवस्तो० १८।१५

३. मुक्तिर्हि नाम परमः पुरुषार्थ एकस्तामन्तरायमवयन्ति यदन्तरज्ञाः ।
किं भूयसा भवतु सेव सुधामयूख-लेखाशिखाभरण भक्तिर भंगुरा वः ॥ स्तु० ३।४४

४. त्वं भक्त्या प्रीयसे । शिव० स्तो० १६।२१

५. नानुग्रहस्तव विना त्वयि भक्तियोगम् । स्तु० ६।३३

६. (क) आनन्दवाष्पपूरस्खलितपरिभ्रान्तगद्गदाक्रन्द । शिवस्तो० ६।१६

(ख) त्वत्पादपद्मसंस्पर्शपरिमीलितलोचन···। शिवस्तो० ५।५

७. मीलद्विलोचन-समुद्ग-समुद्गताश्रु···। स्तु० १।२४
अन्य स्थल द्रष्टव्य हैं—स्तु० ३।१८, ७।३५, ६।२७ ।

८. हरिस्ते साहस्रं कमलबलिमाधाय पदयोर्यदेकोने तस्मिन्निजमुदहरन्नेत्रकमलम् ।
गतो भक्त्युद्रेकः परिणतिमसौ चक्रवपुशा त्रयाणां रक्षायै त्रिपुरहर जागर्तिजगताम् ॥
शिवमहिम्न १९ ।

जगद्धर ने इस आशय को इस प्रकार कहा है—

शंकर के चरणों में उत्कट भक्ति के कारण विष्णु (श्रीकृष्ण) ने शिवपूजा में अपना नेत्रकमल अर्पित कर दिया था। कृष्ण (विष्णु) ने शिव से सुदर्शन चक्र प्राप्त कर तीनों लोकों को अपने वश में कर लिया।[1]

२. स्तुतिकुसुमांजलि में गर्वित रावण के द्वारा भगवान् शिव के विनाशभूत कैलाश पर्वत को उठाने तथा रावण के इस कर्म से पार्वती के भयभीत होने का वर्णन है।[2] इसी अभिप्राय को महिम्नस्तोत्र के एक पद्य में दर्शाया है।[3]

अन्य स्थलों[4] पर भाव-साम्य द्रष्टव्य है।

आचार्य शंकरकृत स्तोत्रों से साम्य

आचार्य शंकर का विचार है कि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार का कारण एकमात्र शिव ही है।[5] आचार्य शंकर द्वारा पूरे पद्य में प्रकटित ये भाव, जगद्धर के पद्यार्ध में वर्णित हैं।[6]

आचार्य शंकर ने "शिवाष्टक" नामक स्तोत्र के एक ही पद्य में दक्षप्रजापति-यज्ञविध्वंस, त्रिपुरासुर तथा ब्रह्मा से सम्बन्धित उपाख्यानों का उल्लेख किया है।[7] इस

---

१. कृष्णेन त्रिजगत्प्रसिद्धविजयप्रख्यातिना लोचनं
भक्त्या वामवसूनुना कृतवता पादाब्जपूजाविधौ।
यस्मादाप्तसुदर्शनेन निखिलं विश्वं विधेयीकृतं
कृष्णेनैव स धूर्जटिर्घटयतु श्रेयांसि भूयांसि नः॥ स्तु० ३।५२

२. दशास्यभुजमण्डलीतरलितैकपिङ्गाचल-
त्रसद्गिरिसुताहठग्रथितकण्ठपीठो हरः॥ स्तु० ६।६

३. अमुष्य त्वत्सेवासमधिगतसारं भुजवनं
बलात्कैलासेऽपि त्वदधिवसतौ विक्रमयतः।
अलभ्या पातालेऽप्यलसचलितांगुष्ठशिरसि
प्रतिष्ठा त्वय्यासीद् ध्रुवमुपचितो मुह्यति खलः॥ शिवमहिम्न १२

४. (क) स्तु० २।२७-३०, ६।५
(ख) शिवमहिम्न १०, २९, ३०

५. त्वत्तो जगद् भवति देव भव स्मरारे
त्वय्येव तिष्ठति जगन्मृड विश्वनाथ।
त्वय्येव गच्छति लयं जगदेतदीश
लिंगात्मकं हर चराचरविश्वरूपिन्॥ वेदसार शिवस्तोत्र

६. जगत्सर्ग-स्थिति-ह्रास-हेतवे वृषकेतवे॥ स्तु० २।२३

७. दक्षप्रजापतिमहामखनाशनाय
क्षिप्रं महात्रिपुरदानवघातनाय।
ब्रह्मोर्जितोर्ध्वगकरोटिनिकृन्तनाय
योगाय योगनमिताय नमः शिवाय॥ शिवाष्टक, ५

प्रकार का उल्लेख जगद्धर ने भी दो स्थलों पर किया है ।[1]

आचार्य शंकर ने शिव को सूर्य, चन्द्र, वरुण और पवन से सेवित माना है ।[2] जगद्धर ने भी अग्नि, चन्द्रमा और सूर्य को शिव के नेत्र के रूप में एक प्रकार से सेवक ही दर्शाया है ।[3]

भर्तृहरि

जगद्धर का कथन है कि हे शिव, नीरोग शरीर, तरुण अवस्था, शास्त्राभ्यास से सुसंस्कृत मति, सम्माननीया (ब्राह्मण) जाति, तथा भक्तिमात्र से अतिसुलभ आप जैसे स्वामी, इस प्रकार की सुकृतों से प्राप्त सामग्री जब तक विघटित नहीं होती, उससे पहले ही मेरा करुणाक्रन्दन सुन लीजिए ।[4]

जगद्धर के ये भाव भर्तृहरि के निम्नलिखित पद्य में प्रकारान्तर से प्रतिबिम्बित हो रहे हैं । जैसे—

यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत् क्षयो नायुषः ।
आत्म-श्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
सन्दीप्ते भवने हि कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ।।[5]

अन्यत्र जगद्धर कहता है कि कलि-काल के पाप से कलुषित हुआ हमारा मन-रूपी दर्पण, सम्मुख स्थित वस्तु को भी नहीं देखता था, किन्तु अब शिव की स्तुतिरूपी तरंगों से स्वच्छ हुए इस मन रूपी दर्पण में समस्त जगत् स्पष्ट दिख रहा है ।[6] इन्हीं भावों को भर्तृहरि ने भी वैराग्यशतक में दिखलाया है ।[7]

(ख) परवर्ती स्तोत्रों पर स्तुतिकुसुमांजलि का प्रभाव

(१) रत्नकण्ठ

रत्नकण्ठ ने स्तुतिकुसुमांजलि की संस्कृत टीका के साथ-साथ अनेक पद्यों की रचना भी की है । इन पद्यों का स्तुतिकुसुमांजलि से साम्य होना स्वाभाविक है ।

---

१. स्तु० ८।४, ६
२. आदित्यसोमवरुणानिलसेविताय । शिवाष्टक, ८
३. स्तु० १।२३
४. शरीरं नीरोगं, नवमपि वयः संस्कृतिमती
मतिर्वन्द्या जातिः प्रभुरपि भवान् भक्तिसुलभः ।
इतीयं सामग्री सुकृतशतलभ्या विघटते
न यावत्तावन्मे शृणु करुणमाक्रन्दितमिदम् ।। स्तु० १०।८४
५. वैराग्यशतक, श्लोक-८८
६. स्तु० ३८।२२
७. वैराग्यशतक, श्लोक ७०

जगद्धर कहता है—हे चन्द्रमौले, मेरे करुण आलाप को सुनो। हे परमकारण शिव, आपके सिवाय और कौन ऐसा मल्लाह होगा जो एक नाव के खण्ड को (चन्द्रखण्डको) धारण कर लोगों को समुद्र से (भवसागर से) पार कर देता है।[1] रत्नकण्ठ ने संस्कृत टीका में इन्हीं भावों को प्रकारान्तर से प्रस्तुत किया है। यथा

कथ न लोके परिहास्यतामहं व्रजाम्यतीवार्तिकदर्थिताशयः।
भवाम्बुधिं ततुं मकर्णधारकं जडो यतो याम्युडुपार्धधारिणम् ॥[2]

स्तुतिकुसुमांजलि की संस्कृत टीका के अनेक स्थलों पर इस प्रकार के अनेक पद्य उपलब्ध हैं।[3] ये सभी पद्य स्तुतिकुसुमांजलि से प्रभावित हैं।

(२) राजानक शितिकण्ठ (पन्द्रहवीं शताब्दी)

स्तुतिकुसुमांजलि के संस्कृत टीकाकार रत्नकण्ठ ने संस्कृत टीका (९।६३) में एक पद्य राजानक शितिकण्ठ के नाम से उद्धृत किया है। शितिकण्ठ काश्मीरी विद्वानों में माननीय थे। इन्होंने "महानयप्रकाश" नामक ग्रंथ में शिव-शिवा की विविध लीलाओं का वर्णन किया है। इनकी प्रकाशित रचना अनुपलब्ध है।[4]

स्तुतिपद्य में जगद्धर यमराज से कहता है—तुम अन्य पुरुषों को अपने भयंकर हुंकार दिखलाओ। शिव-भक्तों पर तुम्हारा यह प्रभाव काम नहीं करेगा। तुम यदि शिवभक्तों को भी भय दिखलाना चाहते हो, तब तो तुम्हारी यह आशा अत्यन्त निन्दित है।[5]

जगद्धर के इसी अभिप्रायानुसार राजानक शितिकण्ठ भी कालराज को उलाहना देते हुए कहते हैं—

नित्यं दुर्ललितोऽसि दीनदमने त्वं चेत्तथापि ध्रुवं
रे रे काल कराल मुञ्च विमते व्यर्थां दुराशामिमाम्।
किं मन्ये प्रहरिष्यसे जनमिवानाथं बतैनं हठात्।
ख्यातं शंकरकिंकरं त्रिभुवने प्रेमैकपात्रं विभोः ॥[6]

इन दोनों स्तुतिपद्यों में भावसाम्य स्पष्ट रूप से प्रतीत हो रहा है।

---

१. आक्रन्दमिन्दुधर धारय देव कर्णे कस्त्वत्परः परमकारण कर्णधारः।
मूर्ध्ना वहन्नुडुपखण्डमखण्डपुण्यं कं कं न तारयसि संसृतिसागराद्यः ॥ स्तु० ११।१०
२. स्तु० संस्कृत टीका, ११।१०
३. स्तु० संस्कृत टीका ५।५, ८।४४, ९।२२, ३०, ११।१४, १०३
४. विश्व संस्कृत शताब्दी ग्रंथ, जम्बु-काश्मीर भाग, पृ० १४७
५. अन्यत्र दर्शय निरंकुश हुंकृतानि कीनाश नाशय दुराशय माऽभिमानम्।
नाथीकृतेन्दुमुकुटानपि नाथ मन्ये निर्भर्त्सयिष्यसि हतैव तवेयमाशा ॥ स्तु० ९।६३
६. स्तु० संस्कृत टीका, ९।६३

(३) हिन्दी भक्तकवि तुलसीदास

स्तुतिकुसुमांजलि से विनयपत्रिका की समता

"विनयपत्रिका" के प्रसिद्ध "हरिशंकर" पद में विष्णु और शिव दोनों को समान मानते हुए दोनों में ऐक्य स्थापित किया गया है। भगवान् शंकर के इस रूप को ध्यान में रखते हुए तुलसी ने उन्हें राम के समान ही असाधारण एवं अप्रतिम गुणों शक्तियों तथा प्रभावों से समन्वित करके उनकी स्तुति की है।

मन के सम्बन्ध में तरह-तरह की शिकायतें[1], शंकर से अपने को शरणहीन और अनाथ बताकर बार-बार अपने उद्धार की प्रार्थना करना[2], प्रभु की शक्ति को ललकारना तथा उन्हें अनेकविध उलाहना देना[3], इत्यादि भाव 'विनयपत्रिका' में भी उसी तीव्रता और मार्मिकता के साथ अंकित हैं। ३१वें स्तोत्र के अनेक श्लोकों में जगद्धर ने शंकर की आराधना के लिए भक्तों को प्रेरित किया है।[4] अन्त में तीन पद्यों में कवि ने शंकर से उनके शीतल चरणकमलों को अपने सिर पर रखने की तथा अपने को सनाथित करने की प्रार्थना की है।[5] 'विनयपत्रिका' में तुलसी ने भी भक्तों को रामनाम का जप करने, उनकी शरण जाने तथा उनके प्रति समर्पित होने का उपदेश अनेक पदों में दिया है।[6] स्तुतिकुसुमांजलि के १७ वें स्त्रोत्र में कवि ने भक्ति की महिमा का वर्णन किया है। एक श्लोक में वह कहता है कि महामहिम वैभवशाली परमेश्वर भी जिस भक्ति का क्रीडाशुक बन जाता है, ऐसी तीनों लोकों में अद्भुत प्रभावशालिनी भक्ति धन्य है।[7] विनयपत्रिका के उत्तरार्द्ध के अनेक पदों में तुलसी ने भी भक्ति को परम दुर्लभ, अद्भुतशक्ति-सम्पन्न एवं भगवान् को वश में करने का एकमात्र उपाय माना है।[8] यहां 'विनयपत्रिका' पर 'स्तुतिकुसुमांजलि' के जिस प्रभाव की चर्चा की गई है उसे सिद्धान्तग्रहण के रूप में लिया जा सकता है।

---

१. स्तु० चतुर्थ स्तोत्र—विनयपत्रिका ४।६६, ५।६, ७।१, १०।६
२. स्तु० ६।१७ तथा वि० पा० ८६।६, १७०, २४५ इत्यादि।
३. स्तु० ६।३ तथा ३२।१-८१, वि०प० १।४, १४३, इत्यादि में प्रभु से उद्धार की प्रार्थना है।
४. स्तु० ११।१०२-४, वि०प० १०३ में कवि ने भगवान् को अनामी, निर्बल, व्याकुल, व्यंग्य, निर्दयी, सामर्थ्यहीन इत्यादि कहा है। वि० प० ३२।१, ११२।५ आदि में भी।
५. स्तु० ३२।६-१० भजध्वं गिरजा० (१-५ तक के श्लोक का अन्तिम अंश)
६. वि० प० ६०, ६६, १२८, १८६ इत्यादि।
७. स्तु० १७।८, १७।१०, १७।२६।
८. वि०प० ६८, १००, १३६।१०, २३६

जगद्धर यमदूतों से भयभीत होकर अनेक श्लोकों में मृत्यु से रक्षा करने की प्रार्थना शिव से करते हैं। 'दीनाक्रन्दन' नामक ग्यारहवें स्तोत्र में कवि ने अत्यन्त करुणाजनक विलाप किया है। उसने यम से रक्षा न होने पर भगवान् शंकर को अनेक-विध उलाहना दिया है।[१] 'विनयपत्रिका' में तुलसी भी इसी प्रकार कलियुग से घबराए हैं। कलि की दुर्दशा से अपने को तथा समाज को बचाने के लिए उन्होंने अनेक पदों में राम, शंकर से उसी प्रकार विकल प्रार्थना की है तथा लगभग उसी शैली में उलाहना भी दिया है।[२] अतः सिद्धान्तग्रहण की दृष्टि से, 'विनयपत्रिका' के उपजीव्य काव्य के रूप में स्तुतिकुसुमांजलि के इन स्थलों का पर्याप्त महत्त्व है।

इन दोनों कृतियों की शैली में भी समानता है। 'स्तुतिकुसुमांजलि' का उपसंहार करते हुए कवि कहता है कि "मुझ सेवक ने भक्ति-सुधारस से सींची हुई नवीन सूक्ति रूपी लताओं से चुनकर संगृहीत यह 'स्तुतिकुसुमांजलि' शशिशेखर-शंकर के चरणकमलों में समर्पित कर दी है।"[३] तुलसी ने भी इसी प्रकार भक्तिसुधारस से सिक्त एवं नवीन सूक्तियों से समलंकृत 'विनयपत्रिका' राम के चरणों में अर्पित की है। 'स्तुतिकुसुमांजलि' के एक श्लोक में कहा गया है कि "शरणागतों को वर देने वाली, दया, दाक्षिण्य आदि गुणों से युक्त हे मां गिरिजे, यह मेरी काव्य-वाणी रूपी धेनु जो कुछ भी परिमित स्तुति-दुग्ध बहा रही है, उसे प्रभु के आशय को भलीभांति जानने वाली, आप उचित समय पर प्रभु को अच्छी तरह निवेदित कर देने की कृपा करें।"[४]

'विनयपत्रिका' के आरम्भ[५] में तुलसी ने भी राम के पार्षदों की स्तुति की है जिसमें अप्रत्यक्ष रूप से इस पत्रिका को राम तक पहुंचाने का संकेत है। उसकी पूर्ति पत्रिका के अन्त में लक्ष्मण द्वारा हुई है।[६] इस प्रकार की समता के कुछ स्थल 'स्तुतिकुसुमांजलि' एवं 'विनयपत्रिका'[७] में समानता रखते हैं।

तुलसी के द्वारा 'विनयपत्रिका' की रचना में जगद्धर भट्ट से प्रेरणा प्राप्त करने की सम्भावना डा० सरनामसिंह तथा श्री किशोरीदास वाजपेयी ने बहुत पहले की थी। अतः 'विनयपत्रिका' की उपजीव्यता के रूप में 'स्तुतिकुसुमांजलि' की स्थिति सुनिश्चित है।[८]

---

१. स्तु० ११।१०१-४
२. वि०प० ८, ३२, ६४, २४१।५, २५८।३-४ इत्यादि
३. स्तु० ३८।२६
४. स्तु० ११।२७
५. वि०प० २५-४०
६. वही २७९
७. स्तु० ११।२७, वि० प० ४१।४२
८. विनयपत्रिका : विश्लेषण एवं मूल्यांकन, पृ० २८४, डा० मालती चौरसिया।

इस प्रकार प्राचीन स्तोत्रों के भावों को अपने में समेटती हुई तथा अर्वाचीन स्तोत्र कवियों को अपने सुन्दर भावों से प्रभावित करती हुई, स्तुतिकुसुमांजलि-सरिता भक्त हृदय को भक्तिरस से अनवरत आप्लावित कर रही है।

निष्कर्ष

इस प्रकार समीक्षा करने पर निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि स्तोत्र का उदय मनुष्य के साथ ही हुआ। स्तोत्रों का आदिम ग्रन्थ वेद है। वेद के अतिरिक्त स्तोत्रों का यह प्रवाह ब्राह्मण, उपनिषत्, महाभारत एवं पुराणों के माध्यम से अनवरत प्रवाहमान रहा। अनुमानतः पुराणोत्तर-काल में यह प्रवाह विभिन्न धाराओं में विभक्त होकर स्वतन्त्र स्तोत्रकाव्य के रूप में परिणत हो गया। परिणामस्वरूप स्वतन्त्र स्तोत्र लिखे जाने लगे, ऐसे स्तोत्रों में जगद्धर की स्तुतिकुसुमांजलि अपना विशिष्ट स्थान रखती है।

सम्भवतः स्तुतिकुसुमांजलिकार को यह स्तोत्र लिखने की प्रेरणा उत्पलदेवकृत शिवस्तोत्रावली से मिली होगी। जैसा कि पिछले पृष्ठों पर दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट ही है।

इसके अतिरिक्त शिवमहिम्नस्तोत्र एवं आचार्य शंकर आदि के स्तोत्रों से भी पर्याप्त भावसाम्य एवं सिद्धान्त-ग्रहण का उल्लेख किया गया है।

स्तुतिकुसुमांजलि का उत्तरवर्ती स्तोत्रकाव्य पर कैसा प्रभाव है, इस बात को दर्शाने के लिए रत्नकण्ठ, शितिकण्ठ तथा हिन्दी के महाकवि तुलसीदास के साथ स्तुतिकुसुमांजलि का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। तुलसीदास ने 'विनयपत्रिका' लिखने की प्रेरणा, स्तुतिकुसुमांजलि से ली है। इसका सोदाहरण विवेचन पीछे किया है।

इस समस्त विवेचन के आलोक में यह कहा जा सकता है कि वैदिक-काल से आधुनिक काल तक अनवरत चलती हुई इस स्तोत्रकाव्य-परम्परा में अनेक स्तोत्र-मुक्तावली हैं। जगद्धर की कृति को उसमें सुमेरु-स्थानीय कहा जा सकता है। क्योंकि स्तोत्रकाव्यों में भावगाम्भीर्य एवं विषय की व्यापकता से युक्त कोई भी स्तोत्रकाव्य इसकी समता में नहीं आ पाता है। जहां तक भाषा, भाव एवं विषय-प्रतिपादन का सम्बन्ध है, सम्भवतः अन्य स्तोत्रकाव्यों में भी मिल जाये, परन्तु श्लोकों की अधिक संख्या के साथ विविध भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति वाले विशाल स्तोत्र-काव्य का मिलना, इसके अतिरिक्त सम्भव नहीं है। अतः अपनी विशालता के परि-धान में भाषा, भाव आदि को समेटे यह कृति स्तोत्रकाव्यमाला का सुमेरु मानी जा सकती है।

तृतीय अध्याय

स्तुतिकुसुमांजलि का भक्तिपक्ष

१. भक्ति का स्वरूप

'भक्ति' शब्द की उत्पति 'भजसेवायाम्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय करने से हुई है। जिसका अर्थ है, भजना, अर्थात् किसी को भजना, उसका स्मरण करना। महर्षि शांडिल्य का कथन है—'ईश्वर के प्रति परानुरक्ति भक्ति है।[१] नारदभक्तिसूत्र में बताया गया है कि भक्ति प्रेमरूपा और अमृतस्वरूपा है, जिसे प्राप्त करके मनुष्य सिद्ध, अमर और तृप्त हो जाता है।[२] 'भजना', सेवा, विभाग, विश्वास, उपचार, आश्रय लेना, आश्रित होना, आराध्य देव का नाम जपना, उसका बार-बार स्मरण और ध्यान करना भी भक्ति है।[३] हलायुधकार ने 'भजना, सेवा, विभाग, गौणवृत्तिभंगी, अनुराग, विशेष आदि को भी भक्ति में गिना है।[४] श्री रामानुज का कथन है—स्नेहपूर्वक परमात्मा में ध्यान लगाना ही भक्ति है।[५]

गर्गाचार्य का कथन है कि भगवान् की कथा आदि में अनुराग होना ही भक्ति है।[६] आदि-शंकराचार्य का मत है कि 'उस सर्वात्मा में रति होना वस्तुत: भगवान् की भक्ति ही है। और ऐसी भक्ति करने वाले को मुक्ति प्राप्त होने में कोई सन्देह नहीं है।[७] व्यास जी का कथन है कि भगवान् में माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ और सतत स्नेह ही भक्ति है। इससे अधिक मुक्ति का कोई अन्य उपाय नहीं है। यह परम प्रेम जो पूर्व-ज्ञान से उत्पन्न होता है तथा सदैव विद्यमान रहता है, भक्ति कहलाता है।[८] गोपाल-

---

१. सा परानुरक्तिरीश्वरे। शांडिल्यभक्तिसूत्र १।२

२. सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च। यांश्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति। नारदभक्तिसूत्र २-४।

३. हिन्दी शब्दसागर, पृ० ८७६

४. हलायुधकोश, पृ० ४८७

५. स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्युच्यते बुधैः। गीता ७।१ पर रामानुजभाष्य

६. कथादिष्विति गर्ग: प्रेमदर्शन, पृ० १७

७. मोक्षकारणसामग्रथां भक्तिरेव गरीयसी।
स्व-स्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते॥ प्रेमदर्शन, पृ० ४१

८. माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिक:।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा॥ महाभारततात्पर्यनिर्णय
ज्ञानपूर्वः परः स्नेहो नित्यो भक्तिरितीर्यते॥

पूर्वतापनी उपनिषद् का कथन है—'मन को भगवान् में पूर्ण रूप से केन्द्रित करके किसी फल की इच्छा किये बिना उसका निरन्तर भजन करना ही भक्ति है।'[१] श्रीमद्भागवत में भक्ति का स्वरूप यों बतलाया गया है—'मनुष्यों के लिए श्रेष्ठ वही है जिसके द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण में भक्ति हो। भक्ति ऐसी हो जिसमें किसी प्रकार की कामना न हो और जो सदा बनी रहे। ऐसी भक्ति से अपने आराध्य को प्राप्त करके भक्त सफल मनोरथ हो जाता है।[२]

नारदपंचरात्र के अनुसार प्रेम-परिप्लुत मन का हरि के प्रति स्वार्थरहित होकर सदा प्रवाहित होते रहना ही भक्ति है।[३] मधुसूदन सरस्वती ने भी कहा है—धर्मबुद्धि-पूर्वक भगवद्गुणों का आराधन करने से द्रवीभूतचित्त की अविच्छिन्न धारावाहिक तैल-धारावत्, भगवादाकार वृत्ति ही भक्ति का लक्षण है।[४] भगवान् के माहात्म्य के ज्ञान-पूर्वक, भगवान् में सुदृढ और सर्वाधिक स्नेह होना ही भक्ति कहा गया है।[५] सब प्रकार की उपाधियों (फल-कामनाओं) से विनिर्मुक्त विशुद्ध (ज्ञान-कर्म आदि के सम्पर्क से रहित) और तन्मयता से समस्त इन्द्रियवर्ग के द्वारा भगवान् का सेवन भक्ति कहलाता है।[६]

इस प्रकार प्रमुख आचार्यों तथा ग्रंथों ने 'भक्ति' शब्द के स्वरूप का प्रतिपादन किया है। इन परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि ईश्वर के प्रति परम प्रेम ही भक्ति है, जो ईश्वर-प्राप्ति का सबसे मुख्य हेतु है।

२. भक्ति की महिमा

विविध शास्त्रों के गहन अनुशीलन से ज्ञात होता है कि भक्ति मार्ग में ज्ञान, योग आदि मार्गों की अपेक्षा साधन-सारल्य एवं भगवदुपलब्धि का उत्कर्ष है। अन्य मार्गों की अपेक्षा यहां अधिकारी का प्रश्न भी गौण है। कारण कि भगवान् भक्ति के वशीभूत हैं। भक्ति में अन्य-निरपेक्षता है। अतएव भक्ति को सर्वसाधन-गरीयसी कहा जा सकता है।

---

१. भक्तिरस्य भजनम् एतावदिहामुत्रोपाधिनैराश्येनामुष्मिन् मनःकल्पनम्। गोपालतापनीय उपनिषद्-१।३

२. स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा संप्रसीदति ॥ भागवत पु० २।२।६

३. मनोगतिरविच्छिन्ना हरौ प्रेमपरिप्लुता।
अभिसंधिविनिर्मुक्ता भक्तिर्विष्णुवंशकरी ॥ नारद पंचरात्र

४. द्रुतस्य भगवद्भाव द्वारा वाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिः भक्तिरित्यभिधीयते ॥ भक्तिरसायन-सूत्र ३

५. तत्त्वार्थदीपनिबन्ध, पृ० ११४

६. सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते ॥ भक्तिरसायनसिन्धु पृ० ११

भगवान् को प्राप्त करने के अनेक साधन बताये गये हैं। इन सभी साधनों में आचार्यों ने भक्ति को ही प्रमुखता दी है। क्योंकि वह अपेक्षाकृत सहज और सुलभ है।[1] नारद जी का कथन है कि कायिक, वाचिक तथा मानसिक इन त्रिविध सत्यों से भक्ति ही श्रेष्ठ है।[2] उपनिषद् कहती है कि सब उपायों को त्याग कर भक्ति का ही आश्रय लो। भक्तिनिष्ठ होओ, भक्तिनिष्ठ हो जाओ, भक्ति से सब सिद्धियां सफल हो जाती हैं।[3] भागवतकार का कथन है कि जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि में समर्पित किया गया विशाल काष्ठचय भी भस्मसात् हो जाता है, उसी प्रकार भक्ति मनुष्य के सभी पापों का नाश करने में समर्थ है।[4]

मुक्ति आदि नाना प्रकार की सिद्धियां एवं विचित्र प्रकार की भुक्तियां श्रीहरि-भक्ति महादेवी की दासी बनकर सदा उनका अनुगमन करती हैं।[5] यदि मोक्षरूपी ब्रह्मानन्द को परार्द्ध गुण (असंख्य गुणा) कर दिया जाये तो भी भक्तिसुख के सागर के एक परमाण की समता भी मुक्ति नहीं कर सकती है।[6]

श्रीमद्भागवतमहापुराण में उद्धव के प्रति भगवान् कहते हैं कि हे उद्धव, मेरी प्राप्ति न योग से सुलभ है, न सांख्य से ही और न ही स्वाध्याय, तप एवं त्याग से ही, जैसी की मेरी भक्ति से सुलभ है।[7] क्योंकि मुक्ति को परम पुरुषार्थ कहा गया है। वह प्रेम रूप भक्ति तो कर्म, ज्ञान और योग से भी श्रेष्ठतर है।[8] कर्म, ज्ञान और योग तीनों ही भगवत्प्राप्ति के साधन हैं, परन्तु भक्ति इन तीनों में सबसे श्रेष्ठ है। उनमें वर्ण, आश्रम, अधिकार आदि का विचार है, साथ ही गिरने का भय भी है। परन्तु सच्ची भक्ति में भगवान् की पूरी सहायता रहने से कोई भी भय नहीं है। तथा इसमें स्त्री, पुरुष, ब्राह्मण, शूद्र आदि सभी का अधिकार है।

---

१. अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ। प्रेमदर्शन, पृ० ११३

२. त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी, भक्तिरेव गरीयसी ॥ वही, पृ० १८३

३. सर्वोपायान् परित्यज्य भक्तिमाश्रय। भक्तिनिष्ठो भव। भक्तिनिष्ठो भव।
भक्त्या सर्व-सिद्धयः सिध्यन्ति। भक्त्याऽसाध्यं न किंचिदस्ति।
त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्, अध्याय ८, पृष्ठ ३८२

४. यथाऽग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ॥ भाग० पु० ११।१४।१९

५. हरिभक्तिमहादेव्याः सर्वा मुक्त्यादिसिद्धयः।
भुक्तयश्चाद्भुतास्तस्याश्चेटिकावदनुव्रताः ॥ भक्तिरसा० सि०, पृ० १८

६. ब्रह्मानन्दो·············परार्द्ध गुणीकृतः।
नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि ॥ वही, पृ० १९

७. न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥ भा० पु० ११।१४।२०

८. सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा। प्रेमदर्शन पृ० २५

भक्ति के सम्बन्ध में स्तुतिकुसुमांजलिकार का कथन है कि सब पुरुषार्थों में एक मुक्ति ही परम पुरुषार्थ है। परन्तु भक्ति की विशेषता को जानने वाले लोग मुक्ति को भी भक्ति की अपेक्षा भगवान् के दर्शन में विघ्न समझते हैं।[१] जगद्धर भट्ट का दृढ विश्वास है कि शिवभक्ति प्राप्त होने पर किसी अन्य सुख की इच्छा ही नहीं होती।[२] क्योंकि अन्य लोगों ने शास्त्राध्ययन करके स्वर्ग एवं मुक्ति को ही श्रेष्ठ समझा है। परन्तु विवेकपूर्वक विचार करने से प्रतीत होता है कि शिवभक्ति ही सर्वोपरि है।[३] इस भक्ति की रचना (स्थापना) किसने किस प्रकार की होगी ? इस प्रश्न के उत्तर में स्तुतिकुसुमांजलि का मन्तव्य है कि स्वयं भगवान् शंकर ने अपने भक्तों के सन्तापशमनार्थ विविध शीतल पदार्थों के सार से भक्ति का निर्माण किया होगा।[४] वह कहता है कि मेरा यह निश्चय है कि इस जन्ममरणरूप सांसारिक विपत्ति से अत्यन्त कातर हुए प्राणियों के लिए शंकर की भक्ति को छोड़कर अन्य कोई भी अभिलषित वस्तु कल्याणदायक नहीं हो सकती।[५] इस प्रकार भक्ति को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार कर, अपनी पुस्तक में भक्ति के विविध पक्षों का अनेक स्थलों पर समर्थन किया है। स्तुतिकुसुमांजलिकार कोई भक्ति का शास्त्रीय ग्रंथ नहीं लिख रहे हैं, परन्तु भक्ति का प्रमुख व्यावहारिक अङ्ग होने से, स्वाभाविक ही स्तुति के माध्यम से भक्ति के अनेक पक्षों पर उन्होंने प्रकाश डाला है। वे अन्ततः स्वीकार करते हैं कि भक्ति सबसे श्रेष्ठ है।

३. भक्ति का उद्‌भव और विकास

भक्ति की महिमा पर विचार करने के बाद यह आवश्यक है कि भक्ति की प्राचीनता पर दृष्टिपात करें। आस्तिक भारतीय परम्परा सभी विद्याओं का मूल वेद को ही स्वीकार करती है। अतः हमें भी सर्वप्रथम भक्ति की गवेषणा वैदिक साहित्य में ही करनी है। कुछ विद्वानों की दृष्टि में वेद केवल मात्र याज्ञिक विधि का ही सर्वतः परिपोषक है तथा यत्र-तत्र ज्ञान एवं कर्म का भी प्रतिपादन करता है। परन्तु वैदिक वाङ्मय

---

१. मुक्तिर्हि नाम परमः पुरुषार्थ एकस्तामन्तरायमवयन्ति यदन्तरज्ञाः ।
किं भूयसा भवतु सैव सुधामयूखलेखाशिखाभरणभक्तिरभंगुरा वः ।।
स्तु० ३।४४।

२. भक्तिभवे यदि किमन्यसुखाभिलाषैः ।। स्तु० ९।३४

३. स्तु० ९।३५

४. किं निर्मिता मुकुटचन्द्रकलां निपीड्य किं वा शिरःशरणनिर्झरिणीजलेन ।
किं वा करस्थकलशामृतसंप्लवेन भक्तिस्त्वया प्रणयिनां भवतापशान्त्यै ।।
स्तु० ९।९।

५. मन्ये नान्यद् भवभयविपत्कातराणां नराणाम् ।
मुक्त्वा भक्तिं भगवति भवे शस्यमाशास्यमस्ति ।। स्तु० ७।४१

के अध्ययन से ऐसा लगता है कि भक्ति के वर्तमान स्वरूप का बीज वैदिक साहित्य में निहित है । क्योंकि जब से मनुष्य की कल्पना, आस्था या चिन्तन ने परोक्ष परम सत्ता, आराध्य भगवान का अनुमान या अनुभूति की, तभी से उसके निर्गुण और सगुण दोनों ही रूप चले आ रहे हैं । सगुण की भक्ति में भी निर्गुण का निर्देश है, तथापि भक्ति के लिए सगुण साकार को ही विशेष महत्व दिया गया है । ब्रह्म का निर्गुण रूप चिन्तन के लिए है । भक्ति के लिए उसका सोपाधि, सविशेष सगुण रूप लिया गया है। समस्त दृश्य-अदृश्य जगत् उसी का पसारा है।[1] भक्ति का मूल वैदिक साहित्य में निहित है ।

वैदिक साहित्य के गहन अनुशीलन से यह बात एक दम स्पष्ट हो जाती है कि वैदिक साहित्य में "भक्ति" शब्द का प्रयोग वर्तमान रूप में भले ही न भी हो, परन्तु भक्ति के समस्त मूल आधार वेद में निहित हैं । डा० विजयेन्द्र स्नातक का यह कहना उचित ही है कि भक्ति के उद्भव और विकास-क्रम के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद होने पर भी यह प्रामाणिक रूप से कहा जा सकता है कि आस्तिक भाव से ईश्वरोपासना करने वाले आर्यों में भक्ति के मूल बीज विद्यमान थे और आंशिक रूप से भक्ति के विविध रूपों का आभास उन्हें वैदिक काल में ही मिल गया था।[2] वैदिक साहित्य वेद-त्रयी के नाम से प्रख्यात है, जो ज्ञान, कर्म एवं उपासना तीनों मार्गों का निर्देश करती है । भक्ति तीनों मार्गों की पावन त्रिवेणी का संगम है । ज्ञान और कर्म-सम्पत्ति का प्रभु अनुग्रह के साथ सामंजस्य ही वैदिक भक्ति का आदर्श है। वैदिक ऋचाओं में इन्द्र, मित्र, वरुण आदि अनेकानेक नामों से भगवान् की स्तुति की गई है । ये सब भिन्न-भिन्न देवताओं के ही नाम नहीं हैं, अपितु उस एक ब्रह्म के ही विविध गुणों के आधार पर ये विभिन्न नाम वेदों में प्रयुक्त हुए हैं । स्वयं ऋग्वेद में इस विषय का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य: स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति, अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ ऋ० १।१६४।४६

इस प्रकार वैदिक संहिताओं में एकेश्वरवाद के साथ भक्तिमार्ग का प्राधान्य पाया जाता है । जिस प्रकार संहिताओं में कर्मकाण्ड की प्रधानता होते हुए भी उनके बहुत से मंत्रों में भक्ति के उद्गार मिलते हैं, उसी प्रकार उपनिषदों में भी प्रेम या भक्ति के द्वारा ईश्वर को प्राप्त करने की भावना मिलती है। उदाहरण के लिए बृहदा-रण्यकोपनिषद् के चौथे अध्याय के तृतीय ब्राह्मण में यह स्पष्ट लिखा है कि जिस प्रकार अपनी प्रियतमा से आलिंगन होने पर न कुछ बाहरी वस्तु का अनुभव होता है और न भीतरी वस्तु का, उसी प्रकार परमात्मा का आलिंगन होने पर मनुष्य न कुछ

१. भक्तिकाव्य में माधुर्य भावना का स्वरूप, पृ० ६७
२. राधावल्लभ सम्प्रदाय, सिद्धान्त और साहित्य, पृ० १

बाहरी बात जानता है, न भीतरी।[1] मुण्डकोपनिषद् के दूसरे खण्ड के ग्यारहवें मन्त्र में भी अव्यय पुरुष के पास पहुंचने के लिए तपस्या के साथ श्रद्धा को भी परमात्मा को प्राप्त करने का एक साधन बतलाया गया है। इतना ही नहीं, बल्कि अन्यत्र भक्ति का स्पष्ट निर्देश किया गया है।[2]

पुराणों में भक्तिभावना का महान् इतिहास निर्मित किया गया है। अठारह पुराणों में मत्स्य, कूर्म, वराह, वामन, नारद, ब्रह्मवैवर्त, पद्म, विष्णु तथा श्रीमद्-भागवत आदि पुराणों में भक्तिसिद्धान्त के सभी अंगों, उपांगों का विशद विवेचन सोदाहरण उपलब्ध है। पुराणों का प्रतिनिधि भागवत तो भक्ति का अजस्र स्रोत है ही जिसके सम्बन्ध में कहा गया है कि इस ग्रंथ ने मध्ययुग में भक्ति के विकास में अमिट प्रभाव दिखलाया।[3]

भागवत

श्रीमद्भागवत में भक्ति केवल साधन ही नहीं साध्य के रूप में ग्राह्य है। यहां तो भक्ति को मोक्ष से भी अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है।[4]

गीता

गीता उपनिषदों का सार है। गीता ज्ञान, कर्म एवं भक्ति तीनों की संगम-स्थली है। तथापि भक्ति के प्रति गीता का विशेष आकर्षण प्रतीत होता है। "समस्त आन्तरिक और बाह्य चेष्टाओं, कर्मों और संकल्पों को त्याग कर केवल मेरा आश्रय ग्रहण करो। मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कराऊंगा।[5]" श्रीकृष्ण का यह वचन शरणागत भाव की भक्ति का द्योतक है।

गीता में अनेक स्थलों पर भक्ति की महिमा उपलब्ध है।[6] श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा है, "अनन्य भक्ति से तुम मुझे प्राप्त कर सकते हो।[7] भक्तिपूर्वक दिये गए पत्र,

---

१. तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्। बृ०उ० ४।३

२. यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥ श्वेताश्वतरोपनिषद, ६।२१

३. तुलसी के भक्त्यात्मक गीत, पृ० ४२

४. भागवतपु०, १२।१३।१६

५. सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ गीता, १८।१८

६. भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव। गीता, ४।१०, ४।२२, ६।१४, २६, २६, १३।१०, १८।५४ भी देखें।

७. भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया। गीता, ४।२२

पुष्प, फल एवं जल को भी मैं पूर्णरूपेण स्वीकार करता हूं ।[1] इन वचनों के प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि भक्ति के विकास में गीता का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है ।

शैवदर्शन और भक्ति

शैवदर्शन में मुक्ति के साक्षात् उपाय शाम्भव और उसके सभी अन्य उपायों का आधार भक्ति है । भक्ति के बिना उपायों के प्रति मनुष्य की न रुचि होती है और न प्रवृत्ति ही ।[2] अतएव भक्ति ही परम उपाय है और वही भक्ति पराकाष्ठा को प्राप्त होने पर मोक्ष कही जाती है ।[3] यह भक्ति सबसे श्रेष्ठ साधन है । जो योग, तप तथा अर्चा आदि अन्य साधनों से सम्भव नहीं है, वह शिवप्राप्ति भक्ति से सुलभ है । जैसा कि कहा भी है—

न योगो न तपो नार्चाक्रमः कोऽपि प्रणीयते ।
अमाये शिवमार्गेऽस्मिन् भक्तिरेका प्रशस्यते ।। शिवस्तोत्रावली, १।१८

इस सम्बन्ध में शैव ग्रन्थों का मत है कि तत्त्वोपदेश सुनने पर भी उसके प्रति ईशकृपारूपी भक्ति के बिना जीव की प्रवृत्ति नहीं होती और प्रवृत्ति के अभाव में जीव उपदिष्ट ज्ञान को स्वगत नहीं कर पाता ।[4]

काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार जीव में भक्ति का उदय शिव कृपा से होता है ।[5] इसी कारण इस दर्शन में भक्ति को शक्तिपात (अनुग्रह) का प्रथम चिह्न कहा है[6]—

काश्मीर शैवदर्शन की उपर्युक्त भक्ति सम्बन्धी मान्यता का उल्लेख जगद्धर ने अत्यन्त स्पष्ट रूप से किया है । वह कहता है—हे शिव ! आपमें भक्तियोग हुए बिना (अर्थात् आपकी भक्ति के बिना) आपका अनुग्रह नहीं होता और आपके अनुग्रह के बिना आपमें भक्ति योग नहीं होता । इस प्रकार हे प्रभो ! आपके अनुग्रह और भक्ति-

---

१. पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ।। गीता, ९।२६

२. न ध्यायतो न जपतः स्याद्यस्याविधि पूर्वकम् ।
एवमेव शिवाभासस्तं नमो भक्तिशालिनम् ।। शिवस्तोत्रावली, १।१

३. भक्तिरेव परां काष्ठां प्राप्ता मोक्षोऽभिधीयते ।।
तंत्रालोकटीका, भाग-१३, पृ० १३७

४. विना प्रसादादीशस्य ज्ञानमेतन्न लभ्यते ।। अभिनव गुप्त, जयरथकृत टीका सहित, स्वच्छन्दतन्त्र भाग-५, पटल, १०।७०३

५. तस्यैव हि प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते ।। मालिनीविजयवार्तिक, श्लोक, ६९७

६. भक्तिर्हि नाम शक्तिपातस्य प्रथमं चिह्नम् । तन्त्रालोकटीका, भाग-८, पृ० ६०

योग का यह सम्बन्ध बीज और अंकुर के समान परस्पर कार्य-कारण या निमित्त-निमिति भाव से रहता है।

शंकराचार्य परम दार्शनिक थे। अद्वैतवाद के संस्थापकों में आपकी गणना है। लेकिन शंकराचार्य ने भी भक्तिपूर्ण अनेक स्तोत्र लिखे हैं,[1] जिनमें उनका भक्त रूप भी दिखाई पड़ता है। शंकराचार्य के बाद रामानुजाचार्य ने द्रविड़ देश में प्रचलित भक्ति का प्राचीन भागवत धर्म के साथ सामंजस्य स्थापित किया और उसे राष्ट्रिय धर्म बना दिया। रामानुजाचार्य की परम्परा में उनके कीर्ति-संवाहक हैं रामानन्द। दर्शनपक्ष में भी श्री रामानन्द रामानुजाचार्य की परम्परा में हैं, किन्तु उनके उपास्य लक्ष्मीनारायण की जगह सीताराम हैं।[2]

यह भक्ति-परम्परा अति प्राचीन है। परन्तु इसके स्वरूप का साहित्य-शास्त्रीय विवेचन रूपगोस्वामी से पहले किसी ने भी नहीं किया था। भले ही वेदों, पुराणों एवं भक्ति-सूत्रों में उसके बीज विद्यमान थे। शास्त्रीय पद्धति से भक्तिरस की स्थापना और भक्ति के स्वरूप के विशद विवेचन का श्रेय रूपगोस्वामी को ही प्राप्त होता है। इस तथ्य को वे स्वयं नम्रतापूर्वक कहते हैं।[3] भक्ति का पूर्ण विकसित रूप मध्ययुग में "भक्तियुग" के नाम से अलंकृत हुआ, जिसके माध्यभ से अनेक भक्त कवियों ने अपने परमाराध्य देव को प्रसन्न करने के लिए अनेक भक्ति-ग्रन्थों की रचना की। जगद्धर भट्ट को भी उसी भक्ति परम्परामाला का सुन्दर मनका कहा जा सकता है।

४. जगद्धर की भक्ति-विषयक मान्यता

चौदहवीं शताब्दी के भक्तिप्रचारकों, समर्थकों में जगद्धर का प्रमुख स्थान है। वैसे तो अनेक भक्त एवं भक्ति के आचार्य इसी काल में हुए हैं। तथापि शिवभक्ति के लेखकों में जगद्धर प्रमुख प्रतीत होते हैं। जगद्धर ने ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं लिखा, जिसमें भक्तिसिद्धान्त का लक्षणोदाहरण-पुरःसर प्रतिपादन हो। परन्तु एक हजार चार सौ उन्तालीस पद्यों में निबद्ध स्तुतिकुसुमांजलि में अनेक ऐसे स्थल हैं,

---

१. नानुग्रहस्तव विना त्वयि भक्तियोगं नानुग्रहं तव विना त्वयि भक्तियोगः।
बीजप्ररोहवदसावनयोर्न कस्य मूर्त्यै परस्परनिमित्तनिमित्तिभावः॥
स्तु० १।३३

२. देखिये आगे अध्याय आठ, पृ० ४०१

३. रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, पृ० ३१२

४. भक्तिरसस्य प्रस्तुतिरखिलजगन्मंगलप्रसंगस्य।
अज्ञेनापि मयाऽस्य क्रियते सुहृदां प्रमोदाय॥ भक्तिरसामृतसिन्धु, पृ० ८

जिनमें भक्ति के विविध पक्षों पर विचार किया गया है। जगद्धर का कथन है कि अन्य साधनों एवं पदार्थों से क्या लाभ है, अर्थात् कोई लाभ नहीं है। अत: मेरा तो यह निश्चय है कि इस जन्म-मरण रूपी सांसारिक विपत्ति से अत्यन्त कातर हुए प्राणियों के लिए केवल भगवान् शंकर की भक्ति को छोड़कर अन्य कोई भी अभिलषित वस्तु कल्याणदायक नहीं हो सकती।[1] यदि भक्तिमार्ग का अनुसरण करने से मुक्ति की प्राप्ति शीघ्र नहीं होती, तो कोई बात नहीं, जन्मजन्मान्तरीय पापों का क्षय तो निश्चित ही होगा।[2]

जगद्धर का स्पष्ट मत है कि भगवत्प्राप्ति के साधनों में भक्ति सर्वश्रेष्ठ है। अर्थात् अधिक क्या कहें, सब पुरुषार्थों में केवल एक मुक्ति ही परम (मुख्य) पुरुषार्थ माना गया है, परन्तु भक्ति की श्रेष्ठता को जानने वाले भावुक लोग उस मुख्य पुरुषार्थ मुक्ति को भी जिस भक्ति की अपेक्षा परमेश्वर के दर्शनों में विघ्न समझते हैं वही श्री चन्द्रशेखर शिव की अविच्छिन्न भक्ति आप को प्राप्त हो।[3] जो ईश्वर की आराधना का साधन है, वह अधम शरीर भी श्रेष्ठ है, किन्तु प्रभु की आराधना में विघ्न करने वाली प्रभु की ही कृपा से प्राप्त होने वाली भी मुक्ति श्रेष्ठ नहीं है।[4] इस प्रकार अनेक स्थलों[5] पर भक्ति शब्द का प्रयोग कर उसकी श्रेष्ठता बतलाई है। भक्ति के प्रति जगद्धर की अद्भुत निष्ठा है।

५. भक्ति के भेद

भक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्वभाग, लहरी दो के अनुसार—भक्ति को प्रथम दो प्रकार की कहा जा सकता है : १. परा भक्ति २. गौणी भक्ति। परा भक्ति सर्वोच्च कोटि की और सिद्धावस्था की सूचक है। गौणी भक्ति साधनावस्था के अन्तर्गत है और दो प्रकार की है : वैधी तथा रागानुगा। वैधी भक्ति में शास्त्रानुमोदित विधि-निषेध का अनुसरण करना पड़ता है—शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते। रागानुगा भक्तिभावना राग अथवा प्रेम पर अवलम्बित है। वैधी भक्ति मर्यादा का मार्ग है, जिसमें भक्त ईश्वर के ऐश्वर्य-ज्ञान से सम्पन्न रहता है। रागानुगा भक्ति दो प्रकार की है कामरूपा और सम्बन्धरूपा। गोपियों की भक्ति कामरूपा थी। सम्बन्धरूपा भक्ति भगवान् और भक्त के सम्बन्ध की दृष्टि से चार प्रकार की है। दास्य, सख्य, वात्सल्य

---

१. मन्ये नान्यद् भवभयविपत्कातराणां नराणाम्।
मुक्त्वा भक्तिं भगवति भवे शस्यमाशास्यमस्ति ॥ स्तु० ७।४१

२. मुक्तिर्न चेद् भवति, किं न गलन्त्यघानि ॥ स्तु० ८।४६

३. स्तु० ३।४४

४. वरं भवेदप्यवरं कलेवरं परं हराराधनसाधनं हि यत्।
न तु क्रतुध्वंसिनिषेवणोत्सवं विनिघ्नती मुक्तिरयुक्तिपातिनी ॥ स्तु० ७।२४

५. स्तु० ७।३४, ४१, ८।४६, ६।८, ६, ३०, ३५, ५०, १०।२, २७, ७१, ८६, १३।१३, १७ वां स्तोत्र सम्पूर्ण ही भक्तिमय है।

और दाम्पत्य। दास्य भक्ति के आदर्श हनुमान् हैं। सख्य भक्ति के उद्धव, अर्जुन और सुदामा हैं। वात्सल्य भक्ति के आदर्श नन्द, यशोदा हैं। राधा और रुक्मिणी दाम्पत्यभावशाली भक्ति के आदर्श हैं।

जीव गोस्वामी की उज्ज्वलनीलमणि के अनुसार दाम्पत्य भाव ही माधुर्य भाव है। इसी भाव से विभावादि के संयोग द्वारा निष्पन्न रस मधुर, उज्ज्वल या भक्ति रस कहलाता है।

वैधी और रागानुगा दोनों प्रकार की भक्ति साधनावस्था के अन्तर्गत है।

नारदभक्तिसूत्र (पचपन) के अनुसार परा भक्ति को प्राप्त कर भक्त प्रभु-प्रेम में विभोर हो उसी को देखता है, उसी को सुनता है, उसी को कहता है और उसी की चिन्ता करता है : तत्प्राप्य तदेवावलोकयति, तदेव शृणोति, तदेव भाषयति, तदेव चिन्तयति।

आचार्य वल्लभ ने भी ब्रह्मसूत्र ३। ३। ३९ के अणुभाष्य में भक्ति के विहिता और अविहिता दो भेद किये हैं : "माहात्म्यज्ञानयुता ईश्वरत्वेन प्रभौ निरुपधिस्नेहात्मिका विहिता। अन्यतो ऽप्राप्तत्वात् कामाद्युपाधिजा सा तु अविहिता।" अर्थात् प्रभु में माहात्म्य ज्ञानयुत निरुपधि स्नेह विहिता भक्ति है और कामादि उपाधियों के संसर्ग से अविहिता भक्ति होती है। आचार्य वल्लभ ने दोनों प्रकार की भक्ति को मोक्ष की साधिका माना है।[1]

भक्तिशास्त्र में "नवधा" भक्ति को प्रायः सभी स्वीकार करते हैं। केवल आचार्यों ने ही नहीं बल्कि भक्तों ने भी नवधा भक्ति का उल्लेख किया है। भक्ति के क्षेत्र में श्रीमद्भागवत महापुराण की प्रियता सर्वाधिक रही है, और भागवत में नवधा भक्ति का विशेष-रूपेण उल्लेख मिलता है। भक्ति के जो नौ भेद माने गये हैं, वे ये हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्या और आत्मनिवेदन।[2] प्रथम तीन (श्रवण, कीर्तन, स्मरण) श्रद्धा और विश्वास की वृत्ति की सहायक हैं। पादसेवन, अर्चन, वन्दन रूप-संबंधी साधन हैं दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन, भावसंबंधी साधन हैं। दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन "रागात्मिका भक्ति" से संबंध रखते हैं और श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन और वन्दन "वैधी भक्ति" के अंग हैं। अन्तिम आत्मनिवेदन इस नवधा भक्ति की चरम परिणति है। आत्मनिवेदन में साधन और साध्य एक हो जाते हैं। वैधी भक्ति का पर्यवसान रागात्मिका भक्ति में होता है और रागात्मिका भक्ति आत्मनिवेदन में पूर्णता को प्राप्त करती है। यही

---

१. भक्ति का विकास, पृ० ३०९

२. श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
इति पुंसार्ऽपिता विष्णोर्भक्तिश्चेन्नवलक्षणा॥
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥ श्रीमद्भागवत, १।५।२३, २४

आत्मनिवेदन आत्मसमर्पण में परिवर्तित होता है, जिसमें शरणागति का भाव सर्वोपरि रहता है।[१] उपर्युक्त नौ भेदों में से प्रथम तीन का नाम से, दूसरे तीन का रूप से तथा अन्तिम तीन का भाव से संबंध है। वल्लभाचार्य ने उन सभी लक्षणों को साधन का प्रकार माना है जिसमें दसवीं प्रेमरूपा भक्ति उत्पन्न होती है।[२] इस प्रकार इस नवधा भक्ति ने मध्ययुग के भक्तों को प्रभावित किया है।

ऐसी स्थिति में जगद्धर भट्ट ही इस प्रवाह से कैसे अछूते रहते। जगद्धर पूर्णतः शैव हैं। परन्तु भक्ति के क्षेत्र में नाम, रूप का ही भेद होता है, साधन भेद प्रायः कम ही होता है। अतः भगवान् शिव की भक्ति में भी जिन साधनों से उसकी परिपक्वता होती है, वे अनिवार्य हैं। आगे नवधा-भक्ति के परिप्रेक्ष्य में जगद्धर को प्रस्तुत करते हैं।

(क) **श्रवण**—अपने इष्टदेव के नाम, गुण, महिमा तथा लीलाओं को श्रद्धापूर्वक सुनना श्रवणभक्ति है। स्तुतिकुसुमांजलि में कहा गया है कि हे नाथ, नीच लोगों से गाया जाता हुआ भी आपका नाम, भावुक जनों के हृदय में जिस आनन्द को उत्पन्न करता है, वह आनन्द सम्पूर्ण अंगों में न समाता हुआ रोमांच के बहाने बाहर निकल आता है।[३] आपका नाम मुझे किसी अनिर्वचनीय स्थिति में पहुंचा देता है।[४] इस प्रकार के भगवद्गुण एवं चरित्र सुनने से भगवान् के चरणों में परम प्रीति एवं पापनाश होता है।[५] अतः वही श्रोत्र सफल हैं जो भगवान् के गुणों का श्रवण करते हैं।[६]

(ख) **कीर्तन**—भगवान् सदाशिव के नाम, गुण, माहात्म्य, लीला आदि का वर्णन, गान तथा उच्च स्वर से उच्चारण "कीर्तन" कहलाता है। स्तुतिकुसुमांजलि में कहा गया गया है कि नामग्रहणोत्सव में लगी हुई रसना ही सबसे श्रेष्ठ है।[७] दिक्पाल भी जिस शिव के चरित्र का गान करते हैं, मैं उसकी शरण में हूं।[८] हे नाथ,

---

१. वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन, पृ० ३०८

२. साधनादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः।
प्रेममूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्पन्दमानाः प्रकीर्तिताः॥
मध्ययुगीन कृष्णभक्ति-परम्परा और लोक-संस्कृति, पृ० ९२

३. त्वन्नाम पामरजनैरपि गीयमानमानन्दमर्पयति यं हृदि भक्तिभाजाम्।
स्वामिन्नमानवयवेष्वखिलेषु नूनमुद्भिद्यते बहिरसौ पुलकच्छलेन॥ स्तु० १२।२४

४. गद्गदोद्गतगिरश्चिरस्थिरप्रेमहेमनिकषोपलोपमम्।
शंसतः शिवशिवेति शाम्भवं नाम कामपि दशां प्रशास्ति मे॥ स्तु० १४।१४

५. गायन्ति यस्य चरितं हरितामधीशा,
धीशालिनः कमलिनीपुलिनस्थलीषु॥ स्तु० ८।३१

६. क्व सन्तताकर्णितदर्पकद्विषद्विचित्रचारित्रपवित्रिता श्रुतिः॥ स्तु० ७।२७

७. स्तु० ७।२६ ८. स्तु० ८।३१

त्रिपुरासुर-दाह, अन्धकासुर-वध, राजा श्वेत को अभयदान, और बालक उपमन्यु को क्षीरसागर का दान, इत्यादि अनेकानेक महाविचित्र चरित्र वाले आप परमेश्वर के चरितामृत के गान में अत्यन्त दृढ़ अनुराग वाली यह मेरी वाणी अन्य (सांसारिक) कृत्यों को तिलांजलि देकर केवल एक आपके ही चरितामृत के गायन में मग्न हो।[1] आप के चरितामृतों का संकीर्तन सर्वोपरि है।[2] उपर्युक्त उदाहरणों में कीर्तन भक्ति को स्वीकार करते हुए कवि उसकी महिमा का प्रतिपादन करता हुआ नामकीर्तन का माहात्म्य कह रहा है। इसी प्रकार अपने आराध्य का गुणगान भी कीर्तन भक्ति का ही अंग है।

स्तुतिकुसुमांजलि में भगवद्गुणगान करते हुए कवि कहता है—(भगवान् शिव में) वह त्रिभुवन विजयी कामदेव भी भग्न मनोरथ हो गया।[3] भगवान् विष्णु (कृष्ण) ने जिसको सेवा से प्रसन्न करके, सुदर्शन चक्र प्राप्त किया।[4] ब्रह्मा, विष्णु, और इन्द्रादिक समस्त देवताओं के मुकुटों में जड़ी हुई पद्मरागादि मणियों की प्रभा से जिसके चरण के नखों की लालिमा वृद्धि को प्राप्त हो रही है, ऐसे और विशाल नेत्रत्रयी में स्थित हुए तीनों तेजों (सूर्य, चन्द्रमा, और अग्नि) से तीनों लोकों के गाढ़ अन्धकार को समूल नष्ट करने वाले भगवान् शिव सर्वोत्कृष्ट हैं।[5] वे समस्त भुवनों के उदय-प्रलयकर्त्ता हैं।[6] जो ताण्डव नृत्य के समय पर्वतों के सन्धि-बन्धन को भेदन कर देता है, और समुद्रों के जल को उछाल देता है, चरणों के भार से लुढ़कते हुए भूमण्डल को क्षुण्ण कर देता है एवं बड़े-बड़े चपेटों से उखाड़े हुए अतएव शब्दायमान तारामण्डल से युक्त आकाश को पीस डालता है, इस प्रकार सायंकाल में अति अद्भुत ताण्डवनृत्य को आरम्भ करने वाला वह श्रीभैरव-रूपधारी शिव है[7]। जिसका पवित्र चरित्र तीनों लोकों को पावन करता है।[8] त्रैलोक्य-रक्षा के लिए त्रिपुरासुर, अन्धकासुर आदि दुष्ट दैत्यों का संहार करके शिव अपने मस्तक को इन्द्र की गोद में रखकर सुख-निद्रा में स्थित हो जाते हैं। भगवान् विष्णु जो अपने करकमलों से जिन्हें पंखा डुलाने लगते हैं और ब्रह्मा जी शतरुद्रिय आदि वैदिक मन्त्रों द्वारा सात प्रकार के सुमधुर स्वर से जिनका गुणगान करते हैं, वे शिव हैं।[9] इस प्रकार भगवान की दिव्य-लीलाओं का गुणगान किया गया है। यह कीर्तन-भक्ति के अन्तर्गत हैं।

(ग) **स्मरण**—भगवान् के नाम, उनके गुण, माहात्म्य, उनकी सर्वव्यापकता, लीलादि का ध्यान रखना तथा उन्हीं के स्मरण में लीन रहना स्मरण-भक्ति है। भक्ति के साधन में भगवान् के नाम की महिमा सर्वोपरि है। भक्त के मन में नाम

---

१. वही ६।१०
२. संकीर्तनं जयति ते चरितामृतानाम्। स्तु० ६।११
३. यस्मिञ्जातस्त्रिभुवनजयो भग्नकामः स कामः। स्तु० ३।४६
४. स्तु० ३।५२ ५. वही ६।१ ६. वही ६।८
७. स्तु० ३।५४ ८. वही ५।६ ९. वही ८।१४

इस प्रकार जम जाना चाहिये कि हर क्षण उसका जाप (स्मरण) होता रहे।

भगवान् के स्मरण का स्तुतिकुसुमांजलि में उल्लेख है। भक्त की भावना है कि अहर्निश भगवान् सदाशिव के गुणगणों को स्मरण करने वाला चित्त यदि सदैव गुणगान स्मरण में निरत हो जाय, तो मैं धन्य हूं।[1] यदि हृदय में सदा आपका स्मरण बना रहे, तो फिर वह काम-क्रोधादि-रूपी विपत्ति मनुष्य के सम्मुख कैसे आ सकती है ?[2] अतएव अरे मन, सर्वदा भगवान् शंकर के पाद-पद्म के स्मरण रूपी रसायन का पान करने में लीन हो जा।[3] हे परिणाम में दुःख देने वाले बाह्य विषयों में ही आसक्त हुआ मन, जो तू नरक में डालने वाले कामिनी के कटाक्षों में ही आसक्त हुआ अपने को साधु समझता है, श्रीशिवस्मरणरूप परमानन्द को भूल रहा है। यह बात तेरे लिए अनुचित है।[4] क्योंकि संसार रूपी मरुस्थल के भ्रमण से सन्तप्त हृदय का तीव्र ताप शिव के चरणारविन्द के स्मरणामृत के सेवन से समूल ही नष्ट हो रहा है।[5] अन्य स्थलों[6] पर भी इस प्रकार के अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं, जिनमें स्मरणभक्ति की मान्यता प्रतिबिम्बित है।

(घ) **पादसेवन**—जिस प्रकार लोक में एक सच्चा, निष्काम सेवक अपने स्वामी की सेवा करता है, उसी प्रकार भक्त के द्वारा निष्काम भावना से की गई भगवत्सेवा ही पादसेवन नामक भक्ति कहलाती है। लोक में सेवक का जो व्यवहार अपने स्वामी के प्रति होता है, वैसा कार्य भगवान् के लिए भक्त को करना चाहिए। इस सेवा के लिए भगवान् का बाह्य अथवा मानस स्वरूप प्रत्यक्ष होना आवश्यक है। पादसेवा की आरम्भिक अवस्था मूर्तिपूजा गुरुपूजा और वैष्णवपूजा में होती है। इस सेवा के अभ्यासों के बाद जब भक्त को दास्य प्रेम में एकाग्रता आ जाती है, तब वह मानसिक जगत् में भगवान् के अभौतिक चरणों की सेवा करता है।[7] पादसेवन समर्पण भक्ति का प्रमुख अंग है, इससे जीव का अहंकार गलित होकर, हृदय में भगवती भक्ति का उदय होता है।

स्तुतिकुसुमांजलिकार ने अपने स्तोत्र ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर इस भक्ति का वर्णन किया है। कवि कहता है कि अविद्या आदि पंच क्लेशों के संसर्ग से रहित होने के कारण अतीव कोमल तथा अनिवार्य यमदूतों के हुंकारजन्य त्रास का भेदन करने वाले, पाप रूप काष्ठ को भस्म करने में अग्नि के समान, जन्म-जरा-मरणरूप भयंकर रोग को समूल ही नष्ट कर देने वाले श्रीसदाशिव के पादारविन्द की सेवा के सुख को

---

१. भगवद्गुणगणस्मरणव्रतं च, भूयो भवन्ति मम चेदहहास्मि धन्यः। स्तु० ६।२८

२. यदि भवान् विदधीत हृदि स्थितिं व्यसनसम्पदसौ प्रसरेत्कथम्। स्तु० १०।८

३. अहरहर्हरपादसरोरुहस्मृतिरसायनपानपरं भव। स्तु० १०।४३

४. स्तु० १०।४४ ५. स्तु० १०।५८ ६. स्तु० ३६।२२-२३

७. वैष्णवभक्ति-आन्दोलन का अध्ययन, पृ० ३१०

कौन बुद्धिमान् पुरुष प्रतिदिन नहीं सेवित करेगा ?[१] सामान्य जनों की तो बात ही क्या, बहुत बड़ा शासन करने वाला पाकशासन (इन्द्र) भी शिव के दोनों चरणकमलों का सदा पूजन करता है ।[२] भगवान् की पाद-सेवन भक्ति प्राप्त होने पर भक्त अपने को पूर्ण के निकट समझता है। उसे पाद-सेवन की प्राप्ति के बाद कुछ भी प्राप्तव्य नहीं रहता है । भक्त पुकार उठता है कि हे नाथ, स्वर्गलोक की वह इन्द्रनगरी अमरावती मुझे मनोहर नहीं लगती और उस कांचनमय सुमेरु पर्वत को देखकर भी कोई विशेष हर्ष नहीं होता । बस, केवल जहां मुझे आपके चरणकमलों के सेवन का अखण्ड सुख प्राप्त हो, उस अरण्य को ही मैं अपना परमोत्तम आश्रय समझता हूँ ।[३] इस प्रकार के अनेक स्थल[४] स्तुतिकुसुमांजलि में देखे जाते हैं, जहां पादसेवन भक्ति की गरिमा गाई गयी है । कवि की अन्तिम अभिलाषा है कि श्री सदाशिव पादारविन्द की सेवा के सुख से अतिशय तृप्ति कब मिलेगी ।[५]

(ङ) **अर्चन**—श्रद्धाभक्तिपूर्वक भावसहित भगवान् के सगुण साकार रूप की पूजा "अर्चनभक्ति" मानी गई है। अर्चावतार रूप में, भगवान् मूर्ति में सद्गुरु और भक्तजनों में विराजते हैं। इन तीनों रूपों को भगवान् का स्वरूप समझकर भक्त अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु उन्हें अर्पित करता है। अर्चना मन से तथा बाह्य सामग्री से दो प्रकार से होती है। मानसिक अर्चना में भगवान् का ध्यान और आत्मसमर्पण पर्याप्त है । उसमें बाह्य सामग्री की आवश्यकता नहीं है। परन्तु स्थूल रूप की पूजा में अनेक उपकरणों की आवश्यकता है ।[६] यही गीता में भी कहा है ।[७]

स्तुतिकुसुमांजलि में "अर्चन" भक्ति के केवल संकेत मात्र ही नहीं मिलते, बल्कि अर्चन का गौरव बड़े विस्तार के साथ दिखलाया गया है। कवि कहता है कि जन्म, जरा और मृत्यु की पीड़ा को शान्त करने में समर्थ, अनर्थकारक अविद्या आदि पंच-क्लेशों को निवारण करने वाला एवं संपूर्ण मंगलों का मूल स्थान वह अमृतमय, श्री भगवदर्चन नामक महोषध सर्वोत्कृष्ट है[८], अर्थात् भगवदर्चन नामक रसायन, अमृत

---

१. स्तु० ७।३४

२. स यस्य पादद्वयमिद्धशासनः सदा समभ्यर्चति पाकशासनः । स्तु० ७।५

३. आभाति शक्रनगरी न गरीयसी मे, प्रीतिं च सिंचति न कांचन कांचनाद्रिः ।
जाने परं हर शरण्यमरण्यमेव, यत्र त्वदंघ्रिनलिनार्चननिर्वृतिः स्यात् ॥ स्तु० ९।७

४. स्तु० ९।१३, १२।२३, २६, १०।२४, ३०, ३४

५. कदा स्यान्नस्तृप्तिर्हरचरणसेवासुखरसैः । स्तु० १०।७२

६. वैष्णवभक्ति-आन्दोलन का अध्ययन, पृ० ३११

७. पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ।। गीता ९।२६

८. जयति जन्मजरामरणव्यथाशमसमर्थमनर्थनिबर्हणम् ।
सकलमंगलधाम सुधामयं भगवदर्चननाम महोषधम् ।। स्तु० १०।३२

और सञ्जीवनी आदि महौषधि से भी अधिक श्रेष्ठ है। जिस शिव की अर्चना से भक्त शिवलोक को प्राप्त कर मुक्त हो जाते हैं।[1] यह अर्चन "मायारूपी अंजन से रहित और ज्ञानरूपी नेत्रों का विकास करने वाला तथा चित्तरूपी चकोर को तृप्त करने वाला है।"[2]

वे लोग शत्रुओं को पराजय एवं अज्ञानियों को ज्ञानामृत देते हैं जो आपकी अर्चना में लगे हैं।[3] इतना ही नहीं, स्तुतिकुसुमांजलि में तो यहां तक कहा है कि जो लोग किसी लोभवश, परप्रेरणा से, किसी अन्य के निमित्त भी भगवदर्चन करते हैं, वे भी सांसारिक क्लेशों से मुक्त हो जाते हैं।[4] जो व्यक्ति द्रव्य लेकर भी जीविकार्थ भगवान् का अर्चन करते हैं, वे भी पापपरिपाक से मुक्त हो जाते हैं।[5]

(च) **वन्दन**—भगवान् की महिमा को मन में रखकर, उनकी प्रार्थना, स्तुति करना, विनम्रभाव से उन्हें साष्टांग प्रणाम करना वन्दन भक्ति है। जागतिक व्यवहार में बड़ों के प्रति जो नम्रता और आदरसूचक अभिवादन करते हैं, उसी प्रकार का भाव रख कर भक्त भगवान् का वन्दन करता है। अर्चन और वन्दन प्रायः एक साथ ही होते हैं।

स्तुतिकुसुमांजलि में इस भक्ति का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है। भक्त कवि कहता है भगवान् के चरणों में वन्दन (नमन) करने के कारण ही इस मस्तक का नाम "उत्तमांग" है, न कि और अंगों की अपेक्षा श्रेष्ठ होने से।[6] नाना विशेषण-विशिष्ट उस सदाशिव का सभी वन्दन करते हैं।[7] अज्ञान-रूपी अन्धकार से पीड़ित आर्त्तजनों के प्रतिपालक, कृपा से अलंकृत ईश का मैं बार-बार वन्दन करता हूं।[8] इसी प्रकार अन्य स्थलों[9] पर भी वन्दन भक्ति के तत्त्व उपलब्ध हैं।

(छ) **दास्य**—प्रभु को स्वामी और अपने को सेवक समझना दास्य भक्ति का लक्षण है। दास्य-भक्ति के अन्तर्गत उन सभी भावों की व्यंजना होती है जिन्हें एक स्वामिभक्त सेवक, आज्ञापालक पुत्र और शिष्य अपने प्रभु, माता-पिता और गुरु के प्रति विभिन्न परिस्थितियों में प्रकट किया करते हैं। अपने इष्ट देव को अपना दयालु, प्रभु, पिता, गुरु समझकर भक्त उनके सम्मुख अपनी अज्ञानता, दीनता, अपने दुर्गुण, दोष आदि का वर्णन करने में अपनी रक्षा और उद्धार के लिए नाना प्रकार से याचना करने में विशेष आनन्द पाते हैं। भगवान् के चरणों में आत्मसमर्पण कर अपने उद्धार

---

१. स्तु० १४।२१ २. स्तु० २६।३, ३५ ३. स्तु० ३६।२ ४. स्तु० ८।४७

५. यदर्चितः स भगवानपि जीविकार्थं।
तत्रापि किल्विषविपाकमपाकरोति॥ स्तु० ८।४६

६. गात्रान्तरातिशयशंसि यदेतदुच्चैर्नामोत्तमांगमिति नाथ शिरो बिभर्ति।
तद्युज्यते भव भवच्चरणारविन्दपीठप्रणामपरमस्य नमस्यमस्य॥ स्तु० १२।३०

७. स्तु० १३।५ ८. स्तु० २६।२ ९. वही ३६।१०, १६

की प्रार्थना करते हैं। उनकी शरण में रहते हुए उन्हीं में विलीन हो जाने के शुभ अवसर की प्रतीक्षा में रहते हैं।"[१] दास्यभक्ति के पूर्वोक्त निकष पर जगद्धर भट्ट की दास्यभक्ति स्वाभाविक जान पड़ती है। जगद्धर कहता है—"हे नाथ। अब तो मेरी वाणी नादस्वर से विमोहित मृगी के समान आपकी ही दासी रहना चाहती है। अब वह इधर-उधर जाने में समर्थ नहीं है।"[२] कवि दास्यभाव को स्पष्टत: स्वीकार करते हुए कहता है कि यदि सूर्य आप से अपना "मित्रत्व" (सबके साथ मित्र भाव) रख कर यदि आपका प्रेमपात्र बन जाता है, तो मैं भी नित्य आपके दासत्व को प्राप्त हो क्यों आपका अप्रिय हो गया।[३] यहां दास्यभक्ति स्पष्ट रूप से लक्षित होती है।

(ज) सख्य—लौकिक व्यवहार में जो मित्रता का आदर्श उपस्थित किया जाता है, इसी दिव्य आदर्श भाव को सख्य-भक्ति में भगवान् के प्रति रखता है। मित्रता के उच्च आदर्श के अनुसार मित्रों में परस्पर किसी प्रकार के स्वार्थ की अपेक्षा नहीं रहती। अतएव सख्यभाव द्वारा नि:स्वार्थ भक्ति की पुष्टि पूर्ण रूप से होती है। वात्सल्य भक्ति की तरह सख्य भक्ति में भी भक्त भगवान् के सम्मुख अपने हृदय की बातों को व्यक्त करने में किसी भी प्रकार का संकोच, भय अथवा छोटे बड़े का अनुभव नहीं करता। यही सख्यभाव की भक्ति है।

सख्यभक्ति के अनुसार स्तुतिकुसुमांजलिकार जगद्धर भट्ट अपने सखा भूतनाथ से अपने मन के भाव नि:संकोच कहता है—आपने मां श्रीपार्वती को ऐसा वरदान दिया था कि हे गिरिजे, मैं तुम्हारे सिवाय किसी दूसरी स्त्री से प्यार नहीं करूंगा। तो क्या कहीं इसी प्रतिज्ञा के भंग होने के भय से ही आप इस बेचारी मेरी वाणी (मेरी स्तुति) के विषय में उदासीन तो नहीं हो रहे हो? यदि यही कारण है, तब तो फिर बतलाइये कि आपने प्रेम से देवगंगा और चन्द्रकला को मस्तक में क्यों बैठाया। और हृदय में प्यारी करुणा को भी क्यों धारण किया।[४] अन्यत्र कवि कहता है कि अपनी अन्तर्यामिका शक्ति से सबके हृदयगत भावों को जानने वाले हे परमेश्वर, आप सर्वतन्त्रस्वतन्त्र होने के कारण सभी पर स्नेह करते हैं, तो मेरी इस वाणी पर

---

१. वैष्णवभक्ति आन्दोलन का अध्ययन, पृ० ३१२

२. स्वामिन्विचित्रचरितस्य तवाऽपदानगीतामृतेषु दृढ़रूढ़ रतिर्ममेयम्।
दूरीकृताऽन्यसरणिर्हरिणीव वाणी सत्यं पदात्पदमपि क्षमते न गन्तुम्॥
स्तु० ६।१०

३. मित्रत्वमेव भवतो गुणिबन्धुतां च, प्रख्याप्य चेदु पगतस्तव वल्लभत्वम्।
दासत्वमेव तव नित्यमुपेत्य भूत्वा सेवापरश्च गुणिनां कथमप्रियोऽहम्॥
स्तु० ११।४५

४. एका त्वमेव भवितासि मम प्रियेति दत्तं वरं स्मरसि चेद्गिरिराजपुत्र्या:।
प्रेम्णा बिभर्षि कथमम्बरसिन्धुमिन्दुलेखां च मूर्ध्नि हृदये दयितां दयां च॥
स्तु० ११।७७

स्नेह क्यों नहीं करते ?[१] कवि के इन भावों का सूक्ष्माध्ययन इस बात का संकेत करता है कि कवि अपने आराध्य को सर्वशक्तिसम्पन्न सर्वान्तर्यामी मानता हुआ भी उसके साथ अपनी उदात्त मित्रता स्थापित कर, एक पक्के एवं सच्चे मित्र जैसी बातें करता है। कवि को परमेश्वर मित्र के लिए उपालम्भ देने में तनिक भी संकोच नहीं है। वैष्णवशास्त्रों में भक्ति की परमाचार्य गोपिकाओं जैसे उपालम्भ इस बात के परिपोषक हैं कि कवि के मन्तव्य में सख्य भक्ति का पूर्ण स्थान है। इतना ही नहीं, कवि ने अपने आराध्य को सुहृद् शब्द से भी अभिहित किया है।[२]

(झ) **आत्मनिवेदन**—अपनी सत्ता को प्रियतम के सामने समर्पित कर देना ही आत्मनिवेदन है। भागवत में भक्तों की जितनी कथायें हैं, उनमें शरणागति का भाव ओतप्रोत है। आत्मनिवेदन के पश्चात् भक्त भगवान् को सर्वत्र देखता है। गीता में कहा गया है—**"यो मां पश्यति सर्वत्र, सर्वं च मयि पश्यति।"**[३] इस आत्मनिवेदनात्मक भक्ति के उदाहरण स्तुतिकुसुमांजलि में उपलब्ध हैं। श्लिष्ट पद्य में कवि अपने आराध्य से प्रार्थना करता है—मैं अपने प्रभु-संबंधी गंगाजल को ही अपना जीवन समझता हुआ, मृण्मय शिवलिंग को ही महाराज समझता हुआ, कब उस कल्याणप्रदाता शिव का आश्रय (शरण) ग्रहण करूंगा? अर्थात् उसके चरणों में अपने को समर्पित करूंगा?[४] यद्यपि इस पद्य में शरणागति अथवा आत्मनिवेदन को शब्दतः नहीं कहा है तथापि "आश्रये" यह क्रियापद निश्चितरूपेण आत्मनिवेदन का द्योतक है। आश्रय तभी मिलता है, जब आश्रय अपनी सत्ता को आश्रयी के सम्मुख समर्पित कर दे। यही भाव इस पद्य में कवि अपने आराध्य के सम्मुख प्रस्तुत करता हुआ प्रतीत होता है। इस प्रकार के और भी उदाहरण हैं[५] जिनमें आत्मनिवेदन नामक भक्ति की मान्यताएं विद्यमान हैं।

६. स्तुतिकुसुमांजलि में आराध्य देव के विविध रूप

(क) शिवरूप

जगद्धर ने विविध रूपों में शिव के स्वरूप का बड़े विस्तार से वर्णन किया है, जो शिवपुराण आदि ग्रन्थों में भी उपलब्ध है। परंतु यथार्थतः उस वाङ्मनसागोचर

---

१. अस्यामसह्यविरहज्वरकातरायां प्रीतिर्न ते यदि परं निरवग्रहस्य।
सर्वान्तरार्तिदलनाय दृढा प्रतिज्ञा विज्ञाततत्त्व कथमीश्वर विस्मृता ते॥ २१।२०

२. हृद्यः सुहृद्यः सुकृतोर्जितानाम्। स्तु० २६।३ ३. गीता ६।२६

४. विचिन्तयञ्जीवनमेव जीवनं समर्थयन् पार्थिवमेव पार्थिवम्।
विभावयन् वैभवमेव वै भवं कदाऽऽश्रये शंकरमेव शंकरम्॥ स्तु० ७।२३

५. क्रन्दाम्यतः किमपि नाम पिनाकपाणे, तीव्रार्तिनिस्तरणकारणकातरोऽहम्।
मोहाटवीविकटसंकटसंस्थितस्य तन्मेऽवधारय शिवाय शिवातुरस्य॥
स्तु० ११।९ तथा ११।८६, ११३; १८।४

का कौन वर्णन कर सकता है ? कालिदास का यह कहना बहुत ठीक है—**न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः ।।**[१] **न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः ।।**[२]

ऐसा मानने पर भी वैदिककाल से ही शिव के स्वरूप का वर्णन संस्कृतवाङ्मय में अनवरत होता रहा है। पुराण साहित्य में शिवपुराण एवं वायुपुराण विशेष रूप से शिव के नाना रूपों का प्रतिपादन करते हैं। शिवस्तोत्रों में भी शिव के विविध रूप उपलब्ध होते हैं।

परब्रह्म को ही लोककल्याणकारी होने के कारण शिव कहा जाता है। अतः शिव के भी दो रूप हैं, निर्गुण तथा सगुण। त्रिगुणात्मिका, अनादि आद्या चित् शक्ति शिव से अभिन्न है, उसकी अभिव्यक्ति से रहित केवल शुद्ध सत्तामात्र चैतन्यस्वरूप शिव इसी कारण निर्गुण हैं तथा किसी भी प्रकार का आकार, नाम, रूप आदि न होने के कारण निराकार हैं। यह जगत् उनकी लीला से की हुई अपनी ही अभिव्यक्ति है। इस प्रकार अपने में लीन त्रिगुणात्मिका माया को अभिव्यक्ति देने के कारण शिव सगुण एवं साकार कहलाते हैं।

स्तुतिकुसुमांजलि में भक्ति का विषय प्रभु का गुणगान होने के कारण सगुणरूप का ही अधिक प्रतिपादन किया गया है। निर्गुण निराकार का स्वरूप दार्शनिक विवेचन के अवसर पर दूसरे अध्याय में दिखला दिया गया है। आगे उनके सगुण साकार स्वरूप का तथा हरिहर एवं अर्धनारीश्वर स्वरूप का उल्लेख है।

जगत् के समग्र विस्तार का मूल एक ही तत्त्व है, ऐसा वेदादि शास्त्र मानते हैं।[३] उसी एक को विद्वानों ने नाना प्रकार से कहा है।[४] वह ही ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव के रूप में त्रेधा विभक्त होता है।[५] वेदव्यास जी ने भी इसी बात का अनुमोदन किया है।[६] इन्हीं मान्यताओं को स्वीकार करते हुए, जगद्धर कहता है कि अपने यश के लिए ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र रूपधारी शिव हैं।[७] जिनकी महिमा वाणी और मन से परे है, जो त्रिगुणात्मिका मूर्ति, अष्टमूर्ति या निर्गुण मूर्ति को धारण करने वाले वे एक ही हैं।[८] उसी एक साकार को नाना रूपों में सजाकर भक्त अपने हृदय में

---

१. कुमारसम्भव ५।७७ २. वही ५।७८

३. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।। ऋग्वेद १०।१२१।१

४. एकं सद् विप्रा बहुधा वदति। ऋग्वेद १।१६४।४६

५. अथ पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत प्रजाः सृजेयेति।...
नारायणाद् ब्रह्मा जायते, नारायणाद्रुद्रो जायते।...
नारायण एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम् ।। नारायणाथर्वशिर उपनिषद् १-२

६. अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम् ।। भागवत ४।७।५०

७. नमो ब्रह्म-हरि-त्र्यक्षश्रवसे भवसेतवे।
जगत्सर्ग-स्थिति-ह्रास-हेतवे वृषकेतवे ।। स्तु० २।२३

८. स्तु० २।१२

लोकोत्तर आनन्द का अनुभव करता है। उनके दिव्य दर्शनों से अपने को कृतार्थ समझता है। भक्त कवि भावनाओं से विमिश्र शिव के दिव्य स्वरूप का सगुण दर्शन करता है। वह कहता है—

जिसमें शेषनाग प्रभृति सर्पों ने केयूर की शोभा बनाई है, ऐसी उन्नत भुजाओं तथा उछलती हुई तरंगों वाली आकाश गंगा में विराजमान विशाल मस्तक वाले एवं कामदेव को भंग करने वाले शिव आपकी इच्छा पूर्ण करें।[१] जो शरद् काल के सघन मेघ और हिम के समान शुभ्र तथा अतिमनोहर भस्म-पटल से चमकती हुई कान्ति से भासमान, एवं भ्रमर के समान काले कण्ठ से विराजित और कलंकरूप आभूषण से विभूषित जो शरत्काल का पूर्ण चन्द्रमा है, उसके समान अतिरम्य वह शंकर जी का दिव्य शरीर आपका कल्याण करे।[२] भगवान् सदाशिव, इन्द्र के मस्तक की पुष्पमाला से उज्ज्वलित चरणकमल, भस्म से उज्ज्वलित वक्षःस्थल, चन्द्रकिरणों से समुज्ज्वल मुकुट वाले हैं,[३] सिर पर श्वेत फेनयुक्त गंगा है,[४] आकाशरूपी वस्त्र से वेष्टित, भुजाओं में लिपटे हुए सर्पों से भूषित[५] हैं, अग्नि, सूर्य तथा चन्द्रस्वरूप नेत्र वाले हैं।[६] शरत्काल के सघन मेघ के समान श्याम, नीलकण्ठ हैं।[७] जटाजूट धारण करते हैं।[८] जटाजूट में शिरकपालों के खण्ड हैं।[९] हिम के समान श्वेत वृषभ पर बैठे हुए हैं।[१०]

प्रातःकालीन सूर्य के समान अरुण वर्णवाली जटाओं को धारण करते हुए, दिव्यातिदिव्यप्रकाश से सम्पन्न हैं।[११] भगवान् शिव अपने वामांग में अंगना (अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत निखिल लावण्य-सुधा-सिन्धु की महाधिष्ठात्री देवी, स्वतन्त्रशक्ति-रूपा श्री भवानी) को धारण करते हैं।[१२] जिस शिव के एक हाथ में वर, दूसरे में अभय, तीसरे में अमृतकलश तथा चौथे में त्रिशूल है।[१३] श्रेष्ठ गजराज के समान गति वाले हैं।[१४] हाथ में सुधाकलश और कपाल, वामांग में गिरिजा को धारण करते हैं।[१५] महा भयंकर सर्पों से भूषित, मस्तक पर अचल मन्दाकिनी सुशोभित जटाजूटधारी ललाट में अग्निज्वाला से पिशंग-वर्ण नेत्र को धारण करने वाले शिव[१६] मस्तक पर नरमुण्ड-माला को धारण किये हुए हैं।[१७] आकाशगंगा की लहरों से चंचल मस्तक धारण करने

---

१. अंग भुजंगरचितांगदमंगि तुंगं, त्वंगत्तरंग-गगनांगनसंगिगंगम्।
बिभ्रद्विभुर्विहितरंगदनंगभंगमंगीकरोत्वरमभंगुरमिगितं वः ॥ स्तु० ३।८

२. शंभोद्रभ्रशरदभ्रतुषारशुभ्रं भ्राजिष्णुभूतिभर-शीभर-भास्वराभम्।
दिश्याद् वपुर्भसलनीलगलं कलंकालंकारशारदशशांकनिभं शुभं वः ॥ ३।१०

३. स्तु० १।१७ ४. स्तु० १।१८ ५. स्तु० १।२१
६. वही १।२२ ७. वही ३।१० ८. वही ३।२०
९. वही ३।४१ १०. स्तु० ३।५० ११. वही ७।६
१२. वही ८।४१ १३. वही ११।८७ १४. वही २३।२७
१५. वही ३०।७५ १६. वही ३१।५ १७. वही ३१।१२

वाले, महाहलाहल से नील कण्ठमूल को धारण करने वाले, सुधा के समान सरल हृदय को धारण करने वाले भगवन् शिव।[1] मस्तक पर मन्दाकिनी के वेग से कम्पित जटाजूट को धारण करते हुए कण्ठ पर महाविषधर सर्प को धारण करते हुए तथा पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन, आकाश, आत्मा (यजमान), चन्द्रमा और सूर्य मूर्ति को धारण करते हुए, शिर में सुवर्ण के समान पिंगल केशों को धारण करते हुए, समस्त अंगों पर सप्त-वर्ण "सतौन" नामक वृक्ष के पर्ण (पत्र) के समान स्वच्छ विभूति को रमाते हुए, वह अनादि, सर्वव्यापक परमेश्वर हमारे पापों को क्षीण करें।[2]

स्तुतिकुसुमांजलिकार ने भगवान् सदाशिव के स्वरूप का जहां समग्ररूपेण वर्णन किया है, वहां एक-एक अंग का भी बड़ा मनोहर वर्णन किया है। जैसे, शिवचरणों के वर्णन में कवि कहता है—"देवताओं के मुकुटरूपी विटंकों (बाह्य अग्र भागों) पर जड़े रत्नों की कान्तियों से सम्मिश्रित नखाकुंरों के केसरों से मनोहर भगवान् श्री सदाशिव के चरणारविन्दों को मस्तक पर धारण कीजिए।[3] देवता का वर्णन चरणों से आरम्भ करना चाहिए, मनुष्यों का वर्णन मुख से आरम्भ करना चाहिए, ऐसी कवि-ख्याति है।[4] इस सिद्धान्त के अनुसार स्तुतिकुसुमांजलिकार ने उन्नीसवें स्तोत्र में पांचवें श्लोक से आरम्भ कर बीसवें श्लोक तक अपने आराध्य सदाशिव के प्रत्येक अंग का वर्णन विस्तारपूर्वक किया है।[5]

जिस प्रकार महाकवि कालिदास ने भगवान् सदाशिव की अष्टमूर्तियों का वर्णन किया है।[6] उसी प्रकार स्तुतिकुसुमांजलिकार ने भी कई स्थलों पर अष्टमूर्ति भगवान् शिव की स्तुति की है। शिव पृथ्वी, जल, वायु, सूर्य, अग्नि, आकाश, चन्द्रमा और यजमान रूप हैं।[7] अपने आराध्य की इन आठ विभूतियों का वर्णन एक श्लोक में करने मात्र से जगद्धर भट्ट को संतोष नहीं हुआ। उसने प्रत्येक तत्त्व का एक-एक स्वतन्त्र श्लोक बनाया है। जैसे—भगवन्, इस असार संसार में केवल एक धर्मप्रधान कर्म ही कल्याणकारक है और वह कल्याणकारक धर्म भी बाह्य तथा अन्तःकरण निर्मल होने से ही सिद्ध होता है, और बाह्य एवं अन्तःकरण की विशुद्धि भी जिस जल के बिना नहीं सिद्ध होती, वह तीनों लोकों को पवित्र एवं तृप्त करने वाला "जल" भी जिसकी अचेतनमूर्ति है, उस जल-मूर्तिधारी प्रभु को नमस्कार है।[8] इसी प्रकार अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्र, सूर्य तथा काल का सविस्तार वर्णन किया गया है।[9]

---

१. स्तु० ३१।१८ २. वही ३४।६

३. सुरमुकुटविटंकरत्नशोचिः-खचितनखांकुरकेसराभिरामम्।
पुरहरचरणारविन्दयुग्मं शिरसि विधत्त किरीटवाञ्छया किम्॥ स्तु० १३।२।

४. मानवा मौलितो वर्ण्याः देवाश्चरणतः पुनः। काव्यकल्पलता वृत्ति १ ५।४९

५. स्तु० १९।५।२० ६. शाकुन्तलम् १।१

७. उर्वीनीरसमीरणारुणशिखिव्योमात्मसोमात्मकै-
रष्टाभिर्विभवैर्बिभर्ति भुवनं भोक्ता च भोग्यश्च यः॥ स्तु० ८।५२

८. स्तु० ३३।३७ ९. स्तु० २३।३८-४५

(ख) शिव के अन्य स्वरूप

जिस प्रकार भगवान् सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं, उसी प्रकार भक्त भी कुछ बातों में स्वतन्त्र होते हैं। जैसे पूर्व पृष्ठों में भक्त की भावना के अनुसार भगवान् के विविध रूपों को देखा, उसी प्रकार कुछ और उदाहरण हैं, उनमें भक्त अपने भगवान् को नाना रूपों में देखता है। कभी कवि के रूप में[1], कभी वैद्य[2], गुरु[3] एवं नृत्याचार्य के रूप में तथा कभी उपदेष्टा[4] के रूप में भी। वह भगवान् को स्वामी के रूप में तो सर्वत्र ही देखता है।

इस प्रकार से जगद्धर ने अपने आराध्य देव का विविधरूपों में वर्णन करते हुए एक समन्वयात्मक दृष्टि का प्रदर्शन किया है।

(ग) अर्धनारीश्वर

"शक्तिशक्तिमतोरभेद:" सिद्धान्त को सामने रखकर दार्शनिकों एवं भक्तों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से इस विषय का पर्याप्त विवेचन किया है। स्तुतिकुसुमांजलि-कार परम शैव हैं, अत: उन्होंने भी शिव-शिवा का दिव्यस्वरूप अपने स्तोत्र में प्रस्तुत किया है। प्राचीन ऋषि शिव-शक्ति स्वरूप का गम्भीर अध्ययन कर, इस निर्णय को पहुंचे कि शिव शक्ति एक अद्वैत के दो अभिन्न फल होने के कारण तत्त्व में सदा अभिन्न ही हैं, अतएव उनमें पति-पत्नी सम्बन्ध घटित होता है।[5] इसलिए भक्तों ने शक्ति शिवा का हाथ, शक्तिमान् शिव के हाथ में सौंप दिया, और दोनों की महिमा गाई।[6] क्योंकि शक्ति के बिना शिव अपूर्ण हैं। शक्ति के अभाव में उनके साथ सर्वज्ञ सर्व-शक्तिमान् कारुणिक इत्यादि किसी भी विशेषण का प्रयोग नहीं हो सकता। शिव और शक्ति ये परमतत्त्व (शिव) के दो रूप हैं। शिव कूटस्थ तत्त्व है और शक्ति परिणामिनी है। विविध वैचित्र्य से पूर्ण संसार के रूप में अभिव्यक्त शक्ति का आधार एवं अधिष्ठान

---

१. काव्यस्योदयभूरसौ भवतु व: प्रीत्यै पुराण: कवि:। स्तु० ३।५७

२. त्रिजगदगदंकार: सारस्वत: प्रथते सताम्। स्तु० ५।२४

तस्यौषधीशमुकुटं त्रिजगद्गुरुं त्वां,
मुक्त्वा करिष्यति परो मम कश्चिकित्साम्॥ स्तु० ११।९२
शान्तेर्ष्यस्त्वामविद्याजडजगदगदंकारमाराधयेद:। स्तु० ३३।३३।

३. व्यानञ्ज रञ्जयतु स त्रिजगद्गुरुर्व:। स्तु० ३।९

४. न्यायमार्गोपदेशिने। स्तु० ८।१६

येनोपदिष्टमनपायमुपायमाप्य। स्तु० ३।११
वक्ता च य: सुखयिता च विभु: श्रुतीनां। स्तु० ३।१६
त्रिजगद्गुरुं त्वाम्। स्तु० ११।९२

५. कल्याण, शिवांक, पृ० १९४

६. भवानि, त्वत्पाणिग्रहणपरिपाटीफलमिदम्। बृहत्स्तोत्ररत्नाकर, पृ० १६७

शिव है। शिव अव्यक्त, अदृश्य, सर्वगत एवं अचल आत्मा है। शक्ति, दृश्य, चल, सर्वगत एवं नामरूप द्वारा व्यक्त सत्ता है।[1] शिव और शक्ति एक-दूसरे से उसी प्रकार भिन्न हैं, जिस प्रकार सूर्य और उसका प्रकाश, अग्नि और उसका ताप तथा दूध और उसकी सफेदी। शिव की आराधना शक्ति की आराधना है और शक्ति की उपासना शिव की उपासना है। इन दो परस्पर विरोधी एवं प्रतिद्वन्द्वी प्रतीत होने वाले तत्त्वों, शिव और शक्ति की विषमता एवं विरोध का सामंजस्य ही परमात्मतत्त्व का रहस्य है।[2]

इन्हीं सब सिद्धान्तों एवं मान्यताओं को हृदय में रखकर जगद्धर भट्ट ने भी स्तुतिकुसुमांजलि के इक्कीसवें स्तोत्र में चौबीस पद्यों द्वारा भगवान् शिव के अर्ध-नारीश्वर स्वरूप का दिव्य वर्णन किया है। इनको एक ही मूर्ति में शिव-शिवा के दर्शन होते हैं। जगद्धर भट्ट कहते हैं कि जिस शरीर में एक ओर दाहिने अर्धभाग में वासुकि आदि भुजंगों के फणों की शोभा स्फुरित होती है, और दूसरी ओर वाम अंग में नीलकमलों की माला स्फुरित होती है, तथा एक ओर (शिवरूप अर्ध भाग में) भस्म का अंगलेप शुभ्रता को बढ़ाता है, और दूसरी ओर अर्थात् पार्वती रूप अर्ध भाग में, मलयचन्दन का लेप शुभ्रता बढ़ाता है, और (दक्षिण अंग में) कालकूट कण्ठ में कालिमा अर्पित करता है, दूसरी ओर कस्तूरी का तिलक कण्ठ को कृष्ण करता है, एक तरफ अस्थि-मालाओं की स्वच्छ कान्ति फैलती है, और दूसरी तरफ मुक्तावलियों की स्वच्छ शोभा फैलती है, एवं एक ओर शिवरूप अर्धभाग में रक्त झरता हुआ गजचर्म धारण किया है, और दूसरी ओर श्री पार्वतीरूप अर्धभाग में कुसुम्भ (लाल रंग) में रंगा हुआ वस्त्र धारण किया है, इत्यादि परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा विरुद्ध भी वस्तुएं जिस अद्भुत अर्धनारीश्वर रूप में एकता को धारण करती हैं, उसे प्रणाम करता हूं।[3] इस प्रकार २१वें स्तोत्र में चौबीस पद्य मात्र अर्धनारीश्वर स्वरूप को लेकर लिखे हैं।

(घ) हरिहर स्वरूप

जगद्धर भट्ट ने स्तुतिकुसुमांजलि में एक स्तोत्र पूरे का पूरा ही एक विलक्षण स्वरूप के विषय में लिखा है। वह है "मंगलाष्टकस्तोत्र", जिसमें एक ही मूर्ति में दो

---

१. कल्याण, शिवांक पृ० १८९

२. कल्याण, शिवांक, पृ० १८९

३. एकत्र स्फुरति भुजंगभोगभंगिर्नीलेन्दीवरदलमालिका परत्र।
एकत्र प्रथयति भस्मनोऽगंरागः शुभ्रत्वं मलयजरञ्जनं परत्र ॥ स्तु० २१।१०
एकत्रार्पयति विषं गलस्य कार्ष्ण्यं कस्तूरीकृतमपि पुण्ड्रकं परत्र।
एकत्र द्युतिरमलास्थिमालिकानामन्यत्र प्रसरति मौक्तिकावलीनाम् ॥
—स्तु० २१।११, १२।

देवताओं के दर्शन होते हैं, वे भी एक ही शरीर में, एक ही काल में। उस मूर्ति में एक अंग भगवान् शिव का दीखता है, दूसरा भगवान् विष्णु का। जैसे—भगवान् के शरीर में एक तरफ (विष्णु के अर्धभाग में) लक्ष्मी, हाथ में पाञ्चजन्य शंख एवं वक्षःस्थल में कौस्तुभ मणि निवास करते हैं, दूसरी तरफ (शिव रूप अर्धभाग में) मुकुट पर चन्द्रमा, कण्ठ में विष एवं करतल में अमृत का निवास है।[1] इसी प्रकार आगे के आठ श्लोकों में भगवान् विष्णु एवं भगवान् शिव के स्वरूप का वर्णन कर जगद्धर भट्ट ने जहां अनेक में एकत्व का सफल प्रतिपादन किया है, वहां समन्वयवाद को भी बड़ी दृढ़ आधारशिला रखी है।

७. भक्ति के आन्तरिक एवं बाह्य साधन

साधन के बिना साध्य की प्राप्ति असम्भव है। अतएव भक्तिप्राप्त्यर्थ दो प्रमुख साधन हैं, एक आन्तरिक, दूसरा बाह्य। आन्तरिक साधन का सम्बन्ध हृदय से है तथा बाह्य का अन्यान्य पदार्थों के साथ। भक्तिमार्ग में नामजप, दीनता, कार्पण्य आदि आन्तरिक साधन हैं तथा माला, भस्म आदि बाह्य साधन हैं। अपने-अपने स्थान पर दोनों का ही महत्त्व है। आगे स्तुतिकुसुमांजलि में वर्णित इन्हीं साधनों के सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

(क) भक्ति के आन्तरिक साधन

वेद कहता है प्रभु एक है, पर विप्र उसका अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं।[2] एक होते हुए भी उसके अनेक नाम हैं। ये नाम विभिन्न भाषाओं में विभिन्न रूपवाले हैं और एक भाषा में भी उनका नानात्व स्पष्ट रूप से प्रकट हो रहा है—**नामानि ते शतक्रतो, विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे।**[3] वैदिक ऋषि इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वा, सुपर्ण, विष्णु, शिव, ब्रह्मा, सविता, सोम आदि विभिन्न नामों द्वारा उनका वर्णन करते हैं। उसका मुख्य नाम ओम् है, जिसे प्रणव भी कहते हैं, ऐसा वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ तथा उपनिषदों का मत है। भगवान् के नामों को जपने का फल पुराणों में बड़े विस्तार के साथ वर्णित है।[4] "तज्जपस्तदर्थभावनम्"[5] सूत्र के द्वारा महर्षि पतंजलि का साधकों को यह उपदेश है कि नाम जप करते समय उसके द्वारा द्योतित अर्थ की भावना

---

१. श्रीकम्बुकौस्तुभसुधांशुविषामृतानां सौंदर्यसौहृदसुखानुभवैकधाम।
यत्सत्यधर्मकृतनिष्प्रतिघप्रतिष्ठं तन्मंगलं दिशतु हारिहरं वपुर्वः॥ स्तु० ४।१

२. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति। ऋग्वेद १।१६४।४६

३. ऋग्वेद ३।३७।३

४. भक्ति का विकास, पृ० ७६१

५. पातंजल योगदर्शन। समाधिपाद, २८

अवश्य करनी चाहिए। क्योंकि नाम और नामी का, शब्द और अर्थ की तरह एक अविभाज्य नित्य सम्बन्ध सर्वदा स्थापित रहता है।

अपने आराध्यदेव का नाम कितना पवित्र है, कैसा पावन है, उसमें कितना सन्तोष है, कितनी शान्ति है, कैसी शक्ति है और वह क्या कर सकता है ? इसका पूर्णरूपेण वर्णन कोई नहीं कर सकता है। अपार का पार कौन पाये ? अनन्त का अंत कौन जाने ? जिसकी महीयसी महिमा का सभारम्भ ज्ञानेन्द्रिय अगोचर है, वाणी उस का कथन कैसे करे ? जिस प्रकार भगवान् अनिर्वचनीय हैं, उसी प्रकार उनके पावन नाम की महिमा भी अनिर्वचनीय है। विद्वान् भक्तों ने जो नाम की महिमा गाई है, शास्त्रों में जो भगवन्नाम का यशोगान हुआ है, वह नाम महिमा का पूर्ण अभिव्यञ्जक नहीं है, वह तो नाम की उपासना में लगे हुए भक्तों के हृदय में नाम प्रभाव का द्योतक है। नाम की पूर्ण महिमा तो नामी भी शायद ही कह सकें। श्रद्धा सम्पन्न मनुष्य जिस भाव से भगवन्नाम का जाप करता है, उसे अपने उस भाव के अनुसार ही लाभ होता है।

पद्मपुराण का वचन है कि व्यक्ति को दिन, रात और सन्ध्या, सभी समय भगवान् के मंगलमय नामों का स्मरण करना चाहिए। रात-दिन अखण्ड नाम जप करने से भगवान् के साक्षात् दर्शन हो सकते हैं। जैसाकि कहा है—

दिवा निशि च संध्यायां सर्वकालेषु संस्मरेत् ।
अहर्निशं स्मरन्नाम कृष्णं पश्यति चक्षुषा ।। पद्म पुराण-पाताल खण्ड ५१।३ ।।

नाम-कीर्तन का एक सुन्दर क्रम और स्वरूप श्रीमद् भागवत में बतलाया है—

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणेर्जन्मानि कर्माणि च योनि लोके ।
गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः ।।

—भा० पु० ११।२-३९

अर्थात् चन्द्रपाणि प्रभु के प्रसिद्ध जन्म, कर्म और गुणों को सुनकर, उनकी लीलाओं के अनुरूप नामों को लज्जा त्यागकर गाता हुआ है। अनासक्त भाव से संसार में विचारे भाव यह है कि भगवन् साक्षात्कार के लिए नाम का आश्रय परमावश्यक है जो जन तन्मय होकर श्रद्धा-विश्वास सहित निष्काम भाव से भगन्नाम का जाप, स्मरण और कीर्तन करते हैं, वे ही प्रभु के प्यारे एवं महात्मा हैं। अद्वैतवादी शंकराचार्य ने भी नाम स्मरण पर बल दिया है।

वस्तुत: आचार्य शंकर ने जो एक क्रान्तिकारी कदम उठाया था, उसमें समस्त बिखरी हुई भारतीय चिन्तनाओं को एक माला के रूप में गूंथ कर एक ऐसा दृष्टि-कोण प्रदान करने की प्रेरणा थी, जो यहाँ के लोगों की नसों में खून के साथ दौड़ रहे आध्यात्म चिन्तन सम्बन्धी मतभेदों को दूर कर सके। उनके सामने वैदिक गायत्री, ओंकार वाक् आदि के रूप में नामोपासना भी थी, पुराणों एवं तन्त्रों मे वर्णित अपने इष्ट के नाम की एकमात्र आराधना तथा आराधना करते-करते फिर नाम और नामी में अभेद अनुभव करना एवं नाम के माध्यम से अपने इष्ट को सर्वोपरि

ब्रह्म के रूप में अनुभव करना यह भी सामने थी। तीसरे उनके सामने वैयाकरणों का ऐसा प्रकाण्ड पण्डितमण्डल भी था जो नाम या शब्द को अनादि अनन्त ब्रह्म मानकर उसके विवर्त को ही जगत् मानने के पक्ष में था। इनकी दृष्टि में वेद रूप जो शब्द है यह समस्त जगत् उसी का विस्तार है, शब्दरूप ज्योति सर्वप्रथम वेदत्रयी के रूप में ही प्रकट हुई थी। अन्ततः सारा जगत् इसी शब्द में लीन होगा।[1] आचार्य शंकर ने श्रुतिप्रतिपादित ऊँ की उपासना का अपने ग्रन्थों में सर्वत्र ही विशेष रूपेण उल्लेख किया है।

यहाँ पर आचार्य के ओंकारोपासना-सम्बन्धी विचारों को माण्डूक्य, छान्दोग्य, तैत्तिरीय आदि उपनिषदों के भाष्य एवं गीता के भाष्य के अनुसार इस प्रकार कह सकते हैं। उपनिषदों में ओंकार के दो रूप मिलते हैं। एक मात्रारहित है, इसमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अद्वैतरूप से निवास करता है। यह ब्रह्म का सर्वोच्च आध्यात्मिक रूप है। इस बात का उल्लेख कठोपनिषद् में इस प्रकार किया है कि "यह अविनाशी प्रणव ओंकार ही तो परमात्मा का स्वरूप है और यही पर ब्रह्म परम पुरुषोत्तम है अर्थात् ब्रह्म और परब्रह्म दोनों का ही नाम ओंकार है। अतः इस तत्त्व को समाप्त कर साधक इसके द्वारा दोनों में से किसी भी अभीष्ट रूप को प्राप्त कर सकता है। यह ओंकार ही परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के लिए सब प्रकार के साधनों में सर्वश्रेष्ठ साधन है और यही चरम साधन है। इससे परे अन्य कोई साधन नहीं है। अर्थात् परमात्मा के श्रेष्ठ नाम का परम आश्रय लेना ही उनकी प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन है। इस बात को समझ कर जो साधक श्रद्धापूर्वक इसका आश्रय लेता है, वह निःसन्देह परमात्मा को प्राप्त कर गौरव का अधिकारी होता है।

ओंकार का दूसरा रूप मात्रा वाला है, इसमें तीन मात्रायें हैं, अ-उ-म्। यह ब्रह्म का ईश्वर रूप है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है, "जो मनुष्य 'ओम्' इस एक अक्षर स्वरूप परब्रह्म का उच्चारण करता हुआ तथा इस ओंकार के अर्थ के रूप में मुझको विधिपूर्वक याद करता हुआ इस मानव शरीर को त्याग कर परलोक को जाता है, वह मनुष्य परम गति को प्राप्त करता है (गी० ८।१३)। मात्रा वाले ओम् की व्याख्या करते हुए लिखा है कि ओंकार की तीन मात्राएं अ, उ, म्, विषयी के अन्दर जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं से सम्बद्ध होकर स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर के रूप में अवस्थित हैं। तीनों मात्राएं विश्व, विराट् और हिरण्यगर्भ के रूप में अवस्थित हैं। इस प्रकार समस्त व्यष्टि, समष्टि जगत् ओंकार की तीन मात्राओं का ही प्रसारमात्र है। इस प्रकार ओंकार के दो रूप माने गये हैं।

समष्टि रूप में यह ब्रह्म या पराशक्ति का वाचक है और अर्धमात्रा-समेत ओम्

---

१. शांकरवेदान्त : एक अनुशीलन, पृ० १६१

ब्रह्म का वाच्य और वाचक दोनों ही है। शिवमहिम्नस्तोत्र, श्लोक २६, में भगवान् शिव के पर और अपर रूपों को ओंकार के दोनों रूपों से मिलाया गया है।

पौराणिक साहित्य में तो ओंकार की तीन मात्राओं को क्रमशः कभी त्रिलोकी, कभी तीन वेद, तीन अग्नियां, तीन काल, तीन कर्म, तीन गुण कहा गया है, तो कहीं अकार को ब्रह्मा, उकार को विष्णु तथा मकार को शिव कहा गया है। अर्ध मात्रा परमात्मा है। वाच्य ब्रह्म है और वाचक ओंकार है। इस प्रकार नाम और नामी, प्रतीक और उसके मूल देवता में उपासना क्रम के अन्दर अभेद मान लिया है।[1]

वस्तुतः ब्रह्म की ओर निर्देश करने वाला होने से ओंकार ही ज्ञानी के लिए श्रेष्ठ साधन है। यह ओंकार ब्रह्म का ही दूसरा नाम है। इस नाम के द्वारा नामी तक सहज ही पहुंचा जा सकता है। भगवद्गीता[2] में कहा गया है, "ओम् तत्सत्" यह ब्रह्म का निर्देश या नाम है। इसी से ब्राह्मण वेद एवं यज्ञों की उत्पत्ति हुई है। यही कारण है कि ब्रह्मवादी लोग जब भी यज्ञ दान, तप आदि कर्म करते हैं, तो पहले ओम् का ही स्मरण करते हैं। परमात्मा के विभिन्न उपास्य रूपों में से ओंकार उसका पवित्र एवं वेद्य या ज्ञानगम्य रूप है। शंकर कहते हैं कि ओंकार के अर्थरूप ईश्वर का चिन्तन करने वाला देह-त्याग के बाद भी परमगति को प्राप्त होता है। (गीता ८।१३ का शांकरभाष्य।)

यह परमगति ही मनुष्य का परमपुरुषार्थ है, इसे प्राप्त करने के बाद कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहता है।

नाम की प्रभविष्णुता के ऊपर शिवसमुपासक भक्त कवि जगद्धर भट्ट का आग्रह होना नितान्त नैसर्गिक है क्योंकि पाप दूर करने का महौषध है—नाम-स्मरण। प्रायश्चित्त पाप दूर करने का सुगम उपाय माना जाता है अवश्य, परन्तु उसमें उतना प्रभाव तथा व्यापकत्व नहीं होता।

भगवान् वेदव्यास ने कहा है कि जैसे सूर्य पर्वत की गुफा के अंधकार का नाश कर देता है और जैसे प्रचण्ड वायु बादलों को छिन्न-भिन्न करके लुप्त कर देता है, इसी प्रकार भगवान् का नाम समस्त दुःखों का अन्त कर देता है।[3]

जगद्धर का कहना है कि हे नाथ, ग्रामीण भाषा के गीतों में नीच लोगों से गाया जाता हुआ भी आपका मंगलमय नाम, भावुक जनों के हृदय में जिस आनन्द को उत्पन्न करता है, वह समस्त अंगों में न समाता हुआ रोमांच के बहाने बाहर निकल आता है।[4] इसी प्रकार जगद्धर ने अन्य स्थलों[5] पर भी नाम की महिमा कही है।

---

१. शांकरवेदान्त : एक अनुशीलन, पृ० १९७
२. गीता १७।२३
३. भागवत १२।१२।४७
४. स्तु० १२।२४
५. स्तु० ७।२०, १४।४, २६।३, ५

यद्यपि सभी नाम अपने में परिपूर्ण सामर्थ्य रखते हैं, तथापि भक्त को कोई नाम विशेष प्रिय होता है। जगद्धर भी इसका अनुसरण करते हुए कहते हैं—जो (शिव नाम) किसी अनिर्वचनीय मनोहरता को धारण करता है, वह समग्र क्लेशों से रहित "शिव नाम" मेरे मुख का निर्मल आभूषण बन जाये, मैं सदा शिवनामोच्चारण करता रहूं।[1] इस महा अपार भवाटवी के अन्दर इन सांसारिक दुःखों से सन्तप्त हुए मेरे हृदय में "नमः शिवायः" शब्द की ध्वनि, ग्रीष्म ऋतु के तीव्र ताप से तपे हुए महामरुस्थल में भटकने वाले प्राणी को जो खेद होता है उसे शान्त करने वाले मार्गवृक्ष से भी कोटिगुण अधिक है। श्री यमुना-जल के प्रवाह से संमिश्रित गंगाजल से भी अधिक शान्ति प्रदान करती है।[2]

कवि का विश्वास है कि उसी के दिन सफल हैं, जो शिव-शिव नाम जपता है।[3] कवि कहता है—'शिव-शिव' नाम का उच्चारण करते हुए मैं उत्तम अवस्था का अनुभव करता हूं।[4] भगवान् का शिव नाम भावुक भक्त के कानों में अमृत के समान आनन्द प्रदान करता है।[5] वे धन्यात्मा अपने पुण्य को पुष्ट करते हैं और दुष्कर्मरूपी कीचड़ को मन में ही सुखा डालते हैं, एवं महान् विरोधी क्रूर लोगों को भी सन्तुष्ट कर देते हैं, जो विवेकी शिव नाम का उच्चारण करते हैं।[6] यहां यह विशेष स्मरणीय है कि कवि अन्य नामों की अपेक्षा शिव नाम में विशेष श्रद्धावान् प्रतीत होता है, जिसकी महिमा पूर्वोक्त अनेक स्थलों पर वर्णित है। इस प्रकार जगद्धर भट्ट ने अपनी स्तुतिकुसुमांजलि में अनेक पद्यों में प्रत्यक्ष रूप से नाम की महिमा गायी है। इतना ही नहीं, बल्कि कई स्थानों पर तो कवि नाम के प्रभाव से इतना प्रभावित होता है कि आधा श्लोक ही नामों का बना डालता है।[7]

(ख) नाम के भेद—

नाम को कितनी श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है, वह बात अन्तिम रूप से नहीं कही जा सकती है। परन्तु मुख्य रूप से नाम को त्रिविध विभक्त किया

---

१. कमपि नाम निकाममनोहरं वहति टंकमनंकुशमेव यत्।
   तदकलंकमलंकरणं मुखे भवतु मे शिवनाम निरामयम्॥ स्तु० १०।३८
२. 'नमः शिवायेति चमत्करोति' इत्यादि स्तु० ७।२८
३. शिव शिव शंकर शंकर भवगतिरिति यः प्रलापमुखरमुखः।
   तस्य हि सफला दिवसाः शिवसायुज्यं च हस्तगतम्॥ स्तु० ३७।४
४. शंसतः शिव-शिवेति शाम्भवं नाम कामपि दशां प्रशास्ति मे। स्तु० १४।१४
५. इत्थं विषैकवसतेरपि ते चकास्ति कर्णामृतं सुकृतिनाममृतेश नाम। स्तु० १९।३०
६. स्तु० ३६।२६
७. नीलकण्ठ तरुणेन्दुशेखर त्र्यम्बक त्रिनयनेति भक्तितः।
   गद्गदं निगदतस्तृणोपमं हेमपूर्णमखिलं महीतलम्॥ स्तु० १४।४

जा सकता है। इस विभाग में सभी प्रकार के मुख्य नामों का समावेश हो सकता है—गुणनाम, कर्मनाम तथा विशेषण नाम। त्रिविध विभाग का आधार निम्नलिखित है—

१. 'गुणनाम' उसे कहते हैं, जो भगवान् के स्वाभाविक गुणों के आधार पर हो, जैसे भक्तवत्सल, दयालु, ऐश्वर्यनिधान।

२. कर्मनाम किसी कर्म-विशेष को आधार मानकर रखे गये होते हैं। जैसे विषाद, त्रिपुरारि, मदनान्तक, दैत्यारि प्रभृति।

३. विशेषण नाम भगवान् के ऐश्वर्य से सम्बद्ध होते हैं। यथा—जगद्गुरु, विज्ञाननिधि, सौन्दर्य-निधान, अबोधशामक, त्रिनयन आदि।

प्रधानरूप से इन्हीं के आधार पर भगवान् के नाम वेदशास्त्रों में निर्धारित किये गये हैं। जैसाकि व्यास जी ने कहा है—

गौणानि तत्र नामानि कर्मजानि च कानिचित्।
ऋग्वेदे यजुर्वेदे तथैवाथर्वसामसु।
बहूनि मम नामानि कीर्तितानि महर्षिभिः॥[1]

स्तुतिकुसुमांजलि में यद्यपि अनेक नामों का उल्लेख किया गया है, जिनमें से कुछ विशेषण के रूप में भी हैं। अनेक स्थलों पर एक ही नाम की पुनरावृत्ति भी हुई है। परन्तु सबसे अधिक जिन नामों का प्रयोग इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है, वे हैं शिव तथा शंकर। यहां उपलब्ध उन्हीं विशेष नामों का उल्लेख है, जिन्हें शिव-सहस्रनाम आदि स्त्रोत्रों में प्रमुख स्थान प्राप्त है। स्तुतिकुसुमांजलि में निम्नलिखित नाम विशेष महत्त्व के हैं—नीलकण्ठ, विषाद, शंकर, शुभकर, कल्पशाखी, स्वयम्भू, भूतवर्गानुकम्पी, भव, वृषलक्ष्मण, कपाली, महाकाल, परमेष्ठी, हंस, अम्बरचारी, स्मरजित्, शंभु, स्वामी, विभु, वृषकेतु, पिनाकी, अमृतभैरव, शबर, हर, शिव, त्रिपुरद्विष्, भर्ग, कात्यायनीकामुक. मृड, श्रीभैरव, चण्डीपति, वृषाकपि, विश्वाधिनाथ, खण्डकपालपाणि, उग्र, अघोर, अज, विस्मयनिधि, विभु, राजशेखरमणि, शशधराभरण, करुणामृतसागर शशिकिशोरशिरोमणि, सुधाकरशेखर, द्युतरंगिणीधर, अमृतकुम्भकर, भूतेश, चण्डीश, भक्तिसुलभ, स्थाणु, सर्वज्ञ, शम्भु, विश्वनाथ, मृत्युञ्जय, ईश्वर, मृड, त्रिजगद्गुरु, शूली, करुणार्णव, त्रिभुवनत्राणप्रवीण, प्रभु, जयद, अन्धकरिपु, महेश्वर, भूधरपुत्रिकापति, खण्डपरशु, जितामय, सुधामय, धृतामृतदीधिति, हतान्तक, पुरान्तक, परापर, दयापर, जितस्मर, महेश्वर, त्रिजगत्पति, कैटभद्विष, जितविकार, क्लृप्तलोकोपकार, प्राप्तविश्वाधिकार, स्मररचितनिकार, पार्वतीचाटुकार, क्षितिधरपतिपुत्रीवल्लभ, स्वर्धुनीनीरधारी, हिमकरलेखाशेखर, क्षितिमाल, श्रीकण्ठ, शितिकण्ठ, सतां वरद, अनामय, ईश, हरिणांकशिखामणि, त्र्यम्बक इत्यादि।

---

१. महाभारत, शान्ति पर्व में नारायणीय पर्व, अ० २४१

जगद्धर का कथन है—'शिवशिव' इस प्रकार भगवान् के नामों का उच्चारण (संकीर्तन) करते हुए भक्त किसी अनिर्वचनीय अवस्था का अनुभव करता है।[1] उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि जगद्धर ने नाम की महिमा को जिस पद्धति से माना है, वह भक्तिसिद्धांत के अनुकूल है। कवि ने जहां नाम की महिमा बतलाई है, वहां नाना नामों का उल्लेख करके, "शिव" नाम पर विशेष जोर दिया है। अतः जगद्धर ने भक्ति के इस विशेष साधन को हृदय से मान्यता दी है।

(ग) दैन्य

भक्ति-मार्ग में दैन्य भक्त को भगवान से मिलाने का बहुत बड़ा साधन है। अतएव भक्तों ने अपने जीवन में तथा अपनी स्तुति-प्रार्थना में इसे ग्रहण किया है। जगद्धर अपनी दीनता को प्रकट करते हुए कहता है कि हे स्वामिन्, मैं अज्ञानी हूं, मन्दमति मैं स्तुतियों के द्वारा आपका कृपापात्र बन जाऊं। यद्यपि मैं अति सुन्दर चाटूक्तियां नहीं कर सकता, परन्तु भगवान्, अति आर्त, शरणहीन मुझ दीन के दीनालाप को सुनकर चरणकमल का आश्रय देने का वचन दें।[2] वह कहता है— प्रभो, मैं सब प्रकार से हीन हूं, आप मेरी दीनता को देखकर चित्त में करुणा प्रकट कीजिए। भक्त हृदय अपने दैन्य का प्रदर्शन इन शब्दों में करता है—

वासः क्षीणदशं वयश्च करणग्रामं मनश्चाक्षमं
निःसारेषु दुरीश्वरेष्वपचितेरुद्वेगमंगेष्वपि।
व्यर्थं वेश्म नृजन्म चाखिलमिदं कल्याणशून्यं वपुः
कोषं चोद्वहतः कुरुष्व करुणां चित्ते गिरं च श्रुतौ।। स्तु० ९।८१

(घ) कृपा

कृपा ही प्रत्येक कार्य की सिद्धि का मुख्य हेतु है, यह बात निर्विवाद है। विशेषकर भगवत्प्राप्ति अथवा आत्मसाक्षात्कार दोनों ही कृपा-साध्य हैं। उपनिषद् कहती है कि आत्मा न प्रवचन से, न बुद्धिचातुर्य से, न बहुत सुनने से ही प्राप्त होता है, अपितु यह स्वयं कृपापूर्वक जिसे चाहता है, स्वीकार करता है, यह उसे ही प्राप्त हो सकता है।[3] यह बात भक्ति के सन्दर्भ में नारद ने भी कही है कि मुख्य रूप से महापुरुषों की कृपा से अथवा भगवत्कृपा से ही भगवती भक्ति अनुकम्पा कराकर साध्य की प्राप्ति कराती है।[4]

जगद्धर ने कृपा के इस सूक्ष्म रहस्य को बड़ी बारीकी से समझा तथा कृपा प्राप्ति के लिए अपने इष्ट से याचना की कि हे भगवन्, आप तो जीवों के निष्कारण

---

१. शंसतः शिव शिवेति शाम्भवं नाम कामपि दशां प्रशास्ति मे। स्तु० १४।१४
२. स्तु० ९।८२
३. कठोपनिषद् १।२।२३
४. मुख्यतस्तु महत्कृपयेव भगवत्कृपालेशाद्वा। प्रेमदर्शन, पृ० ७६

बन्धु हैं, आपकी कृपा सूर्य की प्रभा के समान सभी को सुलभ है, परन्तु मैं अभी तक इस कृपा से वंचित हूं।[1] पुनः भगवत्कृपा का अनुभव करता हुआ कवि कहता है कि आपकी कृपा (प्रसाद) से ही मेरे मलों का क्षय हो गया है, इसी से मैंने आपकी यह दिव्य स्तुति की है।[2] जगद्धर का विश्वास है कि जिसे कल्पवृक्ष भी प्राप्त करने में असमर्थ रहा, जिसे प्राप्त करके कुछ प्राप्तव्य शेष नहीं रह जाता, भगवान् का वह अनुग्रह (कृपा) ही त्रिविध तापों के निवारण में समर्थ है।[3] भगवान की कृपा सुधा के समान है।[4] जगद्धर की मान्यता है कि कृपा भक्तिसाध्य है तथा भक्ति की प्राप्ति कृपा के बिना कभी सम्भव नहीं है।[5]

इस प्रकार कृपा के संबंध में जगद्धर की मान्यता भक्तिमार्ग का अनुसरण करने वाली है।

(ङ) स्तुति

भगवत्स्तवन भक्ति का एक प्रधान अंग है। आर्त होकर भगवान् की असीम शक्ति, उनकी वत्सलता, श्रेष्ठ गुणों का बार-बार स्तवन करने से भक्त को शान्ति प्राप्त होती है।

स्तुतिकुसुमांजलि में यद्यपि सभी कुछ स्तुतिमय है, तथापि भक्ति का प्रमुख अंग होने के कारण ग्रन्थकार ने अनेक स्थलों पर स्तुति का विशेष महत्त्व स्वीकार किया है। कवि का कथन है कि भगवत्स्तुतिपरायण व्यक्ति को स्तुति में इन्द्रासन से अधिक लाभ प्रतीत होता है।[6] क्योंकि चन्द्रमा से सुन्दर, अमृतमयी, सुनोहर बालांगना के सुमधुर कथालापरूप अमृत से भी प्रिय, बालमयूर की ध्वनि से भी उत्कृष्ट कर्णामृत-प्रदायिनी शिव की स्तुति सर्वोपरि भक्तिप्रदायिनी है।[7] जगद्धर का कथन है कि भगवान् की स्तुति की जितनी बार आवृत्ति करेंगे, उतनी ही बार उसमें एक नये रस की अनुभूति होगी।[8] क्योंकि जिन लोगों का मन भगवान् की स्तुति में रमता है, वे

---

१. एकस्त्वमेव भविनामनिमित्तबन्धुर्नैसर्गिकी तव कृपा सवितुः प्रभेव। स्तु० ११।७१

२. स्तु० २४।२७ ३. वही ३।४४ ४. वही ७।७

५. नानुग्रहस्तव विना त्वयि भक्तियोगं नानुग्रहं तव विना त्वयि भक्तियोगः।
बीजप्ररोहवदसावनयोर्न कस्य भूत्यै परस्परनिमित्तनिमित्तिभावः॥ स्तु० ९।३६

६. भक्तिनिर्भरगभीरभारतीवैभवो भव भवन्नवेषु यः।
शुष्कशष्पमिव तस्य भासते वासवासनपरिग्रहग्रहः॥ स्तु० १४।२

७. स्यन्दीनि त्रिजगद्गुरोः स्तुतिकथासूक्तानि पुष्णन्तु वः। स्तु० ३।५८

८. सहस्रशश्चिरमपि चर्विता पुनर्नवं नवं स्रवति रसं शिवस्तुतिः॥ स्तु० १४।२६

लोग अन्य किसी भी उच्च से उच्च पद एवं पदार्थ की कामना नहीं करते हैं। चक्रवर्ती राज्य भी उन लोगों को तुच्छ तृण के समान हेय प्रतीत होता है।[1]

इस प्रकार अनेक स्थलों पर[2] स्तुति की महिमा बतलाते हुए कवि अन्त में स्वरचित स्तुति की सफलता पर सन्तोष व्यक्त करते हुए अपने को कृतार्थ एवं पूर्ण अनुभव करते हुए प्रतीत होते हैं। वे कहते हैं कि भगवान् के प्रति मैंने यह जो स्तुतिरूपी वाणी निवेदित की है, इससे मैंने सारे जगत् को ही जीत लिया है, क्योंकि भवसागर से भयभीत और भव की भक्तिसुधा से परम आनन्द को प्राप्त पुरुष को यदि सारी पृथ्वी का भी वैभव मिल जाय, तो इससे भी उसको क्या आनन्द ही है ? अर्थात् कुछ नहीं।[3] जगद्धर भट्ट की स्तुतियों के पाठ से एक अलौकिक अनुभूति होती है। कवि ने स्तुति को जिस संगीतमय ढंग से प्रस्तुत किया है, उसमें स्तुति के साथ संगीत का सम्मिश्रण भी अव्यक्तरूपेण प्रतीत होता है। स्तुति के माध्यम से ही स्तोता स्तुत्य के सम्पर्क का अधिकारी बनता है।

भक्ति के बाह्य साधन

भक्ति की सिद्धि के लिए जिस प्रकार, श्रद्धा, विश्वास एवं प्रेम आन्तरिक साधन के रूप में अनिवार्य हैं, उसी प्रकार भगवती भक्ति को जागरित करने के लिए कुछ बाह्य साधन (उपकरण) भी आवश्यक हैं। भक्त जिस देवता की भक्ति करता है, उसके लिए उस देवता से सम्बद्ध सभी वस्तुएं परमप्रिय होती हैं। उन वस्तुओं के दर्शन एवं सेवन से उस भक्त के हृदय में अंकुरित भक्तिलता, उन सब उपकरणों से सिंचित होकर पल्लवित एवं पुष्पित होती है। अतएव प्रत्येक देवता के उपासक उस देवता से सम्बद्ध सामग्री को भी उसी श्रद्धा से देखते हैं, जिस श्रद्धा से वे अपने इष्ट को देखते हैं। अपने इष्ट की प्रियवस्तु स्वाभाविक प्रिय होती है। इसीलिए शिव भगवान् से सम्बद्ध सभी उपकरणों का जगद्धर भट्ट ने पूरा सम्मान, सत्कार किया है। उनमें विशेष उल्लेखनीय हैं भस्म, रुद्राक्ष माला, गंगा, कैलाश पर्वत, वाराणसी तथा सन्त।

(क) भस्म

शैवमत के बाह्य उपकरणों में भस्म का व्यापक महत्त्व है। प्रत्येक शैव मतानुयायी अपने मस्तक पर भस्म धारण करता है। शिवपुराण में भस्म की महिमा का

---

१. श्रयतां नवनविधौ तव धौतवती गीरघं रतिं चतुरम्।
चतुरन्तमहीपतिता पतिता हेयत्व एव यत्र सताम्॥ स्तु० २३।५

२. स्तु० ३।५८, ६०, ५।१५, २५, २६, ३०, ३६, ७।१, ७, ९, ८।२, ३, ९।४, ५, ५०, २३।५, २५।१९, २६।२६, ३६।३२, ३८।१३, १४

३. त्वयि गीर्मया निजगदे वत या निखिलं जयामि जगदेव तया।
मुदितस्य भक्तिसुधया भवतः सभयस्य किं वसुधया भवतः॥ स्तु० २५।१९

प्रतिपादन बड़े विस्तार से किया गया है।[१] जगद्धर भट्ट भी इस बात से अछूते नहीं रह सके। उन्होंने स्तुति-कुसुमांजलि में भस्म के संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि जिस शिव के अंग में लगे हुए भस्मकण चरणाश्रित सेवकों को कर्पूर के समान स्वच्छ दिव्यातिदिव्य ऐश्वर्य प्रदान करते हैं, उस दयालु प्रभु की मैं शरण लेता हूं।[२]

(ख) माला

बाह्य उपकरणों में माला का स्थान सर्वोपरि है। अपने-अपने सम्प्रदाय की मान्यता एवं देवता के भेद से मालाभेद होता है। जो लोग किसी विशेष मत से संबंध न रख कर सामान्य रूप से माला का उपयोग करते हैं, वे मूंगा, मोती, कांच, सूत, तुलसी, रुद्राक्ष, चन्दन आदि में से किसी भी माला का उपयोग कर लेते हैं। परन्तु वैष्णव सम्प्रदाय के अनेक मतों में से किसी भी मत से सम्बद्ध भक्त तुलसी-माला का ही सेवन करता है। अन्य बाह्य उपकरणों के संबंध में मतभेद होने पर भी माला के संबंध में सभी वैष्णवाचार्य एकमत हैं। शिवाराधक रुद्राक्षमाला को बहुत महत्त्व देते हैं। जगद्धर भट्ट ने भी अक्षमाला को सिद्धि-प्रदात्री कहा है। कवि का कथन है—"हे देव। माला के मध्यस्थ (बीचो-बीच में स्थित हुए) हस्त (करकमल) की दोनों ओर लटकी हुई, मेरु (बीच के मणि) के स्पर्श से रहित और तीव्र आसक्ति के द्वारा निरन्तर जपने से अष्टांग योग को सिद्ध करने वाली यह आपकी अक्ष-माला है।[३]

(ग) गंगा

भारतीय संस्कृति में गंगा की गरिमा अपना विशिष्ट स्थान रखती है। शिव भक्तों के लिए नदियों में गंगा का विशेष गौरव है। जिस प्रकार कृष्णभक्त यमुना को तथा रामभक्त सरयू को आदर की दृष्टि से पूजते हैं वैसे ही शिवभक्त गंगा को। गंगा के साथ भगवान् सदाशिव का बड़ा मधुर संबंध रहा है, जिसकी कथा पुराणों तथा पुराणोत्तर स्तोत्रकाव्यों में[४] व्यापक रूप से उपलब्ध है। ऐसी स्थिति में परम शैव जगद्धर भट्ट काश्मीरवास्तव्य होने पर भी अपने आराध्यदेव की प्रियतमा

---

१. शिवपुराण, विद्येश्वर संहिता, २४।९२

२. यस्यांगभस्मकणिकाश्चरणाश्रितेषु कर्पूरधूलिपटलश्रियमाश्रयन्ति ॥ स्तु० ८।१०

३. मध्यस्थितेरुभयपार्श्वगता चकास्ति
हस्तस्य मेरुपरिमर्शविनाकृतेयम्।
अव्याहताग्रहवशाहितयोगसिद्धि-
र्नक्षत्रपंक्तिरिव देव तवाक्षमाला ॥ स्तु० १९।११

४. शंकराचार्यकृत गंगाष्टकम्, पण्डितराज जगन्नाथकृत गंगालहरी प्रसिद्ध हैं।

श्रीगंगा को ही याद करता है, निकटस्थ नदियों को नहीं। जगद्धर भट्ट की दृष्टि भी गंगा के संबंध में परम आस्तिक है। कवि गंगा को केवल जलप्रवाहमयी पवित्र नदी ही नहीं मानते, अपितु सर्वमनोरथपूर्णकर्त्री परमशक्ति स्वीकार करते हैं।

उनका कथन है—"जो तीनों लोकों में ऐहिक और आमुष्मिक अभ्युदय की जन्मभूमि एवं अति उत्तम स्वर्ग से भी अधिक पूजनीय स्थान (मोक्षधाम) में आरोहण करने की सीढ़ी है, वह त्रिलोकी (तीनों लोकों) का अभ्युदय और पंक में डूबे हुए प्राणियों का उद्धार कर धर्मनीति को प्रकट करने वाली श्रीसदाशिव के मुकुटरूप ध्वजा में पताका के समान शोभायमान जाह्नवी आपकी रक्षा करें।"[1]

गंगा के प्रति जगद्धर भट्ट के ये भाव श्रद्धा एवं विश्वास की चरम परिणति के द्योतक हैं। भक्त को गंगादर्शन होते ही अपने परमाराध्य सदाशिव की पावन स्मृति हृदय में जाग उठती है, वह गंगा की स्वरलहरियों से भी हर-हर की ही ध्वनि सुनता है। उसका विश्वास है कि ये प्रवाह भौतिक जलमात्र नहीं है, बल्कि उस पराशक्ति का शरीर है, जिसके स्नान एवं पान से अघौघशमन होता है, भगवान् सदाशिव प्रसन्न होता है। इन्हीं भावों से भावित होकर स्तुतिकुसुमांजलिकार भी गंगा को साक्षात् शक्तिस्वरूप देखता है तथा उसकी स्तुति कर पाठक के हृदय में भी गंगा के प्रति श्रद्धा जागरित करता है। कवि कहता है—"मेरा यह निश्चय है कि इस जन्म-मरण रूपी सांसारिक विपत्ति से अत्यन्त कातर हुए प्राणियों के लिए केवल भगवान् शंकर की भक्ति को छोड़ कर अन्य कोई भी अभिलषित वस्तु कल्याण-दायक नहीं हो सकती। इसी कारण विद्वान् लोग केवल परमेश्वर के ही चरणकमलों की सेवा में तत्पर होकर दूर तक फैलने वाली चंचल तरंग रूपी भुजाओं से जीवों के जन्म-मरण रूपी महाव्याधि और विविधि तापों को दूर करने वाली भगवती गंगा के अवगाहन में ही निरन्तर दृढ़ अनुराग करते हैं।[2] इसी प्रकार के भाव गंगा के संबंध में अन्य कई पद्यों में उपलब्ध हैं।[3] इस प्रकार सर्वत्र नदी के रूप में केवल गंगा का

---

१. लोकत्रयाभ्युदयजन्ममही महीयःस्थानाधिरोहणविधावधिरोहिणी या।
सा चन्द्रचूडमुकुटध्वजवैजयन्ती जह्नोरनिह्नुतनया तनयाऽवताद्वः॥ स्तु० ३।२६

२. दूरोदञ्चच्चटुललहरीहारिहस्तव्युदस्तव्यापत्तापत्रिदशतटिनीमज्जनोन्मज्जनेषु।
श्रद्धाबन्धुं शशधरशिरःपादराजीवसेवाहेवाकैकव्यसनमनसस्तेन तन्वन्ति सन्तः॥
स्तु० ७।४२

३. (१) तस्य प्रभोरघमलोष्मशमादमन्दा
मन्दाकिनीव मुदमर्पयतु स्तुतिर्वः॥ स्तु० ३।४९

(२) पादाग्रनिर्गतमवारितमेव वारि
यत्राधिरोहति शिरस्त्रिदशापगायाः। ४।८

ही गौरव गाया गया है। स्तुतिकुसुमांजलि में एक स्थल पर यमुना का भी उल्लेख किया गया है।[1] परन्तु गंगा की महिमा अन्य नदियों की अपेक्षा अधिक वर्णित है।[2]

(घ) कैलाश

जिस प्रकार कृष्णानुरागी गोवर्धन पर्वत का आदर श्रीकृष्ण के समान ही करते हैं, उसी प्रकार शिवभक्त अपने प्रियतम सदाशिव की क्रीडास्थली कैलाश का समादर करते हैं। कविकुलगुरु कालिदास ने भी कुमारसम्भव के आरम्भ में कैलाश का भव्य वर्णन किया है। अपने प्रिय शिव के स्वरूपभूत कैलाश को स्तुतिकुसुमांजलि-कार सब पर्वतों में श्रेष्ठ कहता है।[3] भक्त को कैलाश को श्रेष्ठ कहने मात्र से सन्तोष नहीं होता, क्योंकि कैलाश का नाम लेते ही उसे अपने प्रियतम शिव कैलाश पर विहार करते प्रतीत होते हैं और भक्तहृदय कह उठता है—"वे सुमेरु और मन्दराचल आदि पर्वत किस काम के हैं ? अर्थात् किसी काम के नहीं। बस, केवल एक वह कैलास ही अतिश्रेष्ठ पर्वत है, जिसके अति निर्भय, स्वच्छ, निःशंक, परम-मनोहर, निष्कलंक अंक को जगद्गुरु श्री भगवान् गिरीश विभूषित करते हैं।"[4]

(ङ) वाराणसी—

जिस प्रकार वैष्णवों के लिए श्रीवृन्दावन एवं अयोध्या धाम के रूप में आदरणीय हैं, उसी प्रकार शैवों के लिए वाराणसी (काशी) समादरणीय है। काशी

---

(३) त्वंगत्तरंगसुभगा गगनापगेव ॥ स्तु० ५।१

(४) मत्वेति चेत् त्यजसि मामयमीदृगेव
गांगस्त्वया किमिति मूर्ध्नि धृतः प्रवाहः ॥ ११।३९

(५) हन्ता यमार्तिमपि नारकिणां धृतश्चेन्
मूर्ध्ना किलेति वहसे यदि गांगमोघम् ॥ ११।४०

(६) भार्गीं भक्तिं दधति हृदये निस्तरंगामभंगां
गंगातीरे विहितरतयो दुर्लभाः पूरुषास्ते ॥ १७।११

(७) वरद परमतापक्लेशजित्त्वत्प्रसादात्
प्रभवति भवदीये मूर्धनि स्वर्धुनीव ॥ १८।३

(८) अयि हृदय दयार्द्रः स्वर्धुनीनीरधारी
त्वयि विहरति हस्तन्यस्तपीयूषकुम्भः ॥ १८।१०

१. यस्मिन्घनांजनरुचिर्भुजगः कलिन्दकन्याहृदान्तरितकालियभंगिमेति ॥
स्तु० १९।१३

२. नदीषु नभोनदी ॥ स्तु० १८।२३

३. इह हि गिरिषु प्रालेयाद्रिः...। स्तु० १८।२३

४. किं मेरुमन्दरमुखैर्गिरिभिर्गरीयान् कैलाश एव जगदेकगुरुर्गिरीशः।
यस्याभयकरमसंकरमस्तशंकमंकं सुटंकमकलंकमलंकरोति ॥ स्तु० कु० १८।४३

में शरीर त्यागने भर से मुक्ति मिलती है, यह प्रसिद्ध है। इसलिए प्रत्येक शिवभक्त उसे अवश्य याद करता है। जगद्धर भट्ट ने भी काशी का स्मरण किया है एवं उसे समस्त पापों का नाश करने वाली कहा है।[1]

(च) गजचर्म, श्मशान, कपाल, मुण्डमाला

गजचर्म, श्मशान, मुण्डमाला आदि जो-जो पदार्थ एवं उपकरण शिव को प्रिय हैं, वे शिवभक्त को भी प्रभावित करते हैं। जगद्धर भट्ट कहता है—अत्यन्त घन शोणित से लिप्त हुआ भी गजचर्म जिस भगवान् के दिव्य मंगलमय शरीर में अतिमनोहर मांगलिक उतरीय वस्त्र के समान बन जाता है, और जिस प्रभु के हस्तकमल में अशुचि कपाल (अपवित्र खप्पर) भी तापत्रयविह्वलित प्राणियों के लिए अमृतपूर्ण कमण्डलु के समान बन जाता है, मैं उसकी शरण हूं।[2] शिव के चरणारविन्द की रज के स्पर्श से अतिपवित्र हुआ वह श्मशान, श्रीशैल और नैमिषारण्य प्रभृति तीर्थों को भी तिरस्कृत कर देता है और जिसके स्पर्श से मुण्डमाला भी भाग्यवानों को कमलपंक्ति के समान अखण्ड सुख देती है।[3] चन्द्रमा, अमृतकलश और गंगाजल आदि पदार्थ जिस प्रभु के चित्त के खेद को दूर करते हैं, यह तो युक्त ही है, किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि जिसके अंग-स्पर्श से वह प्रेत-भस्म (चिता-भस्म), मुण्डमाला, कालकूट तथा सर्प भी परम मनोहर हो जाते हैं।[4]

(छ) सन्तमहिमा

सन्त-महिमा की अनुभूति भक्ति भाव को जागरित करने में महान् उपकरण है। अतएव भक्त कवियों ने सन्तमहिमा गाई है। स्तुतिकुसुमांजलिकार ने भी उस पद्धति का अनुसरण करते हुए कहा है—"सन्त पुरुष तो कुपात्र जनों पर भी बिना ही कारण अतिशय दयार्द्रचेता हुआ करते हैं।"[5] अनेक श्रेष्ठ गुणों वाले सन्त भगवान्

---

१. वाराणसीव दृगघक्षयकृद्ध्रुवारा। स्तु० ३०।५०

२. यस्येभचर्म घनशोणितपंकलिप्तमङ्गेषु मंगलदुकूलविलासमेति।
यस्यापि तापविधुरेषु करे कपालमालम्बतेऽमृतकमण्डलुखण्डलीलाम्॥
स्तु० ८।१२

३. यत्पादपांसुपरिमर्शशुचि श्मशानं श्रीशैलनैमिषमुखान्यधरीकरोति।
यत्संस्तवादविकलं कुशलं कपालपाली करोति कृतिनां कमलावलीव॥
स्तु० ८।१३

४. युक्तं सुधाकरसुधाकरकद्युसिन्धुतोयादि यन्मनसि तापमपाकरोति।
यस्यांगसंगि शवभस्मकपालमालाहालाहलादिदहनाद्यपि हृद्यमेव॥ स्तु० ८।२१

५. सन्तस्त्वभाजनजनेष्वपि निर्निमित्तं चित्तं वहन्ति करुणामृतसारसिक्तम्॥
स्तु० ११।३३

के हृदय में अपना स्थान बनाते हैं।[1] ऐसे गुणों से सम्पन्न सन्तों की अवस्था यह होती है कि जब वे लोग भगवद्ध्यान में मग्न हो जाते हैं, तब उनके नेत्रों से प्रेमाश्रुओं का प्रवाह झरने लगता है, उस अश्रुप्रवाह से उनके कपोल भी धुल जाते हैं। ऐसी स्थिति में सन्त चन्द्रखण्ड का भूषण धारण करने वाले देव की 'शंकर' 'शंकर' कहते हुए स्तुति करते हैं।[2]

सन्त

भक्त कवि जगद्धर ने सन्तों की महिमा में जो कहा है, यह परम्परा सनातनी है। भक्ति के प्रसंग में सन्तों का कथन आवश्यक है। भक्तों ने भी सन्तों की महिमा गाई हैं। सन्त वे हैं, जो दैवी सम्पदा से पूर्ण हैं; अर्थात् जो निर्भय हैं, निर्मल अन्तःकरण, भगवद् भजन में निरन्तर सुदृढ स्थिति वाले हैं। अपने धर्म का पालन करने के लिए जो कष्ट सहन करते हैं। अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, निन्दा न करना, दया, कोमलता, लोक और शास्त्र से विरुद्ध आचरण में लज्जा, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अभिमान का अभाव, आदि श्रेष्ठ गुणसम्पन्न मनुष्य को ही सन्त कहा जाता है। ऐसे सन्त भगवान् के रूप का श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन करते हैं। प्रभु के नाम, गुण, प्रभाव, महिमा और लीला-चरित्रों का श्रवण, मनन और कीर्तन करते हैं। जैसे ये सन्त निरन्तर एक भाव से भगवान् का भजन करते हैं, वैसे ही इन प्रेमी भक्तों का स्मरण भगवान् भी करते हैं। सामान्य रूप से भगवान् सर्वान्तिर्यामी हैं, परन्तु विशेष रूप से भक्तहृदय में प्रकट होते हैं। सन्तों की महिमा सन्त साहित्य में बड़े विस्तार से कही गयी है। तुलसीदास जी ने संतों को जंगम तीर्थ कहा है : जे जग जंगम तीरथराजू। भागवत पुराण में दुर्वासा से प्रभु ने सन्तों की महिमा इस प्रकार कही है—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यं ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥ भा० पु० ९।४।६८

अर्थात् साधु (सन्त) मेरे हृदय हैं और मैं उनका हृदय हूं। वे मेरे सिवाय और किसी को नहीं जानते तथा मैं उनको छोड़कर और किसी को नहीं जानता।

इस प्रकार भक्ति परम्परा में अन्यों की तरह भक्त कवि जगद्धर भी सन्तों की महिमा कहे बिना नहीं रह सका। इसका विवरण पहले किया जा चुका है।

---

१. मुक्तामया दीर्घगुणाः सुवृत्ता नैर्मल्यभाजो दधतः फलर्द्धिम्।
कथं न हारा इव भक्तिमन्तः पदं हृदीशस्य भजन्ति सन्तः ॥ स्तु० १२।१०

२. मीलद्विलोचन-समुद्गसमुद्गताश्रु-
स्रोतःस्रुतिस्नपितमूलकपोलभागाः।
देवं शशांककलया कलितावतंसं
शंसन्ति सन्त इह शंकर शंकरेति ॥ स्तु० १।२४

८. निष्कर्ष—

इस अध्याय का उद्देश्य भक्ति का स्वरूप, उत्पत्ति, परम्परा और विकास दर्शाना है। नवधा-भक्ति, भगवान का स्वरूप, नाम-गौरव, बाह्याभ्यन्तर उपकरणों का संक्षिप्त अध्ययन करते हुए "स्तुतिकुसुमांजलि" के आधार पर भक्तिविषयक सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। "स्तुतिकुसुमांजलि" भक्तिशास्त्र का स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर एक स्तोत्रकाव्य है। इसमें कवि ने अपने हृदय के निश्छल उद्‌गारों, मार्मिक भावनाओं तथा विनम्र आत्मनिवेदन को भगवान् सदाशिव के पावन चरणों में अर्पित किया है। फिर भी इन उद्‌गारों के माध्यम से जगद्धर ने प्रायः उन सभी मान्यताओं को कह दिया है, अथवा संकेतित कर दिया है, जिन्हें भक्तिशास्त्र के आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में प्रस्तुत किया था। यहां पाठकों एवं श्रोताओं को प्रौढ़ संस्कृत भाषा के माध्यम से सरस एवं ललित शैली में भक्ति सम्बन्धी सभी बातें मिल जाती हैं। कवि ने भवभय से त्राण पाने के एकमात्र साधन के रूप में शिवभक्ति को प्रस्तुत किया है। जगद्धर के अनुसार भक्ति-प्राप्ति का प्रमुख हेतु शिवकृपा है। शिव-कृपा की इच्छा करने का प्रत्येक मनुष्य को अधिकार है। भक्त इस कृपायाचना में अथवा शिव के प्रति विवशता एवं दीनता प्रकट करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करता, उसे वह अपना अधिकार-पूर्ण कर्म समझता है। यहीं भक्तियोग और कर्मयोग दोनों समन्वित हो जाते हैं और भक्ति के द्वारा समस्त विश्व के कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता प्रतीत होता है।

"स्तुतिकुसुमांजलि" के इन प्रसंगों को देखने से निश्चित हो जाता है कि जगद्धर पहले भक्त हैं, फिर कवि। वे जिन विचारों, भावनाओं और अनुभवों को भक्ति की अनवरत साधना के द्वारा पा सके थे, जिनकी उपलब्धि प्रायः ग्रन्थों से नहीं होती है, जो भक्त अथवा साधक की निधि होती है। उन सबका मनोरम संकलन स्तुति-कुसुमांजलि में है।

स्तुतिकुसुमांजलि के ये स्तोत्र भक्ति-मणिमाला की वे भास्वर मणियां हैं, जिन्हें इस भक्त शिल्पी ने भगवान् शिव के साकार एवं सगुण रूप के मनोहारी सूत्र में पिरोया है। प्रायः ऐसा कोई भी श्लोक नहीं है जिसमें भगवान् शिव मूर्तिमान होकर न दिखायी देते हों। भक्ति का गांभीर्य, आत्मनिवेदन की तन्मयता, शरणागति एवं दैन्य की चरम सीमा तथा भगवान् के असीम ऐश्वर्य की अनुभूति की दृष्टि से स्तुतिकुसुमांजलि एक सफल भक्तिस्तोत्रकाव्य है। यह जगद्धर की इस क्षेत्र में निश्चित ही एक अप्रतिम कृति है।

चतुर्थ अध्याय

स्तुतिकुसुमांजलि का दार्शनिक पक्ष

१. दर्शन की प्रवृत्ति

मनुष्य मात्र शाश्वत सुख चाहता है। परन्तु सुख प्रयत्नों से भी प्राप्त नहीं होता है। दुःख कोई नहीं चाहता, पर यह बिना चाहे ही आ जाता है। ऐसी स्थिति में दुःख से उद्विग्न रहकर हम सदा सुख प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करते हैं। प्रतिकूल वेदनीय होने से दुःख त्याज्य है। दुःख का स्वरूप क्या है ? यह अनिश्चित भी होता है ? इससे छुटकारा मिल सकता है कि नहीं ? और यदि मिल सकता है तो कुछ काल के लिए या सदा के लिए ? इत्यादि प्रश्न विवेकशील मनुष्यों के मन में स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होते हैं। प्राचीन काल से ही दुःखों की निवृत्ति के लिए अनेक उपायों की गवेषणा की गई है, क्योंकि कहने या चाहने मात्र से दुःख का नितान्त अभाव असम्भव है। अतः प्रथम दुःख के स्वरूप तथा उसके कारण का यथार्थ ज्ञान होना चाहिए, तभी उसके निवारण का प्रयास सम्भव होगा और तभी नाना प्रकार के दुःखदावानल में दह्यमान मनुष्य के दुःख का आत्यन्तिक विनाश होगा।

त्रिविध दुःख

मुख्य रूप से दुःख तीन प्रकार का है, आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। "आत्मनि इति अध्यात्मं तदधिकृत्य जायमानमाध्यात्मिकम्" इस व्युत्पत्ति से यहां आध्यात्मिक पद से शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार के दुःखों का ग्रहण होता है। वस्तुतः आत्मा में दुःख कभी हो ही नहीं सकता है। अतः आत्मपद से उपचारतः शरीर एवं मन ही गृहीत होता है। वात, पित्त और कफ के विकार से होने वाले ज्वर आदि दुःख शारीरिक और काम, क्रोध, लोभ, भय आदि से उत्पन्न होने वाले मानसिक दुःख होते हैं। यद्यपि "सुखदुःखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः" के अनुसार सुख-दुःख आदि मानसिक ही कहने चाहिएं। फिर भी जो केवल मन से उत्पन्न होते हैं, उन्हें मानसिक तथा जो शरीर में उत्पन्न होते हैं उन्हें शारीरिक कहा गया है। इन्हें आध्यात्मिक इसलिए कहा गया है कि ये आन्तरिक साधनों से ही समाप्त होते हैं। आधिभौतिक और आधिदैविक ये दोनों बाह्य उपायों से शान्त होते हैं।

प्राणिमात्र से मिलने वाले जो कष्ट हैं वे सभी "भूतानि चराचरजातीयानि अधिकृत्य निमित्तीकृत्य जायमानं यद् दुःखं तदाधिभौतिकम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार आधिभौतिक माने गए हैं। "देवान् यक्षादीन्, दिवः प्रभवान् वातवर्षातपशीतोष्णादीन् वा अधिकृत्य जायमानं यद् दुःखं तदाधिदैविकम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार ग्रहों, वर्षा एवं भूकम्प आदि से होने वाले दुःखों को "आधिदैविक" कहा गया है।

दुःखनिवृत्ति के हेतु

तीनों प्रकार के दुःखों से मुक्ति प्राप्त करने के लिए मानव ने विज्ञान का आश्रय लेकर नाना प्रकार के साधनों का संग्रह किया है। मन आदि के दोष के निवारणार्थ भी अनेक उपदेशात्मक शास्त्रों की रचना की है। परन्तु मानवनिर्मित समस्त साधन इसको कुछ काल के लिए ही दुःख से छुटवा सकते हैं, सदा के लिए नहीं। जैसे किसी को ज्वर हुआ, इस ज्वर रूपी दुःख को औषधि के द्वारा दूर कर दिया गया। परन्तु यह ज्वर का दुःख सदा के लिए दूर हो गया, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि ज्वर कालान्तर में फिर दुःख देता है। अतः दुःख के विनाशार्थ लौकिक उपाय समर्थ नहीं हैं। हां, कुछ काल के लिए ये दुःखशमन में समर्थ हो सकते हैं, नहीं भी। अतः लौकिक कर्मकलाप से दुःख से छुटकारा पाते न देखकर मननशील मनीषियों ने दार्शनिक विधाओं का आविष्कार किया है।

दर्शन के द्वारा मानव को दृश्यमान जगत् एवं जगत् के अधिष्ठान सर्वव्यापक आत्मा का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर दुःख की आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक निवृत्ति हो जाती है। क्योंकि "मैं दुःखी हूं", "मैं सुखी हूं" यह अनुभूति अज्ञानजनित है, वास्तविक नहीं। सुख-दुःख गुणों का धर्म है, माया ही गुणमयी है, मैं मायातीत हूं, अतः सुख-दुःखरहित हूं। ऐसा चिन्तन सार्वकालिक होने पर मनुष्य सदैव आनन्द का अनुभव करता रहता है, फिर उसके लिए दुःख का नितान्त अभाव हो जाता है।

२. दर्शन की उत्पत्ति

मनुष्य स्वभाव से चिन्तनशील है। प्रकृति नटी के इस अद्भुत रहस्य को देखकर सभी को स्वभावतः कुतूहल होता है, परन्तु यह सब कहां से उत्पन्न हुआ तथा कहां विलीन होगा, हम कौन हैं, कहां से आए हैं और अन्त में कहां जाएंगे, इस प्रकार के तत्त्वपरक कुछ प्रश्न चिन्तक के चित्त में ही जन्म लेते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी इस प्रकार के प्रश्नों की विचारणा करके जगत्कारणमीमांसा प्रस्तुत की है—

किं कारणं ब्रह्म, कुतः स्म जाता, जीवाम केन, क्व च संप्रतिष्ठाः।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥ १।१

इस प्रकार के विचारों का उद्भव ही भारतीय दर्शन के आरम्भ का कारण है। भारतीय दर्शन का आरम्भ मानवीय सभ्यता के आदिकाल में आर्यावर्त्त में हुआ। ऋग्वेद के संगीतमय उद्गारों का अन्त उपनिषदों के चिन्तनमय विचारों में हुआ। वेद का पर्यवसान वेदान्त में हुआ, जिसका प्रमुख विवेच्य ब्रह्म तत्त्व है। परन्तु उस परम सत्य ब्रह्म तत्त्व का विवेचन भारतीय मनीषियों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से नानाविध किया है, जिसके परिणामस्वरूप भारत-भूमि में अनेक दार्शनिक विधाओं का प्रादुर्भाव हुआ। इनमें सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, पूर्व-उत्तर मीमांसा, पाशुपत, पांच-

रात्र और प्रत्यभिज्ञा आदि आस्तिक दर्शन हैं तथा चावार्क, जैन और बौद्ध आदि नास्तिक दर्शन हैं। जहां तक दर्शन के क्षेत्र में अद्वैतवाद के स्थान, महत्त्व एवं देन की बात है, विभिन्न भारतीय एवं विदेशीय दर्शन-पद्धतियों के लिए अद्वैतवाद का विशिष्ट स्थान तथा महत्त्व है और इसने कुछ न कुछ देन अवश्य दी है। प्रत्येक दर्शन ने अपने विचारों एवं संस्कारों के अनुरूप उस परम सत्य की परिभाषा की है।

विभिन्न मत

बाह्य जगत् के इस दृश्यमान विशाल जगत् जाल का मूल खोजने की प्रक्रिया में अनेक ऋषि-महर्षियों ने अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा का उपयोग किया। इसमें कुछ ने वेद के दिव्यालोक के प्रकाश में इस तत्त्व की गवेषणा की, जबकि कुछ अन्य मनीषियों ने मात्र अपनी प्रतिभा के बल पर चिन्तन आरम्भ किया। इन सभी विचारकों ने ज्ञाता निर्दोष स्वरूप की प्रस्थापना का प्रयत्न किया। इनमें से नैयायिक और प्राभाकर ज्ञाता को जड बताते हैं। भाट्टमीमांसक उसे ज्ञानाज्ञानरूप कहते हैं तथा सांख्य और वेदान्त आदि उसे चेतन, नित्य और सत् कहते हैं। विज्ञानवादी बौद्ध ज्ञाता को क्षणिक मानते हैं, और शून्यवादी उसे असत् या शून्य कहते हैं। अद्वैतवेदान्त के अनुसार समस्त ज्ञेयत्व और ज्ञातृत्व का अधिष्ठान जो चैतन्य है, जिसके होने पर ही विषय और विषयी का ज्ञान होता है, और न होने पर नहीं होता है, वह सर्वव्यापी त्रिकाला-बाधित (देशकालातीत) चैतन्य ही ज्ञाता आत्मा का शुद्ध स्वरूप है। ज्ञाता का ज्ञातृत्व भी ज्ञान और ज्ञेय की अपेक्षा से है, अतः ज्ञानत्व भी औपाधिक सिद्ध होता है। वह औपाधिक मिथ्या ज्ञानत्व का परित्याग करके जो अधिष्ठानभूत निरूपाधिक चैतन्य-मात्र अवशिष्ट रहता है, वह ज्ञाता है।

शिवाद्वैतवाद के अनुसार एकमात्र सदाशिव ही ज्ञाता है, वह अपनी शक्ति से समन्वित होकर स्वयं ही सब कुछ बनता है। इस प्रकार ज्ञाता के सम्बन्ध में विभिन्न विचार होते हुए भी अन्तर्मुखी जिज्ञासा से प्रतिफलित ज्ञाता के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जिन प्रमाणादि विषयों पर विचार करना आवश्यक है, वे सभी विषय दर्शनशास्त्री की चिन्तनदृष्टि में आते हैं। कारणकार्यपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पदार्थविज्ञान, अध्यात्मविज्ञान, तत्त्वदर्शन, सृष्टिसिद्धान्त और फलविचार आदि दर्शनशास्त्र के अनिवार्य अंग हैं। ये सब द्रष्टा के स्वरूपज्ञान में परम सहायक होते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ शिवस्तोत्र से सम्बद्ध होने के कारण किसी भी एक दर्शन के क्षेत्र में सीमित नहीं है। यहां तो भक्त-कवि अपने मूर्तरूप में विद्यमान परमाराध्य शिव को प्रसन्न करने के लिए उसे नाना प्रकार से सम्बोधित करता है, परन्तु भारतीय चिन्तनधारा में निष्णात होने के कारण संस्कारवश कहीं-कहीं शिव को ही परम तत्त्व की व्यापक सत्ता के रूप में मानकर दर्शन के क्षेत्र में अवतरित हो जाता है। उन्हीं स्थलों पर वह दार्शनिक सूक्ष्म तत्त्वों का निर्देश भी करता है।

जगद्धर ने इस स्तोत्रावली में प्रमुख रूप से त्रिकदर्शन, अद्वैतवेदान्त तथा

योगदर्शन के कुछ विचारणीय सिद्धान्तों एवं तत्त्वों का उल्लेख किया है। इनमें भी शैव दर्शन से सम्बद्ध विचारणा अधिक है क्योंकि कवि काश्मीर-निवासी है, जहां त्रिक-दर्शन का सर्वाधिक प्रभाव तथा प्रसार था। अतः कवि ने स्तोत्र के माध्यम से इस दर्शन की अनेक मान्यताओं को सम्यक् उद्‌घाटित करने का सफल प्रयास किया है। इसका विवेचन आगे के पृष्ठों पर देखा जा सकेगा। गौणरूपेण शांकरवेदान्त तथा योग का भी दिग्दर्शन मात्र कराया जायेगा।

३. काश्मीर शैवदर्शन का परिचय

काश्मीर प्रदेश में जिस अद्वैतवादी विचारधारा का जन्म हुआ, उसे त्रिकधारा के अन्तर्गत "त्रिक दर्शन" के नाम से पुकारते हैं। आगम, स्पन्द, प्रत्यभिज्ञा, ये तीन अवान्तर धाराएं आती हैं, जिन्हें सामूहिक रूप से त्रिक की संज्ञा दी गई है। इस अद्वैत दर्शन पर उपलब्ध साहित्य के प्रायः सभी रचयिता कश्मीर के निवासी हैं। अतः कश्मीर के बाहर देश-विशेष के नाम पर इसे "काश्मीर शैव दर्शन" नाम से अभिहित किया जाता है।

काश्मीर शैव दर्शन की तीन धाराओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) **आगम**—काश्मीरी अद्वैत शैव दर्शन की यह सर्वप्रधान तथा सबसे प्राचीन धारा है। इसका आधार ६४ आगम ग्रन्थ हैं। सभी ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं हैं। मालिनीविजयोत्तर, स्वच्छन्दतन्त्र, नेत्रतन्त्र, विज्ञानभैरव आदि उपलब्ध हैं। वसुगुप्त द्वारा लिखित "शिवसूत्र", जिस पर उनकी टीका और क्षेमराज की "विमर्शिनी" टीका मिलती है, इस धारा का प्रमुख ग्रन्थ है।

(२) **स्पन्द**—इस नाम से भी काश्मीर शैव दर्शन को पुकारा जाता है। काश्मीर के शैवाचार्यों के अनुसार परमेश्वर अपनी स्पन्दरूपा शक्ति से सदैव अभियुक्त रहता है। स्पन्दरूपा शक्ति ही उसका नित्य स्वभाव है। शिव के इस रूप का तात्त्विक विवेचन कल्लटकृत स्पन्दकारिका में मिलता है। इस पर अपनी निर्णय-वृत्ति में आचार्य क्षेमराज ने "स्पन्दशास्त्र" संज्ञा से भी इस दर्शन का उल्लेख किया है।[1] किन्तु आचार्य उत्पलदेव ने "स्पन्द" शब्द का व्यापक अर्थ न लेकर केवल स्पन्दकारिकाओं के लिए ही "स्पन्दशास्त्र" का प्रयोग किया है।[2]

(३) **प्रत्यभिज्ञा**—अद्वैत शैव दर्शन के इस नामकरण का कारण प्रत्यभिज्ञा का सिद्धान्त है। इस दर्शन के प्रमुख ग्रन्थ का नाम उत्पलाचार्यरचित "ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा" है। इस कारण से इसे "प्रत्यभिज्ञा" नाम से पुकारते हैं। माधवाचार्य ने तथा बलदेव उपाध्याय ने इस दर्शन को प्रमुख रूप से "प्रत्यभिज्ञा" की संज्ञा दी है।[3] प्रत्य-

---

१. स्पन्दनिर्णय, पृ० ३

२. यथोक्तं स्पन्दशास्त्रे। उत्पलदेवकृत वृत्ति सहित शिवदृष्टिवृत्ति, पृ० ३

३. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १९० तथा भारतीय दर्शन, पृ० ५९५

भिज्ञा-सिद्धांत यह है कि बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति होने पर ज्यों ही गुरुवचनादि से मित प्रमाता को यह प्रत्यभिज्ञान हो जाता है कि "मैं शिव हूं" त्यों ही उसे तत्क्षण आत्म-स्वरूप शिव का साक्षात्कार हो जाता है। अतः भारतीय दर्शनशास्त्र में मोक्षप्राप्ति के लिए प्रत्यभिज्ञान का यह सुघटमार्ग अपनी नवीनता एवं विशिष्टता के कारण शैव दर्शनों के अन्तर्गत प्रत्यभिज्ञा दर्शन के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस धारा को अभिनव-गुप्त सदृश आचार्यों ने अपनी टीका एवं भाष्य आदि के द्वारा परिपुष्ट किया। इन्हीं कारणों से इस धारा को कालान्तर में विशेष महत्त्व मिला।

४. काश्मीर शैवदर्शन का आविर्भाव, विकास, साहित्य तथा परम तत्त्व

(क) **आविर्भाव**—भारतीय विद्वानों में अपने शास्त्रों को न केवल प्राचीनतम सिद्ध करने की अपितु अनादि एवं अपौरुषेय बतलाने की भी परम्परा रही है। प्रायः प्रत्येक वर्ग ने अपने से सम्बद्ध शास्त्र को अधिक से अधिक प्राचीन सिद्ध करने का यत्न किया है। शैव दर्शन को भी अति प्राचीन माना गया है। अतः उसकी आविर्भाव तिथि पर विचार करना ही कठिन है। हां, लेखन एवं प्रकाशन की दृष्टि से भले ही हम काल का निर्णय कर लें। काश्मीर के शैवाचार्यों ने शिवदृष्टि के सातवें आह्निक में शैवशास्त्रों के आविर्भाव का उल्लेख करते हुए लिखा है—"कलियुग का प्रारम्भ होने पर शिवशासन के व्याख्याता ऋषि-गण सामान्य जनों की पहुंच के परे कलापि ग्राम आदि दुर्गम पर्वतीय स्थानों पर चले गये। उपदेष्टाओं की परम्परा के इस प्रकार तिरोहित हो जाने पर लोक में शैवशास्त्रों का प्रचार अवरुद्ध हो गया और अज्ञानान्धकार में भटककर लोग दुःखी होने लगे। संसार रूपी समुद्र में निमग्न प्राणियों के प्रति दयापूर्ण हृदय होने के कारण धराधाम पर श्रीकण्ठ के रूप में प्रकट होकर श्रीसदाशिव ने कैलास पर्वत पर विचरण करते हुए इस शास्त्र का प्रचार करने के लिए दुर्वासा मुनि को आज्ञा दी। इस आज्ञा की पूर्ति करने के लिए महामुनि दुर्वासा ने त्र्यम्बकादित्य नामक मानस पुत्र उत्पन्न किया और शैवागम का सम्पूर्ण रहस्य उसे प्रदान करके अद्वैत शैव-दर्शन का प्रचार करने को कहा। इस प्रकार अद्वैत शैवागम का आविर्भाव हुआ।[1] तदनतंर इस त्र्यम्बक के नाम पर "त्र्यम्बकशास्त्र" लोक में विख्यात हुआ।[2]

त्र्यम्बकादित्य की परम्परा में सोलहवां शिष्य संगमादित्य घूमते-घूमते काश्मीर गया और वहीं रहने लगा।[3] उसके पुत्र-पौत्रादि एवं शिष्यों ने सम्पूर्ण काश्मीर प्रदेश में इस शास्त्र का प्रचार-प्रसार किया।

---

१. शिवदृष्टि, आ० ७।१०७-१२१, सोमानन्द

२. एवमेषां त्र्यम्बकाख्या तैरम्बा-देशभाषया।
स्थिता शिष्यप्रशिष्याद्यैर्विस्तीर्णा मठिकोदिता ॥ शिवदृष्टि ७।१२१

३. शिवदृष्टि आ० ७।११४-११९

डा० भंवरलाल जोशी ने इस परम्परा का उल्लेख इस प्रकार किया है—"शिवदृष्टि में आचार्य सोमानन्द ने अपने-आपको त्र्यम्बकादित्य की बीसवीं पीढ़ी में बताया है। अतएव आचार्य सोमानन्द के काल से काश्मीर शैवागम के उद्भव का काल-निर्णय किया जा सकता है। डा० पाण्डेय जी ने सोमानन्द को त्र्यम्बकादित्य का उन्नीसवां वंशज लिखा है। किन्तु उनका यह मत ठीक नहीं है। शिवदृष्टि में सोमानन्द ने स्पष्टतः लिखा है कि वह त्र्यम्बकादित्य का बीसवां वंशज था। उसके पन्द्रहवें पूर्वज ने ब्राह्मण कन्या से विवाह किया था और उससे उत्पन्न सोलहवां पूर्व पुरुष संगमादित्य काश्मीर में आकर बसा था। संगमादित्य के बाद वर्षादित्य अरुणादित्य और आनन्द की तीन पीढ़ियां और बीतने पर बीसवीं पीढ़ी में सोमानन्द उत्पन्न हुआ था।"[१]

परन्तु बीसवीं पीढ़ी का प्रथम पुरुष कब हुआ, इस बात को सिद्ध करने के लिए कोई ठोस प्रमाण नहीं है। तथापि अनुमान के बल पर विद्वानों का मत है कि "भगवद्गीता-विवरण" के अन्त में स्पन्दकारिका के विवृत्तिकार राजानक रामकण्ठ ने अपने-आपको मुक्ताकण का अनुज बताया है।[२] मुक्ताकण काश्मीरनरेश अवन्तिवर्मा (८५५-८८३ ई०) का समकालीन था।[३] तदनुसार रामकण्ठ भी अवन्तिवर्मा के समकालीन सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त स्पन्दविवृत्ति में रामकण्ठ ने अपने-आपको आचार्य उत्पलदेव का शिष्य बतलाया है[४] और उसी ग्रन्थ के उपसंहार-वाक्य में स्पष्टतः कहा है—"**कृतिस्तत्रभगवतो महामाहेश्वराचार्यशिरोमणिराजानकश्रीमदुत्पलदेवपादपद्मानुजीविनो राजानकश्रीरामकण्ठस्य**।[५] उत्पलदेव आचार्य सोमानन्द के शिष्य थे।[६]

अब यदि हम परम्परागत रीति से प्रत्येक पीढ़ी के लिए पच्चीस वर्षों की

---

१. काश्मीर शैवदर्शन और कामायनी, पृ० ९

२. यो नारायण इत्यभूच्धुतनिधिः श्रीकान्यकुब्जे द्विजस्
तद्वंशे स्वगुणप्रकर्षखचितो मुक्ताकणाख्योऽभवत्।
तस्यैषा सदृशानुजेन रचिता रामेण विद्वज्जन-
श्लाघ्यत्वात्सफलश्रमेण भगवद्गीतापदार्थप्रथा॥ भगवद्गीताविवरण, पृ० ४०५

३. मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥ राजतरंगिणी, ४।३४

४. सद्विद्यासरसीविभूषणवरस्फारोत्पलोच्चाशय-
प्रोत्सर्पत्परिपक्वबोधमधुपेनेदं मयाऽगायि यत्।
रामेणानुपमप्रमोदधुरं बद्धावधानस्य तच्
छ्रोतुः कस्य न चेतनस्य तनुते विश्रान्तिमन्तः पराम्॥ स्पन्दविवृति, २, पृ० १६७

५. स्पन्दविवृति, पृ० १६८

६. शिवदृष्टि, पृ० २, ईश्वरप्रत्याभिज्ञा, भाग २, पृ० २७१ आचार्य उत्पलदेव

अवधि मान लें, तो इस प्रकार रामकण्ठ के प्रगुरु आचार्य सोमानन्द का आविर्भाव आठवीं शती ईस्वी की समाप्ति के आस-पास होगा और सोमानन्द का चतुर्थ पूर्वपुरुष संगमादित्य उससे सौ वर्ष पूर्व काश्मीर में बस गया होगा। संगमादित्य का सोलहवां पूर्वज त्र्यम्बकादित्य इस प्रकार उससे चार सौ वर्ष पूर्व हुआ होगा। इस तरह यह कहा जा सकता है कि त्र्यम्बकादित्य के लगभग पांच सौ वर्षों के पश्चात् सोमानन्द उत्पन्न हुआ होगा। एतदनुसार श्रीसोमानन्द के बीसवें पूर्वपुरुष त्र्यम्बकादित्य को महामुनि दुर्वासा से शैवशास्त्र की प्राप्ति लगभग तीसरी शती ईस्वी के बाद किसी समय हुई होगी। चतुर्थ शती ईस्वी के प्रारंभ से लेकर सोमानन्द के आविर्भावकाल, अर्थात् आठवीं शताब्दी की समाप्ति तक काश्मीर-शैव-सम्प्रदाय का क्या स्वरूप रहा, इस संबंध में उपयुक्त प्रमाणों के अभाव में इस समय कुछ नहीं कहा जा सकता। तंत्रालोक से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि कन्नौज नरेश यशोवर्मन् पर अपनी विजय के उपरान्त, काश्मीर-नृपति ललितादित्य (७३५-७६१ ई०) आचार्य अभिनवगुप्त के पूर्व पुरुष अत्रिगुप्त को विद्वत्ता से अत्यधिक प्रभावित होकर उसे अपने राज्य काश्मीर में ले आया था।[1] इससे यह भी संकेत मिलता है कि उस समय काश्मीर का राजपरिवार शैवधर्म का अनुयायी था अथवा उसके प्रति श्रद्धालु था और काश्मीर में तांत्रिक शैवमत के विकास के अनुकूल वातावरण भी था। श्री सोमानन्द के चतुर्थ पूर्व पुरुष संगमादित्य का घूमते हुए सातवीं ईस्वी की समाप्ति के लगभग काश्मीर में पहुंचना और वहीं बस जाना भी इसी बात का प्रमाण है कि उस समय तांत्रिक शैवधर्म को राज्य की ओर से संरक्षण प्राप्त था।

अतः यह कहा जा सकता है कि काश्मीर शैवागम के उपलब्ध मुख्य आगमों का निर्माण लगभग ७०० ई० और ८०० ई० के मध्य में हुआ होगा और तदुपरान्त इस आगम-साहित्य के सिद्धांतों के आधार पर सोमानन्द ने अपने शिवदृष्टि प्रकरण से काश्मीर शैवागम के दार्शनिक पक्ष का प्रवर्तन किया होगा। दर्शन शास्त्र की शैली में अपेक्षित परपक्ष का खण्डन और तर्कों के आधार पर स्वपक्ष का मण्डन काश्मीर शैव-साहित्य में आचार्य सोमानन्द से पहले दृष्टिगत नहीं होता।[2] इस विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि वर्तमान प्रत्यभिज्ञा दर्शन (शैव दर्शन) का आविर्भाव भले ही

---

१. कोऽप्यत्रिगुप्त इति नामनिरुक्तगोत्रः
शास्त्राब्धिचर्वणकलोद्यदगस्त्यगोत्रः।
तमथ ललितादित्यो राजा स्वकं पुरमानयत्।
प्रणयरभसात् कश्मीराख्यं हिमालयमूर्धगम्॥ तंत्रालोक, आ० ३७।३८-३९

२. तेषां (सोमपादानां) हि ईदृशी शैली।
स्वपक्षान्परपक्षांश्च निःशेषेण न वेद यः।
स्वयं स संशयाम्भोधौ निमज्जंस्तारयेत् कथम्॥ परात्रिंशिकाविवरण, पृ० ११९,

प्राचीनतर है, परन्तु लिखित रूप में ८०० ई० में ही सामने आता है। अतएव काश्मीर शैव-दर्शन का आविर्भाव-काल सोमानन्द के काल अर्थात् ८०० ईस्वी लगभग से ही मानना तर्कसम्मत है।

(ख) शैवदर्शन का विकास

इस दर्शन का आदि ग्रन्थ शिवसूत्र ही माने जाते हैं। शिव-सूत्रों के स्रष्टा स्वयं भगवान् शिव माने जाते हैं।[1] वसुगुप्त द्वारा इन शिवसूत्रों की प्राप्ति के संबंध में शैवाचार्यों में दो विचार-परम्पराएं हैं। वसुगुप्त के टीकाकार भट्ट कल्लट ने अपने स्पन्दसर्वस्व में इस बात का उल्लेख किया है कि भगवान् शिव से स्वप्न में वसुगुप्त को शिवसूत्रों का ज्ञान हुआ था।[2] परन्तु इस परम्परा में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं मिलता है कि वसुगुप्त को शिवसूत्र महादेवगिरि पर शिला पर उट्टंकित मिले थे, जैसाकि क्षेमराज की शिवसूत्र-विमर्शिनी में उल्लिखित दन्तकथा है।

राजानक रामकण्ठ (स्पन्दविवृत्तिकार), उत्पलवैष्णव (स्पन्दप्रदीपिकाकार) और भास्कर (शिवसूत्रवार्तिककार) के अनुसार शिवसूत्र स्वयं भगवान् शिवकृत अवश्य हैं, किन्तु वे यह नहीं मानते कि वसुगुप्त को उनका ज्ञान स्वप्न में भगवान् शिव से हुआ था। उनके अनुसार वसुगुप्त को शिवसूत्रों का ज्ञान एक सिद्ध से प्राप्त हुआ।[3] स्वप्न में शिवसूत्रों का ज्ञान संभव है। ऐसी अनेक कथायें उपलब्ध हैं, जिनसे यह सिद्ध किया जा सकता है कि शिव ही इस परंपरा के आदि-प्रवर्तक हैं।

इस परम्परा का प्रचार-प्रसार एवं विकास करने वालों में अनेक आचार्य एवं विद्वान् हुए जिनमें थे वसुगुप्त, वसुगुप्त के शिष्य कल्लट, शिवसूत्रव्याख्याकार संगमादित्य, भास्कराचार्य, क्षेमराज, वरदराज, उत्पल वैष्णव, सोमानन्द, उत्पलदेव, महेश्वरानन्द, सुदर्शनराजानक। इनमें से सोमानन्द, उत्पलदेव एवं अभिनवगुप्त विशेष स्थान रखते हैं। काश्मीर शैव दर्शन का प्रसार इन्हीं तीनों द्वारा विशेष हुआ है। इनमें से आचार्य सोमानन्द ने आगम-समुद्रों का खूब मन्थन किया। उनमें से दर्शन-सिद्धान्तरूपी अमृत निकाला। तदनन्तर अन्य दर्शनों के सिद्धांतों से उन सिद्धांतों की तुलना करते हुए उनको खूब परखा। फिर उन सिद्धांतों को खूब संवार कर शिवदृष्टि नामक शास्त्र में अभिव्यक्त किया। सोमानन्द के प्रधान शिष्य आचार्य उत्पलदेव ने उन्हीं सिद्धांतों को अधिक परिमार्जित और सुबोध रूप देकर ईश्वरप्रत्यभिज्ञा नामक शास्त्र का निर्माण किया। यही ग्रन्थ आगे काश्मीर शैवदर्शन का सर्वप्रमुख ग्रन्थ बना। आगे चलकर आचार्य अभिनवगुप्त ने उपर्युक्त दोनों आचार्यों के ग्रन्थों का स्पष्टतः व्याख्यान करके काश्मीर शैवदर्शन के सिद्धांतों के यथार्थ रूप को पाठकों के

---

१. शिवः सूत्रमरीरचत्। सूत्रमाह महेश्वरः। शिवसूत्र वार्तिक, भास्कराचार्य, पृ० ५
२. का० शैव० कामायनी, पृ० १७
३. शिवसूत्रविमर्शिनी, पृ० २-३, तथा स्पन्दनिर्णय, पृ० २

लिए सुलभ और सुगम बना दिया। साथ ही उन्होंने काश्मीर शैव दर्शन के त्रि-आचार की उपासनापद्धतियों का संग्रह करके और उन्हें उचित क्रम में संवार कर शैवदर्शन के प्रयोगात्मक भाग पर अतिदेदीप्यमान प्रकाश डालने वाले तन्त्रालोक नामक ग्रन्थ का निर्माण करके इस शास्त्र को सर्वांगसम्पूर्ण बना दिया।[1] "अभिनवभारती" तथा "लोचन" ने इनका नाम साहित्य-जगत् में जिस प्रकार अमर कर दिया है, उसी प्रकार ईश्वरप्रत्याभिज्ञाविमर्शिनी, तंत्रालोक, तंत्रसार, मालिनीविजयवार्तिक, परमार्थ-सार तथा परात्रिंशिकाविवृति ने त्रिक-दर्शन के इतिहास में इन्हें अमर कर दिया है।[2]

(ग) शैव-दर्शन का साहित्य

आगमशास्त्र—

आगम-शास्त्रों में से मालिनीविजयोत्तर तन्त्र, स्वच्छन्दतन्त्र, विज्ञानभैरव, नेत्रतंत्र, स्वायम्भुव तंत्र, रुद्रयामल तन्त्र, आनन्दभैरव और उच्छुष्मभैरव मुख्य माने गये हैं।[3]

मालिनीविजयोत्तर तन्त्र—इस पुस्तक का सम्पादन तथा प्रकाशन श्री मधुसूदन कौल महोदय ने किया है। इसे जम्बू-काश्मीर-राज्यस्थ अनुसन्धान विभाग ने १९७८ वि०सं० में प्रकाशित किया था। इसमें त्रिकसिद्धांत का विवरण है। यह ग्रन्थ काश्मीर त्रिक-शास्त्र का आदिस्रोत माना जाता है। यह ग्रन्थ २३ अधिकारों (अध्यायों) में विभक्त है, जिनमें आगम के महत्त्वपूर्ण अंग योग और तत्संबंधी क्रियाओं का प्रतिपादन है। वर्तमान रूप में उपलब्ध मालिनीविजयोत्तर तन्त्र सिद्धयोगीश्वरी तन्त्र का उत्तरभाग प्रतीत होता है।[4]

विज्ञानभैरव—दो भागों में विभक्त इस ग्रन्थ को देवी और भैरव का सम्वाद कहा जाता है। यह रुद्रयामलतन्त्र का सार है और सर्वशक्तिप्रभेदों का इसे हृदय कहा जा सकता है।[5] इस पर दो टीकायें हैं। प्रथम टीकाकर्ता क्षेमराज एवं द्वितीय टीकाकर्ता शिवोपाध्याय हैं। इस ग्रन्थ में योग और ध्यान का विशेष प्रतिपादन किया गया है। प्रथम भाग में १९३ श्लोक हैं एवं द्वितीय भाग में १६१ श्लोक हैं।

इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक ग्रन्थ हैं। ग्रन्थों में मुख्य निम्नलिखित हैं[6]—
१. गन्धर्वतन्त्र, २. तन्त्रवटधानिका, ३. तन्त्रापाट, ४. तन्त्रालोक, ५. निरुत्तरतन्त्र,

---

१. काश्मीर शैव दर्शन, पृ० २३, डा० बलजिन्नाथ।

२. वही, पृ० ५२

३. काश्मीर शैव दर्शन और कामायनी, पृ० १३

४. काश्मीर शैव दर्शन और कामायनी, पृ० १४

५. रुद्रयामलतन्त्रस्य सारमद्यावधारितम्।
सर्वशक्तिप्रभेदानां हृदयं ज्ञातमद्य च॥ विज्ञानभैरव, श्लो० १६२

६. ये आजकल काश्मीरराज्यानुसंधानविभागीय पुस्तकालय में रखे हैं।

६. नेत्रतन्त्र, ७. बृहन्नीलतन्त्र, ८. मृगेन्द्रतन्त्र, ९. विद्यार्णवतन्त्र, १०. रुद्रयामलतन्त्र, ११. स्वच्छन्दतन्त्र।

स्पन्दशास्त्र—यह शास्त्र काश्मीर शैवदर्शन के साधना पक्ष से संबंधित है। इस शास्त्र का प्रमुख ग्रन्थ स्पन्दकारिका है, जिसकी रचना ख्रिस्ट की आठवीं शताब्दी में वसुगुप्त ने की थी। इस पुस्तक में चार स्पन्द हैं। इसके प्रतिपाद्य विषय का संकेत ग्रन्थ के आदिपद्य में ही मिल जाता है।[1] इसके अतिरिक्त स्पन्दशास्त्र से संबंधित अन्य प्रमुख ग्रन्थ हैं—१. स्पन्दनिर्णय, २. स्पन्दसन्देह, आदि जो इसी स्पन्दकारिका का विस्तार हैं।

प्रत्यभिज्ञाशास्त्र—यह ग्रन्थ शैवदर्शन का पर्यायवाची है। इसी शास्त्र के बल पर काश्मीर में अद्वैत शैव मत की दृढ स्थापना हुई थी। आचार्य सोमानन्द ने अपने शिवदृष्टि ग्रन्थ में जिन दार्शनिक सिद्धांतों की स्थापना की थी, उन्हीं की विस्तृत व्याख्या "प्रत्यभिज्ञाशास्त्र" का मुख्य विषय है। इस बात का उल्लेख माधवाचार्य ने अपने "सर्वदर्शनसंग्रह" नामक ग्रन्थ में किया है।[2] इस धारा के प्र.ख ग्रन्थों में १. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, २. प्रत्यभिज्ञाकौमुदी, ३. प्रत्यभिज्ञावृत्ति, ४. प्रत्यभिज्ञाहृदयतन्त्रम् आदि हैं।

शिवदृष्टि—इस पुस्तक का प्रकाशन काश्मीर राज्यस्थ अनुसन्धान विभाग के द्वारा १९३८ ख्रिष्टाब्द में हुआ था। इसके लेखक आचार्य सोमानन्द हैं, जो नवीं शताब्दी में थे। इस ग्रन्थ में सोमानन्द ने अपने मतों को तथा दूसरे आचार्यों के मतों को दिखलाकर प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के सिद्धांतों का बड़े विस्तार से निरूपण किया है। कुछ आचार्यों के मतों का खण्डन भी किया है।[3] इस ग्रन्थ में सात आह्निकों में आचार्य ने शैव अद्वैतवाद का बड़ी दृढता से प्रतिपादन किया है।

(घ) परम तत्त्व

अद्वैतवादी होने के नाते काश्मीर शैवदर्शन परमशिव को एकमात्र तत्त्व के रूप में स्वीकार करता है। परमशिव संविद्रूप है जो स्वात्माभिन्न स्वातन्त्र्यशक्ति से युक्त होने के कारण परमेश्वर कहलाता है। संसार में जो कुछ भी भासता है, वह उसकी स्वातंत्र्य-शक्ति का विलास है, उसके विश्वात्मक पारमेश्वर्य का ही एक अभिव्यक्त रूप है। सदाशिव से लेकर धरणी-पर्यन्त सभी तत्त्वों की अवस्थिति इसी चैतन्यात्मा परमेश्वर में है, यही परमतत्त्व है, जिसमें षट्त्रिंशदात्मक जगत् विकसित

---

१. यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ।
तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शंकरं नुमः॥ स्पन्दकारिका १.१

२. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ३५१

३. विश्वसंस्कृतशताब्दी ग्रन्थ, पृ० १५१

है ।[१] उसकी विश्वमयता उसका एक स्वरूप है । अनन्तवैचित्र्यात्मक उसके पारमेश्वर्य का बहिःप्रकाशन है । लेकिन साथ ही परमेश्वर सृष्टि-व्यापार से ऊर्ध्व एक तत्त्वातीत स्वरूप में भी रहता है, ऐसी अवस्था में उसे तत्त्वातीत, परम तत्त्व, अनुत्तर, परा संविद् तथा परा चिति आदि नामों से पुकारा जाता है । उसका यह स्वरूप विश्वोत्तीर्ण है । जब उसको स्वात्माभिन्ना स्वातन्त्र्यशक्ति उसके ऐश्वर्य को पूर्णहन्ता के रूप में प्रकाशित करती है, उस अवस्था में जगत् अन्तर्लीन रहता है, उसका बहिःप्रकाशन नहीं होता । शैवदर्शन के अनुसार परमशिव प्रकाश-विमर्श रूप है । प्रकाश और विमर्श का अविनाभाव संबंध है ।[२] प्रकाश शिवरूप है और विमर्श शक्तिरूप, शिवशक्ति का नित्य संबंध ही परमशिव है । शिव के बिना शक्ति की सत्ता नहीं है और शक्ति के बिना शिव भी जड ही होगा । शिव-शक्ति के इसी अभेद भाव को लक्ष्य कर शिवदृष्टि में कहा गया है—

न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी ।
शिवशक्तस्तथा भावानिच्छया कर्तुमीहते ।।
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते ।। ३।२-३

शक्ति-समन्वित होने पर ही शिव कर्ता होता है । शक्ति आत्मरूपी परमशिव का विमर्श है और इस विमर्श से ही वह सर्वं कर्तुं समर्थ है ।[३] शिव अपने विमर्श के कारण सब कुछ करने में स्वतंत्र है । स्वतंत्र शिव की इच्छाशक्ति ही शिव का स्वातन्त्र्य है ।[४] जिसमें ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति सदैव अविनाभाव से प्रतीत होती है ।[५] अतएव आत्मा ज्ञातृ-कर्तृ रूप है । प्रत्येक क्रिया का कोई कर्ता होता है । ज्ञान एक क्रिया है । इसलिए उसका भी कोई कर्ता होता है और प्रत्येक क्रिया कर्ता में होती है । वह कर्ता उस क्रिया का आश्रय होता है । इस प्रकार ज्ञान और क्रिया अभिन्न और एक ही हैं । इसीलिए काश्मीर शैवदर्शन में कहा गया है कि जो ज्ञान है वह क्रियाशून्य नहीं और जो क्रिया है वह ज्ञानरहित नहीं : **न क्रियारहितं ज्ञानं न ज्ञानरहिता क्रिया ।**[६] ज्ञान और क्रिया वस्तुतः एक ऐश्वरी इच्छा का ही उत्तरोत्तर विकास है ।

---

१. यत् परतत्त्वं तस्मिन् विभाति षट्त्रिंशदात्मकं जगत् । परमार्थसार कारिका १

२. प्रकाशमानं न पृथक् प्रकाशात् । स च प्रकाशो न पृथग् विमर्शात् ।
विज्ञान-भैरव-विवृति, पृ० १२२

३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृ० २०५

४. स्वतंत्र इति तस्येच्छाशक्तिः स्वातंत्र्यसंज्ञिता । मालिनीविजयवार्तिक, १।८७

५. विमर्श एव देवस्य शुद्धे ज्ञानक्रिये यतः । ई० प्र० वि०, भाग १-१, ८।११

६. नेत्रतंत्र, उद्योतटीका, भाग २, पृष्ठ १८१

परमेश्वर स्वातन्त्र्यशक्ति से युक्त होने के कारण स्वतन्त्र कर्ता है। स्वातन्त्र्यशक्ति सतत क्रियाशील होने के कारण उसके पारमेश्वर्य को अभिव्यक्त करती हुई रहती है। उसकी सहायता से स्वेच्छापूर्वक स्वचित्ति में परमेश्वर षट्त्रिंशात्मक जगत् को अभिव्यक्त करता है। ३६ तत्त्व उसकी जगत्रूप से अभिव्यक्ति में विभिन्न स्तरों को द्योतित करते हैं। ये छत्तीस तत्त्व हैं—

१. शिव, २. शक्ति, ३. सदाशिव, ४. ईश्वर, ५. शुद्धविद्या, ६. माया, ७. कला, ८. विद्या, ९. राग, १०. काल, ११. नियति, १२. पुरुष, १३. प्रकृति, १४. बुद्धि, १५. अहंकार, १६. मन, १७. श्रोत्र, १८. त्वक्, १९. चक्षुः, २०. जिह्वा, २१. घ्राण, २२. वाक्, २३. पाणि, २४. पाद, २५. पायु, २६. उपस्थ, २७. शब्द, २८. स्पर्श, २९. रूप, ३०. रस, ३१. गन्ध, ३२. आकाश, ३३. वायु, ३४. अग्नि, ३५. जल, ३६. पृथ्वी।[१]

शिव—षट्त्रिंशत् तत्त्वसन्दोह में कहा गया है कि स्वतन्त्र चिद्घन संवित्स्वभाव परमेश्वर अपनी स्वातंत्र्य शक्ति से जब अक्रम में ही आभास-रूप से अर्थात् पारमार्थिक कारणकार्यभाव से अपने स्वरूप को ही अपने अन्तर्गत अखिल विश्वरूप में अवभासित करने की इच्छा करता है, तब उसकी विश्वोन्मीलन की उस आद्या इच्छा अवस्था को ही शिवतत्व कहते हैं।[२] तंत्रसार के अनुसार पंचशक्तिस्वभाव परमशिव में चित् शक्ति का प्राधान्य होने पर वह शिवतत्त्व कहलाता है।[३] इस तत्त्व के अतिरिक्त वस्तुतः और कुछ भी ग्राह्य या ग्राहक रूप में नहीं है। यही परमशिव नाना वैचित्र्यों के रूप में स्वयं स्फुरित होता है।[४] शिव से लेकर पृथ्वीपर्यन्त छत्तीस तत्त्वों में अभेदरूप से विद्यमान आत्मा की इच्छा का विकास ही उसका विश्वात्मक रूप है।[५] यह नानारूपात्मक जगत् उस शिव की शक्ति का ही विस्तार है।[६]

शक्ति—यह परमेश्वर की आभासरूपता में दूसरा तत्त्व है, जो शिव का अभिन्न-स्वरूप है।[७] उन्मेष की ओर उन्मुख परमेश्वर की स्वतंत्र इच्छा ही उद्भूत होने वाले समस्त जगत् को अपने अंदर ऐक्य भाव से विलीन किये रहने के कारण

---

१. षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह, पृ० १
२. यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छयाऽखिलमिदं जगत्स्रष्टुम्।
पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः॥ षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह का० १
३. चित्प्राधान्ये शिवतत्त्वम्। तंत्रसार, पृ० ७४
४. प्रत्याभिज्ञाहृदय, पृ० ३, ८; शिवदृष्टि १-२
५. स्वयंप्रकाशरूपः परमेश्वरः पारमेश्वर्या शक्त्या शिवादिधरण्यन्तजगदात्मा स्फुरति प्रकाशते हि। का० शै० का०, पृ० ४३
६. क्रियाशक्तेरेवायं सर्वो विस्फारः। ई० प्र० वि०, भाग २, पृ० ४२
७. शिवदृष्टि ३।२

शक्तितत्त्व कहलाती है।[1] तंत्रालोक के टीकाकार जयरथ का कथन है कि बहीरूपता (बाह्यरूपत्व) के प्रति परमेश्वर की उन्मुखतारूप क्रिया ही शक्तितत्त्व है।[2] आचार्य क्षेमराज ने विश्व-सिसृक्षा को प्राप्त परमेश्वर के प्रथम स्पन्द को शक्तितत्त्व कहा है।[3] वस्तुतः उक्त दोनों तत्त्व एक ही हैं, न शिव शक्तिरहित है और न शक्ति शिवरहित है।[4] केवल व्यवहार के लिए ही यह कहा जाता है कि यह शक्तिमान् है तथा यह शक्ति है।

अन्य तत्त्व—शेष ३४ तत्त्वों का उल्लेख यहां अप्राकरणिक होने से अविचारणीय है क्योंकि जगद्धर ने मुख्यरूप से शिव एवं शक्ति का ही उल्लेख किया है।

पंचविध कृत्य—अपने अप्रतिहत स्वातन्त्र्य के ही कारण परमशिव अपने स्वरूप को प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय आदि नाना रूपों में कल्पित कर अनतिरिक्त को भी स्वात्मभित्ति पर अतिरिक्तवत् आभासित करता है।[5] जगत् का अपने अन्दर यह आभासन और उस आभासित जगत् का अपने अन्दर विलापन ही उसका स्वातंत्र्यरूप कर्तृत्व है।[6] इसी कर्तृत्व-स्वभाव से वह सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रहरूपात्मक पंचविध कृत्यों में निरन्तर संलग्न रहता है।[7] सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह उसका पंचरूपात्मक स्वातंत्र्य है और यही उसका ऐश्वर्य है।

सृष्टिहेतु—इस चराचरात्मक जगत् का एकमात्र हेतु परमशिव ही है। समस्त विश्व उसी की प्रकाशरूपता का उन्मेष है, जो उसकी अपनी इच्छा पर निर्भर हैं। उसकी इच्छा के अतिरिक्त इसका कोई दूसरा कारण नहीं है। इसीलिए प्रत्यभिज्ञाहृदय में आचार्य क्षेमराज ने चिदात्मा को ही विश्व के उल्लास का हेतु कहा है—

'चित्तिः स्वतंत्रा विश्वसिद्धिहेतुः।'

चित्रकार जब कोई चित्र बनाता है, तब उसे दो वस्तुओं की अपेक्षा होती है, एक आधार की, जिसके ऊपर उसने चित्र बनाना है, और दूसरी रंग, तूलिका आदि

---

१. तस्य स्वाभिन्ना स्वतन्त्रेच्छा शक्तिरेव उद्भविष्यतो विश्वस्य स्वान्तर्निलीनत्वाद् बीजभूता शक्तितत्त्वतां याति। षट्त्रिंशतत्त्वसंदोह, टीका, पृ० ३

२. तस्य (परमशिवस्य) बहिरौन्मुख्येन व्यापारः शक्तितत्त्वम्।
तन्त्रालोक, ६, पृ० ५०

३. अस्य जगत् स्रष्टुमिच्छां परिगृहीतवतः परमेश्वरस्य प्रथमस्पन्द एवेच्छा शक्तितत्त्वम्। पराप्रावेशिका, पृ० ६-७

४. तंत्रालोक टीका, भाग ७, आ० ११, पृ० ४३

५. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग १, १।५।१६

६. कर्तृत्वं चैतदेतस्य तथामात्रावभासनम्। तंत्रालोक, भाग ६, आ० ६।२२

७. स्वच्छन्दतंत्र टीका, भाग ३, पृ० ६६

साधनों की, जिनसे चित्र बनाना है। परन्तु संसार रूपी सुन्दर चित्र के निर्माण के लिए परमशिव को न आधार की आवश्यकता है, न रंग आदि साधनों की, वह बिना अन्य कारणों के ही जगत् रूपी कार्य का निर्माता है। वह अपनी इच्छा-मात्र से ही अपनी लीला करने के लिए अपने स्वरूप (सामग्री) से अपनी ही प्रकाशभित्ति पर नानारूपात्मक विश्व को प्रकाशित करता है। इसी तथ्य का स्पष्टीकरण देते हुए प्रत्यभिज्ञाहृदय में कहा है कि चित्ति अपनी स्वतंत्र इच्छा से आत्म-भित्ति पर ही अभेदरूप से विश्व को उन्मीलित करती है।[1] आचार्य वसुगुप्त का यह कथन नितान्त यथार्थ है—

निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलानाथाय शूलिने ॥[2]

एक ही साथ विश्व का उन्मेष तथा निमेष करने वाली इच्छाशक्ति को ही स्पन्द भी कहा है।[3] वस्तुतः यह शक्ति एक ही है, परन्तु समझाने के लिए शिव की उस शक्ति को पांच नामों से कहा गया है। विश्व के उन्मेष की दृष्टि से सदाशिव की वे पांचों शक्तियां क्रमशः चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया नाम वाली हैं। जैसा कि महामहोपाध्याय उमेश मिश्र ने भी कहा है, "इस शक्ति के अनन्तरूप हैं, किन्तु इनमें पांच स्वरूप बहुत ही महत्व के हैं।"[4]

१. चित्-शक्ति, यह प्रकाशरूप है। इसी के द्वारा शिव अपने को "स्वप्रकाश" समझते हैं।
२. आनन्द-शक्ति, जिसके द्वारा शिव आनन्दमय हैं और अपने में आनन्द का साक्षात्कार करते हैं।
३. इच्छा-शक्ति—जिसके द्वारा जगत् की सृष्टि, संहार और अन्य सभी कार्य शिव करते हैं।
४. ज्ञान-शक्ति—जिसके कारण शिव स्वयं ज्ञानस्वरूप हैं।
५. क्रिया-शक्ति—जिसके बल से शिव सभी स्वरूपों को धारण करते हैं।

इस प्रकार पांच शक्तियों से शक्तिमान् होने पर भी विश्व-आभास में उसकी तीन शक्तियां ही प्रमुख हैं, जो इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया के नाम से प्रसिद्ध हैं।[5] क्योंकि चित् शक्ति तथा आनन्द शक्ति तो उसके पूर्णस्वरूप के ही दो नाम हैं। परम शिव

---

१. स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति। प्रत्यभिज्ञाहृदय, सूत्र-२
२. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ३६८
३. सा चैषा स्पन्दशक्तिः, युगपदेवोन्मेषनिमेषमयी। स्पन्दनिर्णय, पृ० ३
४. भारतीय दर्शन, पृ० ३८३
५. एवं मुख्याभिः शक्तिभियुंतोऽपि, वस्तुत इच्छा-ज्ञान-क्रिया-शक्तियुक्तोऽनवछिन्नः प्रकाशो निजानन्दविश्रान्तः शिवरूपः। तंत्रसार, पृ० ६

का प्रकाश ही उसकी इच्छा है और यह शक्ति ही विश्व आभास में उत्तरोत्तर उच्छून-स्वभावता से ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति बनती है।[१] इस संबंध में आचार्य क्षेमेन्द्र ने कहा है—परमेश की एक स्वातंत्र्यरूपा इच्छाशक्ति ही जगदाभासक्रम में तरतम भाव से ज्ञान और क्रियारूपता से अभिहित होती है : **एकस्या अपि इच्छाया: सूक्ष्मरूपज्ञान-क्रियाशक्ति-संभेदेन त्रित्वात्**।[२] यह इच्छारूपा स्वातंत्र्य शक्ति ही शिव की शिवता है और जो शिवता (शक्ति) है वही शिव है। इस प्रकार परम शिव ही परमार्थ सत्ता है। क्योंकि जो जगत् है वह तो उसकी शक्ति ही है। जैसे कि तंत्रालोकमें कहा है—**शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वर:**।[३] और शक्ति तथा शक्तिमान् में भेदकल्पना अग्नि-उष्णतावत् असंभव है।[४] अतएव परमशिव ही अपनी अद्वय-रूपता में सर्वत्र विलसित है।

शैव शास्त्रों में लिखा है कि जिस प्रकार प्रशान्त, तरंगरहित समुद्र अपने स्वरूपभूत जल को अपने में ही अनेक तरंगमालाओं के रूप में आभासित करता है, उसी प्रकार परमशिव अपनी अखण्ड प्रकाशरूपता के अन्तर्गत अपनी स्पन्दरूपा इच्छा-शक्ति को प्रकट करके अपने रूप को ही विश्वभाव से आभासित करता है।[५] लहरों के रूप में उल्लसित जल अपने आधाररूप जलनिधि से भिन्न न होते हुए भी तरंग रूपों में भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। उसी प्रकार जगत् में दृश्यमान् प्रकाश अपने आधारभूत महाप्रकाश से पूर्णत: अभिन्न होते हुए भी प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय रूपों में परस्पर भिन्नवत् आभासित होता है। तरंगित जल तथा निस्तरंग जल में व्याव-हारिक भेद मानने पर भी वस्तुत: जलत्व की दृष्टि से कोई भेद नहीं है, उसी प्रकार विश्वमय चैतन्य तथा विश्वोत्तीर्ण चैतन्य में भी भेद नहीं है।[६] इस सम्बन्ध में आचार्य अभिनवगुप्त का कथन है कि जिस प्रकार दर्पण में परस्पर भिन्न-भिन्न रूप में प्रति-बिम्बित ग्राम, नर, नारी आदि दर्पण से अभिन्न होते हुए भी भिन्नवत् भासित होते हैं,

---

१. इच्छाशक्तिश्च उत्तरोत्तरमुच्छूनस्वभावतया क्रियाशक्तिपर्यन्ती भवति।
—ईश्वरप्र०वि०, भाग-१, पृ० १७

२. का०शी०का०, पृ० ५१

३. तन्त्रालोक, भाग-३, आ० ५।४०

४. का०शी०का०, पृ० ५१

५. तेन बोधमहासिन्धोरुल्लासिन्य: स्वशक्तय:।
आश्रयन्त्यूर्मय इव स्वात्मसंघट्टचित्रताम्॥
तन्त्रालोक, भाग २, आ० ३।१०२-३

६. अथवाऽम्बुधिवीचिवत्।
तत्र वीचित्वमापन्नं न जलं जलमुच्यते।
न च तत्राम्बुरूपस्य वीचिकाले विनाशिता॥ शिवदृष्टि, आ० ३।३७-३८

उसी प्रकार परमशिव अपनी स्वातन्त्र्य महिमा से अपने अन्तर्गत अभिन्न भाव से स्थित विश्ववैचित्र्य को भिन्नवत् आभासित करता है ।[1] यहां इतना अवश्य विचारणीय है कि दर्पण को स्वयं प्रकाशित होने के लिए प्रकाशान्तर की अपेक्षा है, जबकि परमशिव में प्रकाशरूपता के साथ विमर्शरूपता भी है । अतः वह सर्वथा स्वतन्त्र है तथा जगत् का हेतु है ।

५. स्तुतिकुसुमांजलि का दार्शनिक पक्ष : शैव-दर्शन

स्तुतिकुसुमांजलि विशुद्ध भक्तिभावपूरित स्तोत्र काव्य है, जिसमें सदाशिव का सांगोपांग वर्णन किया है । पुनरपि दर्शन भारतीय जनमानस का स्वाभाविक विवेच्य रहा है । कवि जिस वातावरण में रहता है, उससे अप्रभावित कैसे रह सकता है । अतएव जगद्धर भट्ट के कवित्व में भी ऐसे तत्त्व विद्यमान हैं, जिनमें प्रत्यक्षरूप से दार्शनिक भाव झलकते हैं । कवि की स्तुतियों में काश्मीरीय शैव-दर्शन, शांकरवेदान्त तथा योगदर्शन के विविध सिद्धान्त दृष्टिगोचर होते हैं ।

यहां यह भी ध्यातव्य है कि कवि यहां पर किसी भी दर्शन पर विशेष विचार नहीं करता है । यहां दार्शनिक विषय एवं मान्यताओं अथवा तत्त्वों का प्रतिपादन इसे अभीष्ट नहीं है । वह तो अपने आराध्य की गरिमा गा रहा है । प्रसंगवश अथवा संस्कारवश जो दार्शनिक मान्यतायें उसके सम्मुख आई हैं, उन पर उसी रूप में विचार कर अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हो जाता है । एक प्रकार से वह उन दार्शनिक मान्यताओं का सूत्ररूपेण उल्लेख करता हैं । प्रसंगवश या संस्कारवश जब वह परमशिव का चित्रण करता है, तब स्वाभाविक है, उसकी इच्छा-शक्ति, ज्ञान-शक्ति तथा क्रिया-शक्ति का भी उल्लेख करता है । जब वह अपने आराध्य की गरिमा का स्मरण करता है, तब स्वतः ही इस जगत् को उसकी लीलामात्र कह देता है, तथा कह देता है कि मेरे आराध्य को जगन्निर्माणहेतु किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं है । वह बिना सामग्री के ही जगत् चित्र बनाने वाला चित्रकार है ।[2] अन्य दर्शनों की भांति शैव-दर्शन का भी अपना चिन्तनपक्ष है । इसकी दृष्टि से एकमात्र तत्त्व "शिव" है । अन्य तत्त्वों की अभिव्यक्ति एक-मात्र इसी तत्त्व से होती है ।[3] जगद्धर भट्ट ने शिव से सम्बन्धित इच्छा-शक्ति, ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति का उल्लेख किया है ।[4] उन्होंने शिवतत्त्व पर भी प्रकाश डाला है ।

(क) शिवतत्त्व—काश्मीरीय शैवदर्शन के अनुसार प्रत्येक जीव में इसका

---

१. निर्मले मुकुरे यद्वद् भान्ति भूमिजलादयः ।
अमिश्रास्तद्वदेकस्मिश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः ॥ तन्त्रालोक, भाग २, आ० ३।४

२. स्तु० १।१५

३. षट्त्रिंशत्तत्व-सन्दोहः, १

४. स्तु० ३।५

निवास है। यह चैतन्यरूप है।[1] यह परम संवित्, परमेश्वर, शिव आदि नामों से अभिहित है। यह तत्त्व चराचरात्मक जगत् में व्याप्त होने पर भी एक ही है। यह सनातन और अनन्त है। शिव स्वयं छत्तीस तत्त्वों के रूप में जगत् में भासित होता है। विश्वोत्तीर्ण, विश्वात्मक, परमानन्दमय इस तत्त्व का ही अपने से लेकर पृथ्वीतत्त्व-पर्यन्त प्रत्येक तत्त्व, अभिन्न रूप में स्फुरण है।[2] इसके अतिरिक्त और कुछ भी ग्राह्य-ग्राहक रूप में नहीं है। यही नानावैचित्र्यों के रूप में स्फुरित होता है।[3] यह इच्छा, ज्ञान तथा क्रियात्मक है।

एक स्थल[4] पर जगद्धर ने स्पष्टरूप से शैव-दर्शन की मान्यता का उल्लेख किया है। कवि कहता है कि शिव को किसी भी अन्य साधन की आवश्यकता ही नहीं है। यह सम्पूर्ण विश्व ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति से सम्पन्न शिव की इच्छामात्र से ही उत्पन्न होता है। शिव में आकाश में मेघमण्डल के समान, तालाब में जल की तरंग के समान तथा सूर्य-चन्द्रमा में इनके प्रकाश के समान, यह निखिल ब्रह्माण्ड शिव में उत्पन्न होता है तथा विलीन होता है।[5] वह शिव नित्य है, माया के आवरण से रहित है, केवल मात्र अपना अनुभव ही जिसमें प्रमाण है, वह जो परमानन्द की निधि है, वह जो समस्त जगत् रूप अंकुरों का एक ही मूल कारण है तथा देश-दिशा एवं कालादि के माप से परे है।[6] वह जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश का एकमात्र कारण है।[7]

वह जो परम मोक्षस्वरूप है, स्वेच्छा से प्रकट किये हुए द्वैत-प्रपंच से भिन्न है।[8] पांच प्रकार के स्थूल और सूक्ष्म क्लेशों के त्रैकालिक सम्बन्ध से रहित एवं प्रीति, अप्रीति और विषाद स्वरूप-सत्त्व, रज और तमोगुण की ग्रन्थि से अति दुर्भेद्य—अर्थात्

---

१. चैतन्यात्मा। शिवसूत्र १।१

२. अखिलम् अभेदेनैव स्फुरति। प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० ७८

३. तन्नाना अनुरूपग्राह्यग्राहकभेदात्। प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० ७८

४. एकस्य यस्य सकलः करुणानपेक्षज्ञानक्रियस्य पुरतः स्फुरति प्रपंचः। स्तु० ३।५

५. व्योम्नीव नीरदभरः सरसीव वीचि-व्यूहः सहस्रमहसीव सुधांशुधाम।
यस्मिन्निदं जगदुदेति च लीयते च तच्छाम्भवं भवतु वैभवमृद्धये नः॥ स्तु० ३।२

६. नित्यं निरावृति निजानुभवैकमान-
मानन्दधाम जगदंकुरबीजमेकम्।
दिग्देशकालकलनादि-समस्त-हस्त-
मर्दासहं दिशतु शर्म महन्महो नः॥ स्तु० ३।१

७. जगत् सर्ग-स्थिति-ह्रासहेतवे वृषकेतवे॥ स्तु० २।२३

८. ओं नमः परमार्थैकरूपाय परमात्मने।
स्वेच्छावभासितासत्यभेदभिन्नाय शम्भवे॥ वही, २।१

अत्यन्त दृढ बने हुए भव-बन्धन यानी देह, इंद्रिय और विषयों के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए संसार-चक्र के भेदन करने में समर्थ हैं[1], जिसकी महिमा मन और वाणी से परे है[2], जो वेदों का आदि वक्ता है[3], यह सम्पूर्ण विश्व उस महनीय की लीलामात्र है; जिसने एकमात्र अपने संकल्प से ही इसे प्रकट किया है क्योंकि उस जगदीश की सचराचर भुवनों की आधारभूता "क्रियाशक्ति" और "ज्ञान शक्ति" ये दोनों ही कार्यारम्भ में इन्द्रियों (कारणों) की अपेक्षा नहीं रखतीं।[4]

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि जगद्धर ने अपने परमाराध्य शिव का जो स्वरूप वर्णित किया है, वह शैव दर्शन की शिवतत्त्व-विषयक मान्यता पर पूरी तरह आधारित है।

(ख) **जगन्निर्माणकर्ता**—सांसारिक पदार्थों के निर्माण हेतु अन्य साधनों की आवश्यकता अनिवार्य है। बिना उपादानादि कारणों के किसी भी पदार्थ का निर्माण संभव नहीं है। परन्तु शिव को जगन्निर्माण के लिए किसी भी अन्य उपकरण की आवश्यकता नहीं होती। यह केवल मात्र अपनी इच्छा-शक्ति से ही सम्पूर्ण विश्व का निर्माण करता है।[5] यह जगत् इसकी लीलामात्र है।[6] जब सृष्टि से पहले सूर्य आदि नक्षत्रों का प्रकाश नहीं होता था, सम्पूर्ण विश्व अन्धकारमय था, उस समय शिव ने ही अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा अष्टविध रूप धारण कर के त्रिभुवन का निर्माण किया।[7] यह सब उसका खेल है।[8]

---

१. नमः शिवाय निःशेष-क्लेश-प्रशमशालिने।
त्रिगुणग्रन्थिदुर्भेद-भवभेदविभेदिने ॥ स्तु० २।२

२. नमो वाङ्मनसातीत-महिम्ने परमेष्ठिने। वही २।१२

३. वक्ता च यः सुखयिता च विभुः श्रुतीनाम् ॥ वही ३।१६

४. तदेतत्संकल्पप्रकटितसमस्तत्रिजगतः
प्रभोर्लीलामात्रं भुवन-महनीयस्य भवतः।
तवैकस्य स्वामिन् यदिह सहजे सर्व-विषये
क्रियाज्ञाने नित्ये करण-निरपेक्षे प्रभवतः ॥ वही ३५।११

५. इच्छयैव भुवनानि भावयन्, यः प्रियोपकरणग्रहोऽपि सन्।
अप्रियोपकरणग्रहोऽपि भवत् तं स्वशक्तिसचिवं शिवं स्तुमः ॥ स्तु० १।१

६. प्रभोर्लीलामात्रं ... । वही ३५।११

७. चकाशे नाकाशे रविरविरलैरंशुपटलै-
रमन्दामैरिन्दुस्तिमिरमहरन्नापि किरणैः।
न चान्यन्नक्षत्रग्रहदहनरत्नौषधितडित्-
प्रदीपादिज्योतिः क्वचिदपि पुरा नाथ ददृशे ॥ वही ३५।८

८. तमोभूतं विश्वं किमपि गहनं धाम तदभूद्
अथ स्वेच्छाशक्तिप्रकटितमहावैभवभरम्।

(ग) शिव एवं शक्ति—काश्मीर शैव-दर्शन की मान्यता है कि शिव और शक्ति में अभेद है। शिव परमेश्वर रूप है और पार्वती उसकी परमेश्वरी शक्ति-रूप है। शिव शक्त और शिवा शक्ति हैं। शिव से शक्ति, या शक्ति से शिव, यह प्रश्न विचारणीय होने पर भी, शिव-शक्ति में अभेद संबंध होने के कारण अनुचित हीं है, क्योंकि शिव शक्ति एक अद्वैत के दो अभिन्न फल होने के कारण तत्त्व से सदा अभिन्न ही हैं। शक्तिमान् के बिना शक्ति नहीं रह सकती और शक्ति से वियुक्त शक्तिमान् नहीं ठहर सकता। वह शक्ति अपने ही स्वरूपभूत शिव के अनन्त, शांत एवं गम्भीर वक्षःस्थल पर अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों का रूप धारण कर तथा उनके अन्दर सर्ग, स्थिति एवं संहार, तथा दिव्या और अनुदान की पंचविध लीला करती हुई मानों नृत्य करती रहती है।[1]

स्तुतिकुसुमांजलिकार ने इस शिव शक्ति के अभेदवाद को अपने ग्रन्थ में स्थान दिया है। कवि कहता है कि शिव को भुवननिर्माण के लिए किसी भी अन्य सहायक (साधन) की आवश्यकता नहीं है। इसके लिए शक्ति ही एकमात्र पर्याप्त है। वह शक्ति सचिव की तरह सभी कार्यों में शिव की सहायता करती है।[2] शक्ति शिव का अर्धाङ्ग है।[3] इस बात का उल्लेख दूसरी जगह भी किया है।[4] एक अन्य प्रसंग में कहा गया है कि शिव के शरीर के वामभाग में श्री गिरिजा का अर्धभाग रहता है।[5] जिसे भगवान् शिव ने स्वयं अर्धांग में धारण किया है।[6] इतना ही नहीं, बल्कि एक शरीर को देखकर यह शिव है अथवा शिवा है, इसका सहसा निर्णय कर लेना बहुत कठिन है। कवि ने एक पूरा स्तोत्र ही "अर्धनारीश्वर" नाम से रचा है, जिसमें चौबीस पद्यों में शिवशक्ति के अभेदस्वरूप का सुन्दर चित्रण हुआ है। उदाहरण के लिए एक स्थल[7] पर कवि

विभज्यात्मानं क्ष्मावनपवनवह्नीन्दुतपनैः-
सर्वस्वैरं शैरीश त्रिजगदसृजत्कस्त्वदपरः ॥ वही ३५।६
समस्तभुवनोदयप्रलयकेलिकारो हरः। वही ६।८
क्रीडामात्रकमेव यस्य तदसौ देवः कथं वर्ण्यते ॥ वही ८।५०

१. न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी ॥
शिवः शक्तस्तथा भावानिच्छया कर्तुमीहते।
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते ॥ शिवदृष्टि ३।२-३
२. तं स्वशक्तिसचिवं शिवं स्तुमः। स्तुः १।१
३. नमः सोमार्धदेहाय। वही २।२१
४. उमया हृतमर्धमेव यत्। स्तु० १५।६
५. वपुःखण्डे खण्डः प्रतिवसति शैलेन्द्रदुहितुः ॥ वही १५।३७
६. रामाभिरामाभिमता धृतार्धे। वही २६।६०
७. किमयं शिवः किमु शिवाऽथ शिवाविति यत्र वन्दनविधा भवति।
अविभाव्यमेव वचनं विदुषामविभाव्यमेव वचनं विदुषाम् ॥ वही २१।१८

कहता है कि यह शरीर नर का है या नारी का, इसे विष्णु भी नहीं जान सकते। इस प्रकार जगद्धर ने शिव और शक्ति में अभेद का प्रतिपादन किया है।

(घ) **विमर्शशक्ति तत्त्व**—शिव को ही विमर्श से युक्त कहा है। शिव में पूर्ण जो अहंभाव है उसी को विमर्श शक्ति कहते हैं। यदि शिव में इस शक्ति का अभाव है, तो वह जड हो जायेगा। अनन्तरूपा यह शक्ति मुख्यतः पांच प्रकार की है।[१] जगद्धर-भट्ट ने इन पांचों में से तीन (ज्ञान, इच्छा, क्रिया) का उल्लेख अनेक बार किया है।[२] इससे यह स्पष्ट है कि कवि को शैवदर्शन में प्रतिपादित इन तत्त्वों से पूर्ण परिचय था। अतएव स्तुति के माध्यम से उसने इस दर्शन के गूढ रहस्यों का भी यथास्थान सुस्पष्ट निर्देशन किया है।

इस विवरण से यह स्पष्ट होता है कि जगद्धरभट्ट ने अपने ग्रन्थ में शक्ति के प्रत्यभिज्ञासम्प्रदाय में प्रमुख रूप से अभिप्रेत तीन स्वरूपों का ही विवरण विशेष-रूप से किया है। यह स्थिति प्रत्यभिज्ञा दर्शन की मान्यताओं के पूर्णतया अनुकूल है।[३]

अनुग्रह—

शैव दर्शन की मान्यता है कि मानव के लिए दुःख से निवृत्ति एवं आनन्दप्राप्ति का प्रमुख साधन शिव का अनुग्रह ही है। अनुग्रह के अतिरिक्त उपासना आदि किसी भी अन्य उपाय से आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। इसका कारण बतलाते हुए कहा है कि ध्यान, धारणा, योग, जप, पूजा आदि जितने भी बाह्य एवं आभ्यन्तर उपाय हैं, वे सभी माया (भेद-बुद्धि) के भीतर ही व्यवहार के लिए परमेश्वर के द्वारा आभासित हैं।[४] अतः अर्चा आदि सभी साधन माया के अन्तर्गत हैं। परमशिव मायातीत है। इसी अवस्था में इन मायीय साधनों से मानव को मायारहित आनन्द की उपलब्धि कैसे हो सकती है? अतएव शैवदर्शन में शिव का परमानुग्रह (शक्तिपात) ही जीव के पूर्ण चित् स्वभाव के प्रकाशन में मुख्य हेतु माना गया है।[५]

जीव के स्वरूप के प्रत्यभिज्ञान में अनुग्रह (शक्तिपात) की महिमा का उल्लेख किया है। स्वच्छन्दतन्त्र में कहा है— जैसे एक कोशकार कीट अपने आप को जालावेष्टित कर लेता है, किन्तु पुनः अपने को उस जाल से मुक्त करने में असमर्थ होता है, वैसे

---

१. देखिए पृष्ठ ५६

२. (क) इच्छयैव भुवनानि भावयन् ॥ स्तु० १।१५

(ख) ज्ञानक्रियस्य पुरतः स्फुरति प्रपंचः ।—वही ३।५

(ग) क्रियाज्ञाने नित्ये करणनिरपेक्षे प्रभवतः। स्तु० ३५।११

(घ) स च न भवति ज्ञानरहितः ॥ वही ३५।१२

३. द्रष्टव्य, तन्त्रसार, पृ० ६।

४. उपायैर्न शिवो भाति भान्ति ते तत्प्रसादतः ॥ तंत्रालोक, भाग १, आ० २, पृ० ३

५. सर्वः पारमेश्वरः शक्तिपात एव स्वसंविदामिव्यक्तौ निमित्तम्।

तंत्रालोक टीका, भाग ८ पृ० ३६।

ही संसारी प्राणी निजनिर्मित मिथ्या मायाजाल में अपने को बांध लेता है, किन्तु कोशकार कीट की तरह फिर स्वयं अपने आपको निजकल्पित बन्धनों से मुक्त करने में समर्थ नहीं होता। अतः परमशिव उस जीव पर अपनी अनुग्रह शक्ति का पात करता है और शिव के इस अनुग्रह से जीवात्मा पाश-बन्ध से मुक्त होकर अपने निर्दोष स्वरूप को पहचान लेता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि शक्तिपात परमेश्वर के अनुग्रह की पारिभाषिक संज्ञा है।[१]

उपर्युक्त शैव मान्यता को हृदय में धारण कर जगद्धर शिव के अनुग्रह का वर्णन करते हुए कहता है कि जिसको प्राप्त करने के लिए कल्पवृक्ष भी समर्थ नहीं है, और जिसको प्राप्त करने के बाद फिर किसी भी रसायन के पान करने की इच्छा ही नहीं होती तथा जो अतिकष्टसाध्य साधनों से भी प्राप्त नहीं हो सकता, वह सदाशिव का अत्युत्तम अनुग्रह हमारे विविध तापों-पापों को हरे।[२] कवि कहता है कि जिस प्रभु के दृष्टिपात (अनुग्रह) होने पर सभी के हृदय में परमानन्द प्राप्त होता है, उस करुणासिन्धु का मैं आश्रय लेता हूं।[३] हे सदाशिव, आपका दृष्टिपात (अनुग्रह) कृपारूपी अमृत से सदा आर्द्र रहता है।[४] शिव के अनुग्रह के सम्बन्ध में जगद्धर का कथन है कि यद्यपि सूर्य और मेघ का उद्यम सर्वत्र समान भाव से बिना ही कारण और बिना प्रार्थना किये ही सदैव जीवों के हित के लिए होता है। यह सब सत्य है, परन्तु मेघ तृष्णारूपी ताप को हरने में समर्थ नहीं हो सकता, एवं सूर्य अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश नहीं कर सकता। परन्तु भगवान् सदाशिव का अनुग्रह तो पाप, ताप, अन्धकार आदि सभी आपत्तियों को दूर कर देता है। अतः वह शिव का अनुग्रह सर्वोत्कृष्ट है।[५] भगवान् शिव को कवि ने भक्तों पर अनुग्रह करने वाला कहा है।[६] कवि का विश्वास है कि अनुग्रह के बिना सब साधन निष्फल हैं। वह कहता है कि हे सदाशिव, आपके अनुग्रह के बिना आपका

---

१. कोशकारो यथा कीट आत्मानं वेष्टयेद् दृढम्।
न च उद्वेष्टयितुं शक्त आत्मानं स पुनर्यथा॥
तथा संसारिणः सर्वे बद्धाः स्वैरेव बन्धनैः।
न च मोचयितुं शक्ताः पशवः पाशबन्धनाः॥
स्वयमेव स्वमात्मानं यावद् वै नेक्षते शिवः॥
अनुग्रहशक्त्या॥ स्वच्छन्दतन्त्र, भाग ५ अ, पटल १०।३६९-३६४

२. लभ्यो न यो गहनयोगहवैः स वोऽय-
मप्राकृतो हरकृतो हरतु प्रसादः॥ स्तु० ३।४३

३. स्तु० ८।१९

४. कामं कृपामृतमृदुस्तव दृष्टिपातः॥ स्तु० १२।२८

५. तृष्णातापशमक्षमस्तु न रविर्न ध्वान्तशीतान्तकृन्
मेघः स त्वखिलार्तिहृद् विजयते माहेश्वरोऽनुग्रहः॥ स्तु० १५।३९

६. भक्तानुग्रहकारिणे, स्तु० कु० २।१५।

भक्तियोग प्राप्त नहीं हो सकता ।[1] जो भक्तियोग समस्त तापों का शामक है ।

मलत्रय

परमशिव वस्तुतः सर्वव्यापक होने के कारण एक ही है, परन्तु वही एक लीलावशात् विविध रूपों में भी प्रतीत होता है । इस विविधता का अवभास परमेश्वर मलों की कल्पना के द्वारा करता है । मलकल्पना उसकी स्वरूपगोपन की क्रीडा है ।[2] जीवभाव से युक्त शिव के अपने स्वातंत्र्य स्वभाव को यथार्थतः न जानना ही उसका अज्ञान है और अज्ञान को ही पारिभाषिक शब्दों में मल कहा जाता है ।[3]

मल मूलतः तो एक ही है, किन्तु विद्वानों ने समझने के लिये उसे तीन नामों से कहा है, जिनको शास्त्रीय भाषा में आणव, कार्मल और मायीय कहते हैं ।

१. **आणव**—परमेश्वर अपनी प्रकाशरूपता को भूलकर कहीं शून्य को, कहीं प्राण को, कहीं बुद्धि को और कहीं शरीर को ही "अहम्" अर्थात् अपना आप समझ बैठता है । इन जड भावों में ही अपने कर्त्तव्य को ठहराता है । इस प्रकार अपने आपको असीम प्रकाशरूप न समझते हुए उसे सीमित शून्य आदि के रूप में समझना एक प्रकार का "आणव मल" होता है ।[4]

२. **कार्मल**—वस्तुतः जीव जो भी कर्म करता है, वे सब शिव के द्वारा ही होते हैं, वह ही प्रेरक है । सम्पूर्ण विश्व के समस्त कर्मों का कर्त्ता शिव ही है । परन्तु संकोचन के विकास के कारण उसे (जीव को) उन विशेष कर्मों के प्रति अपनी कर्तृता का अभिमान हुआ करता है । ऐसा मानने पर उन कर्मों के जो संस्कार होते हैं, उनका वही पात्र बन जाता है ।

इस प्रकार से उस जीव में परिमित कर्मों की वासनायें बनी रहती हैं । कर्त्तृत्व के मिथ्या अभिमान से वह कर्मों के फल की जिम्मेदारी का पात्र बना रहता है, और उन कर्मों की वासना उसे नाना प्रकार की योनियों में जन्म लेने को प्रेरित करती हुई जगत् के जाल में फंसाये रखती है । यह संकुचित कर्त्तापन का अभिमान और कर्मवासना जीव का कर्ममल कहलाते हैं जिसे शास्त्रीय भाषा में कार्मल कहा गया है । यही मल जीव की जन्ममरणरूपी संसृति का मुख्य हेतु कहा गया है ।[5]

---

१. नानुग्रहस्तव विना त्वयि भक्तियोगम् । स्तु० ९।३३; ९।१५ भी देखें ।

२. स्वात्मप्रच्छादनक्रीडामात्रमेव मलं विदुः । तंत्रा० टीका, भाग ८, पृ० ६९-७०

३. अज्ञानं किल बन्धहेतुरुदितः शास्त्रे मलं तत्स्मृतम् । तन्त्रसार, भाग, १, पृ० ५१

४. काश्मीर शैवदर्शन, पृ० १३२ ।

५. देवादीनां च सर्वेषां भविनाम् त्रिविधं मलम् ।
तथापि कार्मलमेकं मुख्यं संसारकारणम् ।। तंत्रालोक, भाग ५, पृ० ५६ ।

३. **मायीय**—कोई-कोई प्रमाता अपने वास्तविक विलास की लीला के प्रभाव से संसार को, परमेश्वर को तथा अन्य प्राणियों को अपने से भिन्न समझता रहता है। प्रमाता के भेदमय दृष्टिकोण का यह संकोच "मायीय" मल कहलाता है।[१] माया शैव दर्शन में भेद भूमिका का नाम होता है। इसीलिए भेदमय दृष्टिकोण के इस मल को मायीय मल कहते हैं।

इन तीनों मलों से युक्त शिव अपने को जीवात्मा के रूप में अभिव्यक्त करता है।

जगद्धर इस सिद्धांत से पूर्णतः परिचित है। वह अपने आराध्य से जहां अन्यान्य याचनाएं करता है, वहां यह भी प्रार्थना करता है, कि हे शिव मुझे अणु, शुभाशुभ कर्म तथा मायाजन्य मलों से मुक्त कर दो। आप मुझे इस मलत्रय से मुक्त करने में पूर्ण समर्थ हैं।[२]

६. स्तुतिकुसुमांजलि तथा अन्य दर्शन

(क) **वेदान्त-दर्शन**—अद्वैत वेदान्त एकमात्र सच्चिदानन्द ब्रह्म की ही पारमार्थिक सत्ता को स्वीकार करता है। वह ब्रह्म अपनी अनिवार्य मायाशक्ति से समन्वित होकर "ईश्वर" बनता है तथा नामरूपात्मक जगत् का निर्माण करता है। मायाजनित होने के कारण यह जगत् रज्जुसर्प के समान ब्रह्म का विवर्त है, अतः ब्रह्मस्वरूप से पृथक् इसकी कोई सत्ता नहीं है। अविद्या की उपाधि से युक्त ब्रह्म ही जीव बनता है। तत्त्वज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर, जीव भी परमार्थतः ब्रह्म ही है। अद्वैत वेदान्त के बीज हमें उपनिषदों में मिलते हैं। आगे चलकर उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा भगवद्गीता, इन तीनों को "प्रस्थानत्रयी" की संज्ञा मिली। इन तीनों पर भाष्य करने के कारण शंकराचार्य को अद्वैत-वेदान्त का प्रमुख आचार्य माना गया। आज यह सिद्धांत मायावाद अथवा शांकर वेदान्त के नाम से प्रख्यात है। आगे के प्रकरण में अद्वैत वेदान्त के परिप्रेक्ष्य में स्तुतिकुसुमांजलि की समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। यहां पर वेदान्त के विभिन्न तत्त्वों का उल्लेख न करके केवल ब्रह्म तथा जगत् की उत्पत्ति इन दो ही विषयों का विश्लेषण किया है, क्योंकि स्तुतिकुसुमांजलि में इन दो का ही उल्लेख उपलब्ध होता है, जो विवेच्य है।

वेदान्त के अनुसार ब्रह्म चरम सत्य है। यही जगत् के उदय का मूल है। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा है, "जिससे इस समस्त भूतजात की उत्पत्ति होती है, जिसमें इन समस्त भूतों के जीवन की स्थिति रहती है तथा जिसमें अन्त में प्रलय के उपरान्त सब

---

१. भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यम्। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा २।२।५,

२. हर्तुं बिभर्ति भविनामणुकर्ममायामूलं मलत्रयमयं तमहं श्रयामि ॥ स्तु० ८।३६

विलीन हो जाते हैं, उसे जानो, वही ब्रह्म है।"[१] इस सृष्टि के कारण के परिपोषक अनेक वचन उपनिषदों में मिलते हैं[२], जिनसे यह सिद्ध होता है कि सृष्टि की उदयभूमि ब्रह्म ही है। श्री शंकराचार्य ने भी यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि समस्त वेदान्तग्रन्थों में परमेश्वर को सम्पूर्ण जगत् का कर्ता माना गया है।[३] बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य में उन्होंने कहा है कि समस्त वेदान्त-शास्त्रों में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के ब्रह्म-मूलक होने की कल्पना का तात्पर्य सृष्टि-प्रलय-क्रम का निरूपण करना नहीं है, किन्तु ब्रह्म के साथ जगत् के एकरूपत्व के ज्ञान को पुष्ट करना है।[४] इस प्रकार से अद्वैत वेदान्त जगत् का मूल कारण ब्रह्म को ही स्वीकार करता है।

जगत् का ब्रह्म से संबंध—जगत् ब्रह्म का कार्य तथा ब्रह्म जगत् का कारण है। श्री शंकराचार्य ने जिस बात पर जोर दिया है, वह कार्य और कारण का अपृथक् तादात्म्य तथा उसी से अनुगत जगत् और ब्रह्म का अपृथक् तादात्म्य भाव है। कारण से पृथक् कार्य की सत्ता सम्भव नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म से पृथक् जगत् की सत्ता सम्भव नहीं। इस सिद्धांत को संस्थापित करने के हेतु वेदान्त ने विवर्त को आधार माना। वेदान्त के मत से जगत् ब्रह्म का विवर्त है; परिणामादि नहीं है।

विवर्तवाद के अनुसार सत्य के ही अनेक रूप दिखाई पड़ते हैं, परन्तु वास्तव में सत्य एक ही है, उसमें अनेकरूपता तो देखने मात्र की ही है। अनेकता में सत्य का तात्त्विक परिवर्तन न होकर विवर्त मात्र है।[५] विवर्त का अर्थ है—अपने स्वरूप का परित्याग किए बिना ही अपने से भिन्न रूप को प्रदर्शित करना।[६] जैसे रज्जु के विवर्त सर्प की रज्जु से पृथक् अपनी कोई सत्ता नहीं होती, रज्जुरूप से ही सत्ता होती है, उसी प्रकार ब्रह्म का विवर्त होने से जगत् की ब्रह्म से पृथक् कोई सत्ता नहीं है। जिस प्रकार रज्जु में अज्ञान (माया) के कारण सर्प भासता है, अज्ञान निवृत्त होने पर एकमात्र रज्जु ही रज्जु प्रतीत होती है। उसी प्रकार मायायुक्त ब्रह्म ही इस जगत् का

---

१. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद् विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति॥ तै० उ० ३।१

२. सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति। तै० उ० २६।१
तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। तै० उ० २।१
स इमांल्लोकानसृजत्। ऐत० उ० १।१।२

३. परमेश्वरश्च सर्वजगतः कर्ता सर्ववेदान्तेष्ववधारितः। ब्रह्मसूत्रभा १४।१६

४. तस्मादेकरूपत्वप्रत्ययदाढर्यायैव सर्ववेदान्तेषूत्पत्तिलयादिकल्पना। न तत्प्रत्ययकरणाय। बृह० उ० भा० २।१।२०

५. अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः। वेदान्तसार, पृष्ठ ६४

६. वेदान्तसार, पृ० ६४

कारण है। इसे किसी कारणान्तर की आवश्यकता नहीं है। मुण्डकोपनिषद् में कहा है, जिस प्रकार मकड़ी जाले को बनाती है और निगल जाती है, जिस प्रकार पृथ्वी में औषधियां उत्पन्न होती हैं और जिस प्रकार जीवित मनुष्यों से केश तथा रोएं उत्पन्न होते हैं,, उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से यह समस्त विश्व उत्पन्न होता है।[1] ब्रह्मसूत्र में भी ईश्वर को जगत् का निमित्त और उपादान कारण बताया गया है।[2] उपर्युक्त वचनों से यह सिद्ध है कि वेदान्त ब्रह्म को ही जगत् का कारण मानता है।

वेदान्त में ब्रह्म का लक्षण

अद्वैत वेदान्त के अनेक ग्रन्थकारों ने ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन किया है। कौमुदीकार का विचार है कि जगत् के जन्म, स्थिति और लय इनमें से प्रत्येक ब्रह्म का असाधारण धर्म है, अतएव प्रत्येक ब्रह्म का लक्षण हो सकता है।[3] जगज्जन्म-स्थितिलयकारणत्वरूप लक्षण **"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते"** इत्यादि श्रुति से भी कहा गया है। फलितार्थ यह हुआ कि जो समस्त जगत् की उत्पति, स्थिति और लय का कारण हो। इसलिए ब्रह्म में जो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय की कारणता है, वही असाधारण धर्म होने से ब्रह्म का लक्षण है। उपनिषदों में कहा है—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। छान्दोग्योपनिषद् ६।२।१
आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। तैतिरीयोप० ३।६।१
यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। तैति० २।४।१

सजातीयविजातीयेभ्यो हि व्यावर्तकं लक्षणम् अर्थात् सजातीय और विजातीय पदार्थों से पृथक् करके प्रदर्शित कर देने वाला लक्षण होता है। लक्षण दो प्रकार का होता है—स्वरूपलक्षण और तटस्थलक्षण।

स्वरूपलक्षण—'स्वरूपं सद् व्यावर्त्तकम्। यथा पृथिव्याः पृथिवीत्वम्' अर्थात् स्वरूपलक्षण वह होता है, जो वस्तु का स्वरूप होने के साथ दूसरों का व्यावर्तन भी करता हो, जैसे पृथिवी का स्वरूपलक्षण है—पृथिवीत्वम्। यह पृथिवी का स्वरूप भी है और जल आदि का व्यावर्तन भी करता है। इसी प्रकार ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है—सच्चिदानन्द।

तटस्थलक्षण—'तद्भिन्नत्वे सति तद्बोधकत्वम्' वस्तुस्वरूप से भिन्न होने पर भी वस्तु का बोध करने वाला तटस्थलक्षण होता है, अर्थात् जो धर्म कभी धर्मी

---

१. यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्॥ मुण्डक १।१।६
२. प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्। ब्रह्मसूत्र १।४।२३
३. जगज्जन्मस्थितिलयेष्वेकैकं ब्रह्मलक्षणम्।
प्रत्येकं ब्रह्मलिङ्गत्वाद् इत्याहुः कौमुदीकृतः॥ १४

के साथ सम्बद्ध हो और कभी न हो; जैसे छत्र, चामर आदि राजा के तटस्थ लक्षण हैं, राजा से प्रतिक्षण सम्बद्ध नहीं होते, क्योंकि वे राजा से भिन्न हैं तथापि राजा को लक्षित कराते हैं। उसी प्रकार जगज्जन्मादिकारणत्व ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है।

अद्वैतवेदान्तसम्मत पूर्वोक्त ब्रह्म के लक्षण के परिप्रेक्ष्य में यहां जगद्धर कहता है, जैसे एक ही आकाश, पोले बांस या घट आदि तत्तत् उपाधियों से विशिष्ट होकर तत्तत् उपाधि के आकार से आकारित होता हुआ "वंशाकाश", "घटाकाश" के रूप में अभिव्यक्त होकर अनेक प्रकार का सा भासित होता है; एवं जैसे एक ही सूर्य का विम्ब जल की तरंगों में (प्रतिबिम्बित होकर) अनेक प्रकार का सा भासमान होता है, इसी तरह जो एक अद्वितीय पूर्ण ब्रह्म चेतन और अचेतन सब में कई तरह से देदीप्यमान हो रहा है।[1] जैसे स्वयं प्रकाश ही सूर्य, मेघरेखा के संयोग से नानावर्ण सा बनकर इन्द्रधनुष के रूप में परिणत होकर सूर्य द्वारा प्रकाशित होता है, वैसे ही सुर-नर-तिर्यक् आदिरूप स्वयंप्रकाश परमात्मा स्वरूप ही जगत् एक माया तत्त्व के द्वारा भिन्न प्रकार सा होकर, अनेक नाम-रूपात्मक सा प्रतीत होता है।[2]

जगद्धर आगे कहता है कि—जैसे केवल कर्णिका, कटक, कुण्डल आदि नाममात्र द्वारा भिन्न से प्रतीयमान पदार्थों में एक (उनसे) अभिन्न ही सुवर्ण है, और समुद्र, नद, नदी आदि केवल नाममात्र उपाधि से भिन्नवत् प्रतीयमान जलाशयों में 'यह समुद्र का जल है, और यह नदी का है' इत्यादि प्रकार से जैसे केवल नाममात्र से भिन्न सा प्रतीत होता हुआ वास्तव में एक ही अभिन्न जल विद्यमान है उसी प्रकार सुर, नर, पशु, पक्षी, मृग, सर्प आदि केवल नाममात्र से भिन्नवत् प्रतीयमान रूपों में जो एक (शिव) ही परमार्थ रूप से व्याप्त है।[3]

स्तुतिकुसुमांजलि में ब्रह्म का स्वरूप

ब्रह्म को शिव संज्ञा से संबोधित करते हुए जगद्धर कहता है कि वह एकमात्र अनुभवगम्य है, स्वयंप्रकाश है, जैसे लौकिक घट आदि पदार्थों के प्रकाशन के लिए सूर्य के प्रकाश की अपेक्षा होती है, किन्तु सूर्य के प्रकाशन के लिए किसी प्रकाशान्तर की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि सूर्य स्वयंप्रकाश है, वैसे ही जो परमात्मा समस्त ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है उस स्वयंप्रकाश के प्रकाशन के लिए किसी भी प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं है।[4] जिस प्रकार सूर्य मेघरेखा के संयोग से नानावर्ण-सा

---

१. कीचकादिकुहरेष्विवाम्बरं, विश्वमम्बरमणेरिवोर्मिषु।
एकमेव चिदचित्स्वनेकधा यच्चकास्ति तदुपास्महे महः॥ स्तु० १।८

२. स्तु० १।१० ३. स्तु० २।२४

४. स्वानुभूतिमयैकसाक्षिणम्। स्तु० १।९

बनकर इन्द्र-धनुष के रूप में परिणत होकर सूर्य द्वारा प्रकाशित होता है, वैसे ही वह स्वयंप्रकाश सुर, नर आदि रूप स्वयंप्रकाश परमात्मस्वरूप ही जगत् एक मायातत्त्व के द्वारा भिन्न प्रकार का होकर अनेक नाम-रूपात्मक सा प्रतीत होता हुआ जिस परमात्मा द्वारा प्रकाशित होता है, उसकी हम उपासना करते हैं।[१] वह उत्पत्ति से रहित, रूप से रहित तथा बिना आधार के ही स्थित है। अर्थात् चराचर का अधिष्ठान वही एकमात्र है, तो उसका कोई आधार न होना स्वतःसिद्ध है।[२] जिसकी महिमा का कथन वाणी और मन से परे है।[३] अद्वैतवादियों ने उसे "अवाङ्-मनस-गोचरम्" कहा है।[४] उस ब्रह्म के संबंध में कुछ भी कहने में असमर्थ वाणी, मन के साथ मौन हो जाती है,[५] क्योंकि वही तो मन, वाणी का प्रेरक है, साक्षी है, उसी के प्रकाश से ये सब प्रकाशित होते हैं। श्रुति कहती है—**नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।**[६] **यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते, यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।**[७] वह बुद्धि, मन और इन्द्रियचक्र से अगम्य है। जगद्धर का पूर्वोक्त भाव इसी सिद्धांत का परिपोषक है। वह अनन्तगुणसम्पन्न होते हुए भी गुणरहित है।[८] वह सर्वकालातीत होने पर भी सर्वकालस्थित है, उसका रूप अविद्यात्मक माया के आवरण से रहित है, उसके लिए केवल अपना अनुभव ही एकमात्र प्रमाण है। वह समस्त जगत्-रूप अंकुरों का एक ही मूल कारण तथा दिग्देशकालादि के मापों से परे है, वह हमारे लिए मंगल प्रदान करे।[९] जो स्तोता है, स्तुति तथा स्तुत्य स्वयमेव है, जिसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। यह जो स्तोता, स्तुत्य का भाव हो रहा है, यह तो अज्ञानजनित है, मिथ्या है।[१०]

स्तुतिकुसुमांजलि की दृष्टि में जगत् का कारण

जगद्धर ने एकमात्र शिव को ही जगत् का कारण माना है। उसने जगत्

---

१. स्वावभासमयमेव मायया, येन भिन्नमवभास्यते जगत्।
चित्रमिन्द्रधनुरभ्रलेखया, भास्वतेव तदुपास्महे महः॥ स्तु० १।१०
२. रूपवर्जितमभित्तिसंश्रयम्। स्तु० १।१२
३. वाङ्मनासातीतमहिम्ने। वही २।१२
४. वेदान्तसार, पृ० १
५. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। तैति० उ० २।४।१
६. कठोपनिषद् २।३।१२
७. केनोपनिषद् १।४।५
८. अनन्तगुण-निर्गुण-मूर्तये। स्तु० २।१२
९. स्तु० ३।१। स्तु० तुलनीय नीतिशतक १
१०. वही १२।२

को ब्रह्म का परिणाम न मानकर विवर्त ही माना है।[1] क्योंकि दिग्देशकालादि से अपरिच्छेद्य वस्तु कभी भी परिच्छन्न न हुई। दृश्यमात्र स्पष्टतया विवर्त ही सिद्ध होता है न कि परिणामी। परिणति पुनः अपने स्वरूप को कभी प्राप्त नहीं होती है। दूध का विकार दधि कभी पुनः दूध नहीं हो सकता। विवर्त में केवल नाम रूप का ही परिवर्तन विशेष रूप से होता है, जैसे आभूषणभेद सुवर्णादि का नामरूप विकार ही हैं, सुवर्ण से तत्त्वतः भिन्न नहीं हैं। अतएव विवर्तवाद वेदान्त मत है। अधिष्ठान में अध्यस्त विभिन्न वस्तुजात सदैव रूपान्तरित होता हुआ अपने स्वरूप से भिन्न नामरूप को धारण करता है, उसी में अवस्थित रहते हुए, उसी में विलीन भी हो जाता है। इसी अधिष्ठान निर्विकार चेतनघन ब्रह्म को ही कवि नमस्कार करता है। उसका कथन है कि जैसे केवल कर्णिका, कटक, कुण्डल आदि नाम मात्र द्वारा भिन्न से प्रतीयमान पदार्थों में एक उनसे अभिन्न ही सुवर्ण है और समुद्र, नद, नदी आदि केवल नाममात्र उपाधि से भिन्नवत् प्रतीयमान जलाशयों में यह सागर का जल है, और यह नदी का है, इत्यादि प्रकार से जैसे केवल नाममात्र से भिन्न-सा प्रतीत होता हुआ वास्तव में एक ही अभिन्न जल विद्यमान है, उसी प्रकार से सुर, नर, पशु, पक्षी आदि केवल नाममात्र से भिन्नवत् प्रतीयमान रूपों में जो एक ही परमात्मा परमार्थरूप से व्याप्त है, वह परमज्योति चिदानन्दघनस्वरूप परमशिव है।[2] वही वृषभध्वज जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार का कारण है।[3] जैसे एक ही आकाश, पोले बांस या घट आदि तत्-तत् उपाधियों से विशिष्ट होकर, तत्-तत् उपाधि के आकार से आकारित होता हुआ "वंशाकाश" या "घटाकाश" रूप में अभिव्यक्त होकर अनेक प्रकार का सा भासित होता है, एवं जैसे एक ही सूर्य का बिम्ब जल की तरंगों में प्रतिबिम्बित होकर अनेक प्रकार का सा भासमान होता है; इसी तरह जो एक अद्वितीय पूर्ण परब्रह्म चेतन और अचेतन सब में कई तरह से देदीप्यमान हो रहा है, उस परमज्योति परब्रह्मरूप सदाशिव की हम उपासना करते हैं।[4] यह समस्त विश्व उसी एक का विवर्तमात्र है।

---

१. दिग्देशाकारकालैरकलितविभवं यन्महद् बीजभूतं
भूतग्रामस्य यस्य त्रिभुवनविषयं वस्तुजातं विवर्तः।
यस्मिन् हेम्नीव नानाऽऽभरणपरिकरो लीयते विश्वमन्ते
तद्भिन्नेष्वप्यभिन्नं भव भवसि परं ब्रह्म तस्मै नमस्ते ॥ स्तु० ३३।४४

२. कर्णिकादिष्विव स्वर्गमर्णवादिष्विवोदकम्।
भेदिष्वभेदि यत्तस्मै परस्मै महसे नमः ॥ स्तु० २।२४

३. जगत्सर्ग-स्थिति-ह्रास-हेतवे वृषकेतवे। वही २।२३

४. कीचकादिकुहरेष्विवाम्बरं, बिम्बमम्बरमणेरिवोर्मिषु।
एकमेव चिदचित्स्वनेकधा, यच्चकास्ति तदुपास्महे महः ॥ वही १।८

इस प्रकार विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि जगद्धर ने शांकर वेदान्त का सम्यक् अध्ययन किया था, जिसके परिणामस्वरूप उसने स्तुतिकाव्य में भी वेदान्त की प्रमुख मान्यताओं का उल्लेख किया है, जिनमें ब्रह्म का स्वरूप, जगत् का कारण माया, अविद्या आदि उद्धृत हैं। पीछे ब्रह्म तथा जगत् के कारण का विवेचन किया गया है। शेष का कवि ने सामान्यरूपेण उल्लेख किया है।

(ख) स्तुतिकुसुमांजलि तथा योगदर्शन :

"योग" शब्द का अर्थ

इस शब्द की निष्पत्ति "युज्" धातु से होती है, जिसका अर्थ समाधि है। पंतजलि ने योग की परिभाषा दी है—"**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**[1]। अर्थात् चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है। योगवाशिष्ठ में संसार-सागर को पार करने वाली युक्ति को योग कहा है।[2] अन्य विषयों से चित्त का निरोध कर सदाशिव में चित्त को लगाना योग है।[3] समस्त वेदान्त का सार ही योग है, जहां चित्त एकाग्र हो जाता है।[4]

योग-साधन

"योग" पद अनेकार्थक होने के कारण बड़ा व्यापक है। भगवद्गीता के प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पर "विषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः" आदि लिखा है। पुनरपि पतंजलि ने हठयोग तथा राजयोग भेद से योग को मुख्यतया दो प्रकार का माना है। हठयोग के अन्तर्गत अष्टांग योग का प्रमुख स्थान है। योग के इन अंगों के अनुष्ठान से अशुद्धि का नाश होने पर ज्ञान का प्रकाश विवेकख्यातिपर्यन्त हो जाता है।[5] इन अंगों का अनुष्ठान जितना-जितना बढ़ता है, उतनी ही क्लेश की निवृत्ति और ज्ञान के प्रकाश की अधिकता होती जाती है।[6] पतंजलि के अनुसार योग के ये आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि।[7] इन आठ योगांगों को विवेकख्याति के साधन माना है। उनमें से धारणा, ध्यान, समाधि साक्षात् सहायक होने से योग के अन्तरंग साधन हैं। बहिरंग साधन यम, नियम योगसाधना में विघ्नभूत हिंसादि विकारों को हटाकर समाधि को सिद्ध करते

---

१. योगसूत्र १।२

२. संसारोत्तरणे युक्तिर्योगशब्देन कथ्यते। योग वाशिष्ठ ६।१३।३

३. शिव० पु० ७।२१।६

४. सर्ववेदान्तसारं हि योगस्तदेकचित्तता। कूर्मपुराण २।२।४०

५. योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः॥

पा० योगप्रदीप, पृ० ३४६

६. पा० यो० प्र०, पृ० ३४६

७. साधनापाद, सूत्र २६

हैं। शेष तीन अंग अगले दो अंगों के उपकारक हैं। आसन सिद्ध होने से प्रणायाम की स्थिरता से प्रत्याहार सिद्ध होता है।। इन सबका विस्तृत विवेचन स्वामी ओमानन्द तीर्थ ने किया है।[१]

योग का प्रयोजन—

मन (चित्त) का निरोध ही योग है।[२] मन को चित्त, बुद्धि तथा आत्मा के नाम से भी कहा गया है। शतपथब्राह्मण[३] में मन को प्राणों का अधिपति कहा गया है। प्रजापति को मन की तरह माना है।[४] शतपथब्राह्मण में तो एक स्थान पर यहां तक कह दिया है कि काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, भी (भय), यह सब मन ही है।[५] पंचदशीकार ने मन को ही मनुष्य की मुक्ति और बंधन का हेतु कहा है।[६]

अन्नम्भट्ट ने मन को सुख-दुःख की उपलब्धि का साधन माना है।[७] चित्त इन्द्रियों का सेनापति है। यानी मन इन्द्रियों का स्वामी रूप से संचालक और निरोधक है। इसलिए मन पर विजय पा लेने से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो जाती है। जिसने पैर में जूता पहन रखा हो, उसके लिए सारी पृथ्वी चर्मावृत हो जाती है।[८] वेदव्यास कहते हैं कि मेरे सुख-दुःख का कारण न तो ये मनुष्य हैं, न देवता, न शरीर, न गृह, न कर्म, तथा काल आदि ही हैं, अपितु महात्माजन मन को ही इस सुख-दुःख का परम कारण कहते हैं।[९]

इस विचित्र चांचल्ययुक्त मन का निग्रह अति कठिन है। अतएव परमवीर पार्थ का भी योगिराज श्रीकृष्ण से यही निवेदन था कि मन का निग्रह वायु से भी कठिन कार्य है, क्योंकि इसका स्वभाव ही चंचल है।[१०] इस के उत्तर में श्रीकृष्ण ने अभ्यास एवं वैराग्य को मन का निरोधक बतला कर अर्जुन का समाधान किया।[११]

---

१. पा० यो० प्र०, पृ० ३५१
२. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। योगदर्शन, समाधिपाद २
३. मनो वै प्राणानामधिपतिः। मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः॥
—शतपथ, १४।३।२३
४. मन इव हि प्रजापतिः। वही, २।२।१-२, तै० सं० २।५।११।५
५. शत० ब्रा० १४।४।३।९
६. मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। पंचदशी ६।६८,
७. सुखदुःखोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः। तर्कसंग्रह १।९
८. योगवाशिष्ठ २६३
९. भागवत महापुराण ११।२३।४३
१०. गीता ६।३४
११. वही ६।३५

जगद्धर को भी मन की इस स्थिति का पूर्ण परिज्ञान था। वह सम्यक् जानता था कि मन का निरोध समाधि अवस्था में ही संभव है। जगद्धर भक्त होने के कारण मन भ्रमर को परमशिवपादारविन्द के सुधामकरन्द का वशी बना चुका है, परन्तु योगदर्शन का ज्ञाता होने के कारण स्तुतिमुखेन कुछ योगसिद्धान्तों का भी प्रसंगवश दिग्दर्शन करा रहा है। कवि कहता है, "यदि आप लोग आवागमनरूप संसार से सदा के लिए निर्भय होना चाहते हैं, तो मन को संकल्प-विकल्परहित, निश्चल तथा समाधि में लीन कर दो।"[1] जिस प्रकार पाश्या से बड़े-बड़े पक्षियों को फंसाया जाता है, लगाम से बलशाली अश्व को रोका जाता है, उसी प्रकार यम, नियम आदि अष्टांगयोग के द्वारा मनरूपी वानर को रोक कर भवानीपति का भजन करो।[2]"

योगसाधन की अपेक्षा भक्ति का वैशिष्ट्य

जगद्धर का विचार है कि सहज भक्ति भाव से अपने परमाराध्य के चरणों में अपने-आपको समर्पित कर देना (भक्ति) योगादि की अपेक्षा कहीं सरल है। भक्ति में शारीरिक बल तथा कठोर तपश्चर्या अनिवार्य नहीं, जबकि योगांग साधना में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। पूर्ण स्वस्थ एवं सबल शरीर ही इन यौगिक शारीरिक क्रियाओं में समर्थ हो सकता है। इतना अवश्यमेव स्वीकार्य है कि योग के लिए यम नियमादि अपरिहार्य हैं। इनकी साधना किये बिना योग अधूरा है। अतः यदि तुम अष्टांगयोग को कठिन समझते हो तो भक्ति का आश्रय लो। तुम्हें जो तत्त्व योग से, कठिनता से प्राप्त होगा, उसे भक्ति सरलता से प्राप्त कराने में समर्थ है।[3]

यहां यह भी ध्यातव्य है कि जगद्धर ने संभवतः अष्टांग योग को अपने जीवन में व्यावहारिक रूप दिया होगा क्योंकि उपर्युक्त विचारों से यह बात सिद्ध होती है कि कवि योग की व्यावहारिक कठिनाई से सुपरिचित है।

"ओं" की उपासना

यह कहा जा चुका है कि स्तुतिकुसुमांजलि सगुण ब्रह्म की स्तुति है तथा जगद्धर भक्त कवि है। भक्ति मार्ग में वैदिक तथा पौराणिक उभयविध मन्त्रजाप का विधान है। परन्तु ओम् की उपासना विशेषतः निर्गुण-ब्रह्मोपासना से ही

---

१. मनः समाधौ परमान्तरंगं विधाय निःस्पन्दमनुत्तरंगम्।
बुधा विधातुं भवभीतिभंगम् विभुं भजध्वं गिरिजाभुजंगम्॥ स्तु० ३१।१

२. पाश्यावशेनेव महाविहंगं वल्गाबलेनैव महातुरंगम्।
निरुध्य योगेन मनःप्लवंगं विभुं भजध्वं गिरिजाभुजंगम्॥ वही ३२।२

३. यदि मनुषे यमनियमप्राणायामादि दुर्घटं कर्तुम्।
तदिमं सुगममुपायं श्रय परमपदाप्तये नुतिं शम्भोः॥ स्तु० ३७।१७

सम्बद्ध है। योगदर्शनकार पतंजलि ने परमात्मा के जिस नाम का निर्देश किया है, वह ओम् ही है। उन्होंने कहा है कि उस ईश्वर का बोधक शब्द (नाम) "ओम्" है।[1] इस बोधक प्रणव तथा वाच्य (बोध्य) ईश्वर में अनादि सम्बन्ध है। उस "ओम्" शब्द का जप और उसके अर्थभूत ईश्वर का बार-बार ध्यान करना ईश्वर-प्रणिधान है।[2] ओम् की इस महिमा एवं जपविधि का उल्लेख उपनिषदों में भी बड़े विस्तार से किया गया है।[3] जगद्धर ने यद्यपि भक्ति-मार्ग का ही अनुसरण किया है, पुनरपि ओम् की गरीयसी गरिमा गाये बिना संस्कारवश वह रह न सका। कवि ने कहा कि जो सत्तामात्र अर्थात् सत्य स्वरूप से अच्युत एवं परम उत्कृष्ट "ओम्" यह पद हृदय देश में स्फुरित होता हुआ कण्ठ आदि अभिघात के बिना ही हमारे हृदयरूपी आकाश में अत्यधिक शब्दायमान हो रहा है, और जिसके अन्दर समस्त वाङ्मय लीन है, उस ओंकार रूप परम ज्योतिर्मय ब्रह्म की हम उपासना करते हैं।[4] मन्त्रों में एकाक्षरी मन्त्र "ओंकार" सबसे श्रेष्ठ है।[5]

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवि को योग-दर्शन से पूरा परिचय था। अतएव उसने योग की प्रमुख विधियों का उल्लेख किया है।

७. निष्कर्ष

"स्तुतिकुसुमांजलि" के दर्शनसम्बन्धी इस अध्ययन से स्पष्ट है कि जगद्धर की दृष्टि में विविध कर्त्तव्य और दार्शनिक विचार तभी पूर्णतः सफल माने जा सकते हैं, यदि उनसे शिव की प्राप्ति हो सके। अध्यात्मतत्त्व अथवा शिव के प्रति जीवन को समर्पित किये बिना मानवकल्याण असम्भव है। यह अनुभूति ही "स्तुतिकुसुमांजलि" का मूलाधार है।

जगद्धर किसी सम्प्रदाय के न तो संस्थापक हैं और न पूर्णतः अनुयायी। वे केवल इसलिए दार्शनिक हैं कि उन्होंने भारतीय दर्शन की अध्यात्म-प्रधानता का अनुभव किया है तथा उसे अपने काव्य में, सफल अभिव्यक्ति दी है। अध्यात्मतत्व को शिव नाम की संज्ञा देकर जगद्धर ने एक ऐसा शिवाद्वैत दर्शन प्रस्तुत किया है, जिसमें अनेक दार्शनिक सम्प्रदायों का समन्वय हो जाता है। शैवदर्शन, वेदान्तदर्शन तथा योगदर्शन के प्रमुख स्रोतों से उपयोगी तत्त्वों और सिद्धान्तों का चयन करके जगद्धर ने एक ऐसे दर्शन की रूपरेखा प्रस्तुत की जो अपनी नवीनता में भी प्राचीन है तथा

---

१. तस्य वाचकः प्रणवः। समाधिपाद २७

२. तज्जपस्तदर्थभावनम्। वही २८

३ मुण्डकोप० २।४, श्वेता० उप० १।१३-१४

४. ओमिति स्फुरदुरस्यनाहतं, गर्भगुम्फितसमस्तवाङ्मयम्।
दन्ध्वनीति हृदि यत्परं पदं, तत्सदक्षरमुपास्महे महः॥ स्तु० १।६

५. मंत्रेष्वेकाक्षरं परमं पदम्। स्तु० १८।२३

कोरा सैद्धान्तिक न होकर जीवन को मंगलमय बनाने के कारण अत्यन्त उपयोगी है।

संक्षेप में "स्तुतिकुसुमांजलि" की दार्शनिक रेखाएं निम्नलिखित हैं—

शैव दर्शन का प्रतिपाद्य "सदाशिव" औपनिषदिक ब्रह्म ही है। वह सच्चिदानन्दस्वरूप तथा सर्वज्ञ है, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का कारण है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश शिव की ही विविध शक्तियों के प्रतीक हैं। शिव प्राकृत गुणों से रहित, दिव्यगुणों से युक्त तथा विरोधी गुणों के आश्रय हैं। अपने उपासकों को आनन्द देने तथा दुःखहरण के लिए विविध रूप धारण करते हैं।

शिव की शक्ति ही माया है। उसके कारण शिव अर्धनारीश्वर कहलाते हैं। जगत् के निर्माण में शिव की इच्छा ही एकमात्र हेतु है। इन्हें किसी अन्य उपादान की आवश्यकता नहीं होती। पाँच शक्तियों में क्रियाशक्ति एवं ज्ञानशक्ति ही शिव की विशेष सहायिका हैं।

जहां कवि ने वेदान्त की पृष्ठभूमि में शिव को दर्शाया है, वहां माया से उत्पन्न जगत् शिव का अविकृत विवर्त है। माया ही प्रकृति के रूप में जगत् का उपादान कारण है। विश्व शिव से निर्मित, शासित तथा व्याप्त है। शिव विश्व का रूप है और विश्व शिव का रूप है। "स्तुतिकुसुमांजलि" में जगन्निर्माणप्रक्रिया के वर्णन में जगद्धर ने शांकर वेदान्त तथा शैव-शाक्त मतों का समन्वय किया है। पारमार्थिक दृष्टि से शिवरूप में जगत् सत्य है, व्यावहारिक अथवा दृश्यमान रूप तिरोहित होकर पारमार्थिक शिवरूप प्रकट हो जाता है। व्यावहारिक रूप में भी जगत् शिव की लीला अथवा चिति का विलास है। शिवभक्तिजल से चित्त के निर्मल हो जाने पर भक्त को इस सत्य का ज्ञान धीरे-धीरे हो जाता है।

जीव सच्चिदानन्दस्वरूप है। पर वह शिव का अंश है। शिव अंशी है। शिव सर्वरूप, सर्ववासी, स्वतन्त्र, ईश तथा मायापति है। शिव से अलग होकर जीव माया के कारण अपने स्वरूप को भूल जाता है तथा दुःख भोगता है।

जीव के दुःखी होने के दो कारण हैं अज्ञान और अभक्ति। अतः जीव की मुक्ति के दो साधन हैं ज्ञान और भक्ति। इन दोनों में भी जगद्धर ने भक्ति को ही श्रेयस्कर माना है।

पञ्चम अध्याय

स्तुतिकुसुमांजलि का भावपक्ष एवं कलापक्ष

साहित्य के अन्तरंग एवं बहिरंग पक्षों पर विचार किये बिना समीक्षा पूर्ण नहीं होती । जिस प्रकार मानव की अन्तरात्मा एवं भाव उसके आंतरिक पक्ष होते हैं और उसकी शारीरिक स्थिति, रूप, डील-डौल आदि बाह्य, इसी प्रकार काव्य के भी रस-भाव आदि अन्तरंग (भावपक्ष) में आते हैं और गुण, रीति, अलंकार आदि की गणना बहिरंग (कलापक्ष) में होती है । शब्द और अर्थ काव्य के शरीर माने गये हैं ।[1] ये ही वे तत्त्व हैं, जो कि भाषा के स्वरूप का निर्माण करते हैं । जिस प्रकार एक सुरुचिप्रिय व्यक्ति अपने निवासगृह को सुसज्जित और सुपरिष्कृत बनाना चाहता है, उसके सौन्दर्य के लिए साधन जुटाता है, उसी प्रकार एक कलाकार भी अपनी कृति को सुन्दरतम देखना चाहता है और इस हेतु सुन्दर शब्द और अर्थ की योजना करता है । इतना ही नहीं, यह देखने के साथ-साथ कि उसे अपनी कृति में क्या कहना है, यह भी देखता है कि उस बात को कैसे कहना चाहिये । भावपक्ष और कलापक्ष में यह क्या और कैसे का ही अन्तर है । इन दोनों का समन्वित रूप रचना को उत्कृष्ट बनाता है । भावपक्ष में यह बात आती है कि क्या कहना है और कलापक्ष में कैसे कहना है ।

यदि भार "कैसे" की ओर झुक गया तो वह वाहवाही की वस्तु तो बन जाती है, किन्तु हृदय में पैठती नहीं । "कैसे" की उपेक्षा हो गई, तो सुनते ही मन के वेगों के तरंगित करने की शक्ति उसमें नहीं आती । रसवाद और अलंकारवाद की इस एक-परता पर चोट करते हुए ही माघ ने कहा था कि उत्तम कवि सदा शब्द और अर्थ पर समान रूप से ध्यान देता है ।[2]

जगद्धर की स्तुतिकुसुमांजलि में हमें दोनों पक्षों का सन्तुलन भली प्रकार मिलता है । भावपक्ष की उदात्तता एव कलापक्ष की रमणीयता की झलक आगे के पृष्ठों में दिखाई जा रही है ।

काव्यसिद्धान्त

जगद्धर के काव्यसिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन करने से पूर्व यह स्पष्ट कर देना अत्यावश्यक है कि जगद्धर भट्ट विशुद्ध भक्त-कवि हैं । भक्त कवि होने के साथ ही वे शास्त्रवेत्ता कवि भी हैं । उन्होंने समग्र संस्कृत वाङ् मय का गाढानुशीलन किया

---

१. शब्दार्थौ ते शरीरम् । काव्यमीमांसा, पृष्ठ १४

२. नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषे ।
शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते ।। शिशुपालवध २।८६

है। इसकी झलक स्तुतिकुसुमांजलि में अनेक स्थलों पर मिलती है। इस भक्त कवि में प्रतिभा और व्युत्पत्ति (बहुज्ञता) का अद्भुत संगम है। राजशेखर ने भी प्रतिभावान् और व्युत्पत्तिमान् कवि के तीन प्रकार बतलाये हैं—काव्य-कवि, शास्त्र-कवि तथा उभयकवि।[1]

जगद्धर ने प्रसंगवश काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु, तथा काव्य-आत्मा आदि का स्पष्ट निर्देश किया है। ये विषय काव्यशास्त्रियों के आलोच्य रहे हैं।

१. काव्य-लक्षण

काव्यशास्त्रियों ने अपने-अपने विचार से काव्य के भिन्न-भिन्न लक्षण किये हैं। भामह का काव्यलक्षण सबसे प्राचीन है—"**शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा।**"[2] दण्डी ने "**शरीरं तावदिष्टार्थ-व्यवच्छिन्ना पदावली**"[3] को काव्यलक्षण माना है। वामन ने "**रीतिरात्मा काव्यस्य**"[4] को काव्यलक्षण की मान्यता दी है। आनन्दवर्धन ने ध्वनि को ही काव्य का सर्वस्व मानकर "**काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नात-पूर्वः**"[5] कहा है।

काव्यपुरुष का वर्णन करते हुए राजशेखर ने काव्य का स्वरूप विस्तार से स्पष्ट किया है। उसका कथन है—**शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृतं बाहू, जघन-मपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्। समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि। उक्तिचणं च ते वचः। रस आत्मा रोमाणि छन्दांसि प्रश्नोत्तर-प्रवह्लिकादिकं च वाक्-केलिः। अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलंकुर्वन्ति।**[6]

क्षेमेन्द्र ने औचित्य को ही काव्य का जीवित माना है—

> "**अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।**
> **औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥**"[7]

मम्मट ने "**तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।**"[8] कहकर 'अदोषौ' "सगुणौ" तथा "अनलंकृती पुनः क्वापि" इन तीन विशेषणों से युक्त शब्द तथा अर्थ की समष्टि का नाम काव्य कहा है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ रसात्मक वाक्य को ही काव्य मानते हैं।[9]

स्तुतिकुसुमांजलिकार ने सैद्धान्तिक लक्षणों तथा उनके उदाहरणों का स्पष्ट प्रतिपादन न कर अनेक स्थलों पर काव्यसिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। कवि का प्रतिपाद्य विषय वहां भी अपने आराध्यदेव का गुणगान ही है। काव्यशास्त्रीय मान्यताएं

---

१. काव्यमीमांसा, पृ० ४० २. काव्यलंकार १।१६ ३. काव्यादर्श १।१०
४. काव्यालंकार सूत्र १।१ ५. ध्वन्यालोक १।१
६. काव्यमीमांसा, पृ० १३-१४ ७. औचित्य-विचार-चर्चा ४।५
८. काव्यप्रकाश १।१ ९. साहित्य दर्पण १।२

यहां प्रत्यक्ष रूप से देखी जा सकती हैं। ये कवि के काव्यशास्त्रीय पाण्डित्य की परिचायिका हैं।

वैदर्भी रीति से युक्त, पददोष और अर्थदोष से रहित, गुणों से शोभित, छन्दों तथा रसों से युक्त और अलंकारों से भूषित वाणी ही भगवान् को प्रसन्न करने में समर्थ है।[1] इसी प्रसंग में रीति गुण का सूक्तिक्रम पंचम स्तोत्र में वर्णित है।[2]

जगद्धर के इस काव्यलक्षण से ऐसा प्रतीत होता है कि मानों दो सहस्र वर्षों से भी अधिक प्रचलित प्राचीन एवं अर्वाचीन सभी काव्यशास्त्रियों के काव्य-लक्षण का समन्वय यहां प्रस्तुत कर दिया हो। इसके अतिरिक्त अपनी मान्यता को भी बीच में संजो दिया है जो 'चारुवृत्तरुचिरा' है। काव्य के अन्य पूर्वप्रदर्शित अंगों की तरह छंद भी परमावश्क है जिसका सन्निवेश कवि ने काव्यलक्षण में करके एक नया ही सिद्धान्त स्थापित किया है।

यद्यपि संस्कृत काव्याचार्यों ने अपने काव्य-लक्षण में छन्द को प्रमुख नहीं बतलाया है। परन्तु परवर्ती कवियों ने इसे स्वीकार किया है कि अन्य काव्यांगों की तरह छन्द भी आवश्यक है।[3]

२. काव्य-प्रयोजन

'प्रयोजन' का अर्थ है, वह उद्देश्य या फल जिसकी सिद्धि के लिए काव्य की रचना की जाती है। प्रयोजन के बिना कोई भी प्राणी किसी भी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता।[4] इस न्याय को सम्मुख रखकर काव्यशास्त्रियों ने काव्य के प्रयोजनों का प्रतिपादन किया है, जिनमें यश, अर्थ, व्यवहार-ज्ञान, शिवेतरनाश, आनन्द, कान्तासंमित उपदेश प्रमुख हैं।[5] स्तुतिकुसुमांजलिकार ने इन छहों प्रकार के प्रयोजनों का संकेत करके अन्त में दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति एवं आनन्दप्राप्ति को ही काव्य का मूल

---

१. रम्यरीतिरनघा गुणोज्ज्वला, चारुवृत्तरुचिरा रसान्विता।
रंजयत्वियमलंकृता मनः स्वामिनः प्रणयिनी सरस्वती ॥ स्तु० १।३

२. ओजस्वी मधुरः प्रसादविशदः संस्कारशुद्धोऽभिधा-
भक्ति-व्यक्तिविशिष्टरीतिरुचितैरर्थैर्धृतालंकृतिः।
वृत्तस्थः परिपाकवानविरसः सद्वृत्तिरप्राकृतः
शस्यः कस्य न सत्कविर्भुवि यथा तस्येव सूक्तिक्रमः ॥ स्तु० ५।३१

३. वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि।
मंगलानां च कर्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ ॥ रामचरितमानस, बालकाण्ड १

४. प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते ॥

५. काव्यालंकार १।२, काव्यालंकार सूत्र १।१।५, वक्रोक्तिजीवित १।३-५, काव्यप्रकाश १।२, साहित्यदर्पण १।२ आदि।

प्रयोजन माना है। अतः पूर्वोक्त छह प्रयोजनों का मूल भी सुखोपलब्धि ही है। इस विषय में भक्त कवि ने पंचम स्तोत्र में मार्ग-दर्शन कराया है।[1]

कवि ने लौकिक एवं पारलौकिक दोनों ही प्रकार के प्रयोजनों का उपस्थापन किया है। कवि और सहृदय दोनों ही दुःख की निवृत्ति चाहते हैं। संसार में जीव की जितनी प्रवृत्तियां हैं, उन सबका लक्ष्य दुःख-निवृत्ति और सुखप्राप्ति है। काव्य-रचना और काव्यभावना भी इन्हीं के अन्तर्गत है। अत: उनका भी मूल उद्देश्य सुखोपलब्धि है। अतएव कवि ने इसी बात को मन में रखकर पूर्वोक्त काव्य-प्रयोजन का प्रतिपादन किया है।

३. काव्य-हेतु

दण्डी, मम्मट आदि काव्यशास्त्रियों ने शक्ति या प्रतिभा, व्युत्पत्ति या अभ्यास को सम्मिलित रूप से काव्य का हेतु माना है।[2] उनकी दृष्टि में शक्ति अर्थात् ईश्वर-दत्त प्रतिभा (शक्ति) काव्य-रचना के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण और आवश्यक तत्त्व है। 'व्युत्पत्ति' में बहुलता, विविध कलाओं, विद्याओं, काव्यशास्त्र, लोकजीवन आदि का ज्ञान भामह आदि आचार्यों ने दर्शाया है।[3] राजशेखर ने उचितानुचितविवेक को व्युत्पत्ति कहा है।[4]

प्रतिभा और व्युत्पति के सापेक्ष महत्त्व के विषय में विवाद है। आनन्दवर्धन के मतानुसार प्रतिभा अधिक श्रेयस्कर है। मंगल व्युत्पत्ति को अधिक श्रेयस्कर मानते हैं। राजशेखर की मान्यता है कि दोनों समान रूप से श्रेयस्कर हैं।[5] दण्डी का कहना है कि प्रतिभा के अभाव में व्युत्पत्ति और अभ्यास के बल पर भी काव्य-रचना सम्भव है।[6]

स्तुतिकुसुमांजलिकार तत्त्वत: प्रतिभा को ही काव्य-रचना का मूल हेतु मानते हैं। एकादश स्तोत्र में उन्होंने कहा है कि मैं अनेक प्रकार से अधम हूं, अतः प्रतिभा नहीं है। प्रतिभाहीन काव्य-निर्माण कैसे कर सकता है?[7]

---

१. इह हि महिमा मायामोहप्ररोहतिरोहित-
त्रिजगदगदंकारः सारस्वत: प्रथते सताम्।
प्रभवति जरामृत्युव्याधिप्रबन्धनिबन्धन-
व्यसनजनितव्यापत्तापक्लमापगमाय यः ।। स्तु० ५।२४
मधुस्यन्दी मन्दीकृतविपदुपाधिर्भवमरु-
भ्रमक्लेशावेशप्रशमकमनीयो विजयते ।। २६

२. काव्यादर्श १।१०३ पर प्रसादिनी टीका, काव्यप्रकाश १।३

३. भामह काव्यालंकार ५।४, काव्यप्रकाश १।३ और उस पर वृत्ति।

४. काव्यमीमांसा, पृ० ३७। ५. काव्यमीमांसा, पृ० ३९। ६. काव्यादर्श १।१०४-५

७. मुक्तस्य मे प्रतिभयातिभयाकुलस्य,
वाणी कथं विगलतो गलतोऽभ्युदेति ।। स्तु० ११।८

४. काव्य की आत्मा

यहां पर 'आत्मा' शब्द का लाक्षणिक अर्थ है सारभूत तत्त्व, आवश्यक विशेषता अर्थात् काव्य का व्यावर्तक धर्म, जिसके बिना काव्य काव्य नहीं रह जाता। काव्य की आत्मा के विषय में संस्कृत काव्याचार्य एकमत नहीं हैं। वामन रीति को[१], क्षेमेन्द्र वक्रोक्ति को[२], आनन्दवर्धन ध्वनि को[३], विश्वनाथ रस को[४] काव्य का सारभूत तत्त्व मानते हैं। परन्तु भक्त कवि जगद्धर भट्ट रसवादी है। इसने काव्य के सर्वतोमुख सौन्दर्य के लिए परम्पराप्रसिद्ध काव्यांगों की आवश्यकता स्वीकार की है।[५] परन्तु इन सब काव्यांगों में रस का स्थान सर्वोपरि माना है। जगद्धर की दृष्टि में रस काव्य का सुन्दरतम धर्म है। काव्य रसान्वित होना चाहिए। इससे ध्वनित है कि रस काव्य का सर्वप्रधान तत्त्व है, यह काव्यात्मा है। परन्तु जगद्धर भट्ट के संबन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि वे जिस रस को काव्य की आत्मा मानते हैं, वह भक्ति रस है, श्रृंगार आदि रस नहीं। जैसे कि २४ वें स्तोत्र में कहा है—"हे देव महा-अमृत से भी मनोहर आपका भक्तिरस श्रेष्ठ है।"[६] यहां "जयति" पद सर्वातिशायी का पर्याय है।

५. स्तुतिकुसुमांजलि में रस

काव्य चमत्कार-प्रधान होता है, चमत्कार (निरतिशय आल्हाद) का नाम ही रस है। काव्य का मुख्य लक्ष्य आनन्द की उपलब्धि है। इस कारण रस को काव्य की आत्मा कहा गया है।

सचमुच रस को तो परमात्मस्वरूप ही कहा गया है, जिस को उपलब्ध करके परमानन्द की प्राप्ति होती है।[७]

स्तुतिकुसुमांजलिकार ने अपने विविध स्तोत्रों में सभी रसों के समावेश का सफल प्रयास किया है। यद्यपि मुख्य रूप से करुण एवं भक्ति रस का ही आधिक्य है, परन्तु सामान्य रूप से प्रकरणवश श्रृंगार आदि रसों के भी सुन्दर उदाहरण उपलब्ध हैं।

---

१. रीतिरात्मा काव्यस्य। काव्यालंकार १।२।६, वामन
२. वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्। वक्रोक्तिजीवित
३. काव्यस्यात्मा ध्वनिः। ध्वन्यालोक १।१
४. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। सा० द० १।३
५. रम्यरीतिरनघा गुणोज्वला, चारुवृत्तरुचिरा रसान्विता।
रञ्जयत्वियमलंकृता मनः स्वामिनः प्रणयिनी सरस्वती ॥ स्तु० १।३
६. भक्तिरसस्तव देव सतां जयति महामृतहृद्यः। स्तु० २४।४
७. रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। तैत्तिरीयोपनिषद् २।७

६. स्तुतिकुसुमांजलि का अंगी रस भक्तिरस

स्तुतिकुसुमांजलि में ग्यारह रसों (भक्ति, शान्त, वीर, शृंगार, वत्सल, हास्य, करुण, रौद्र, भयानक, बीभत्स, और अद्भुत) की समग्र सामग्री सुचारु रूप से निबद्ध है। रसाभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त विभाव-अनुभावों की सशक्त योजना प्रायः सर्वत्र की गई है। जगद्धर भट्ट भक्त-कवि थे। अतएव भक्ति से इतर रसों का निरूपण उन्होंने प्रसंगानुसार ही यत्र-तत्र किया है। उनका काव्य भक्तिरस से आप्लावित तथा इस क्षेत्र में अद्वितीय है। स्तुतिकुसुमांजलि में अंगी रस के रूप में भक्तिरस का सशक्त निबंध किया गया है। जगद्धर भट्ट ने स्वयं इसका उल्लेख किया है कि इस स्तोत्र-ग्रन्थ का अंगी रस भक्ति ही है—**भक्ति रसस्तव देव सतां जयति** (स्तु० २४।४)। यहां "जयति" पद "**सर्वोत्कर्षेण वर्तते**" का वाचक है। अतः भक्तिरस कवि की दृष्टि में प्रकृत ग्रन्थ में सर्वोत्कर्षशाली अर्थात् अंगी रस है।

(क) रस-परम्परा एवं भक्तिरस

उपलब्ध लक्षणग्रन्थों के अवलोकन से भरतमुनि ही ऐसे आदि आचार्य ठहरते हैं, जिन्होंने नाट्यरसों की मीमांसा का आरंभ किया। भरतमुनि रस-सामग्री के रूप में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव तीन मूलभूत तत्त्वों को स्वीकार करते हैं।[१] इनकी मान्यता है कि ये ही तीनों भाव सहृदय प्रेक्षकों के मन में वासना रूप से विद्यमान रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा एवं विस्मय आदि स्थायी भावों को उद्बुद्ध करके उन्हें आस्वाद-योग्य बनाते हैं। इन आठ स्थायी भावों के अनुसार क्रमशः आठ[२] ही रस होते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार भरत के मत में ही रस नौ थे— शांत नवम रस था।[३] आचार्य मम्मट ने इसी मान्यता को मुखर करते हुए शांत को रस मान कर यह यह संख्या नौ बताई।[४] तत्पश्चात् आचार्य विश्वनाथ ने इनमें वात्सल्य को भी सम्मिलित कर रसों की संख्या दस कर दी।[५] भक्ति को स्पष्ट रूप से रस नहीं माना गया। आलंकारिकों की भक्तिरस के संबंध में निम्नलिखित मान्यता रही है—दण्डी ने "भक्ति" को प्रियतर अनुभूति के रूप में स्वीकार करते हुए इसे "प्रेयः" अलंकार की संज्ञा दी है।[६] दण्डी के इस "प्रेयः" को रुद्रट ने व्यापक बनाने

---

१. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। ना० शा० ६।३१

२. शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥ ना०शा० ६।१५

३. अभिनवभारती, छठे अध्याय का अन्त; काव्यादर्शप्रसादिनी २।२७८।

४. निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शांतोऽपि नवमो रसः। काव्य प्र० ४।४७

५. स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः। सा० द०, पृ० १२५

६. प्रयः प्रियतराख्यानम्। काव्यादर्श, २।२७३

का यत्न किया है। इन्होंने "प्रेयस्" को एक अतिरिक्त रस के रूप में स्वीकार किया है। रुद्रट ने विशेषता यह की है कि इसके स्थायी को "प्रीति के स्थान पर "स्नेह" के व्यापक रूप में लिया और उसमें सभी दाम्पत्येतर रति-रूपों की सम्भावनाओं का अवकाश छोड़ा। वैसे उन्होंने अपने प्रेयान् का जो निरूपण किया है, उसमें दो सुहृदों के बीच का निर्व्याज स्नेह ही परिगणित किया गया है।[१] अभिनवगुप्त ने भक्ति या श्रद्धा को एक पृथक् रस के रूप में स्वीकार नहीं किया, अपितु शांत रस के संचारियों में अन्तर्भूत करके दिखाया है।[२] अभिनव के उक्त वचन शांत रस के प्रकरण में आये हैं और भक्ति को शांत का अंग प्रतिपादित करते हैं। मम्मट भी भक्ति को "रस" न मानते हुए कहते हैं कि भक्ति ही क्यों, भक्ति को सम्मिलित करते हुए समस्त दाम्पत्येतर रति-रूप "भाव-ध्वनि" हैं।[३] विश्वनाथ ने इसी मान्यता का अनुमोदन किया।[४] पण्डितराज जगन्नाथ भक्तिरस को हृदय से मानने पर भी, परम्परा के मोह में उसे स्वीकार न कर सके। उन्होंने भक्ति को रस सिद्ध करने के लिए जो भी कहना अपेक्षित था, वह सब कहा,[५] परन्तु अन्त में उसे सिद्धान्ततः भाव-रूप ही स्वीकार किया[६]। पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आलंकारिकों ने प्रत्यक्ष रूप से भक्तिरस को अन्य रसों के समान रस रूप में स्वीकार नहीं किया, भले ही वे इसकी निरतिशय आनन्ददायिता से सहमत रहे हों। इस प्रसंग में एक बात ध्यान देने योग्य

---

१. स्नेहप्रकृतिः प्रेयान् संगतशीलार्यनायको भवति।
स्नेहस्तु साहचर्यात् प्रकृतेरुपचारसम्बन्धात्॥
निर्व्याजमनोवृत्तिः सनर्मसद्भावपेशलालापाः।
अन्योऽन्यं प्रति सुहृदोर्व्यवहारोऽयं मतो यत्र॥ काव्यालंकार १७।९

२. अत एवेश्वरप्रणिधानविषये भक्तिश्रद्धे स्मृति-मति-धृत्युत्साहाद्येनु प्रविष्टेऽन्यथे-वाङ्गमिति न तयोः पृथग्रसत्वेन गणनम्। अभिनवभारती, भा०। पृ० ३४

३. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथांजितः। भावः प्रोक्तः। "आदि"-शब्दान्मुनि-गुरुनृपपुत्रादिविषया। कान्ताविषया तु व्यक्ता शृंगारः॥ काव्यप्रकाश ४।३५

४. सा० द० ३।२३५

५. अथ कथमेत एव रसाः; भगवदालम्बनस्य रोमांचाश्रुपातादिभिरनुभावितस्य, हर्षादिभिः परिपोषितस्य, भागवतादिपुराणश्रवणसमये भगवद्भक्तेरनुभूयमानस्य भक्तिरसस्य दुपरहृतत्वात्? भगवदनुरागरूपा भक्तिश्चात्र स्थायिभावः। न चासौ शांतरसेऽन्तर्भावमर्हति। अनुरागस्य वैराग्यविरुद्धत्वात्। रसगंगाधर, पृ० ४५

६. भक्तेर्देवादिविषयरतित्वेन भावान्तर्गतया रसत्वानुपपत्तेः। रसगंगाधर, पृ० ४५

है कि विश्वनाथ ने रति के एक भेद पुत्रादिगत स्नेह को स्पष्ट रूप से चमत्कारक होने के कारण तो वत्सलरस के रूप में मान लिया, किंतु रति के ही देवादिगत भेद को स्पष्ट रूप से चमत्कारक होते हुए भी वे तथा पण्डितराज आदि अन्य आचार्य इसे भक्तिरस नहीं मानते। यह इन लोगों का परम्परा के प्रति एक दुराग्रह ही तो है !

भक्ति के आचार्यों ने इसे न केवल रस के रूप में ही प्रतिष्ठित किया, बल्कि इसे रसराज स्वीकार किया। इस प्रकार भक्ति को रसराज मानने वाले विद्वानों ने भक्तिरस को शास्त्रीय रूप दिया। जिनमें मधुसूदन सरस्वती, रूप गोस्वामी तथा जीव गोस्वामी प्रमुख हैं। जगद्धर भट्ट ने इन आचार्यों से पूर्व ही भक्ति को रस रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए ही मानो स्तुतिकुसुमांजलि ग्रन्थ की रचना की।

भरत के सूत्र[१] की विभिन्न प्रकार से व्याख्या करते हुए आचार्यों ने विभावों, अनुभावों और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस-निष्पत्ति मानी है। भक्ति-आचार्यों ने कृष्णरति को भक्तिरस का स्थायी भाव माना है।[२] कृष्णरति को ही भक्तिरस का स्थायीभाव मानने का कारण इन आचार्यों का वैष्णव होना ही प्रतीत होता है। वस्तुतः कृष्ण उपास्य देव के उपलक्षक हैं। अतः देवगुरु आदि उपास्यविषयक रति ही विभावानुभावव्यभिचारियों के द्वारा अभिव्यक्त होने पर भक्तिरस के रूप में अभिप्रेत है।

रति आदि स्थायीभाव के आस्वादन के कारण को "विभाव" कहते हैं।[३] चित्त में स्थित स्थायी भावों के बोधक को "अनुभाव" कहते हैं।[४] वाचिक, आंगिक और सात्त्विक रूप जो ३३ भाव हैं,[५] वे "व्यभिचारी भाव" कहलाते हैं।

इन विशेषताओं को ध्यान में रखकर भक्तिरस का स्वरूप संक्षेप में यों रख सकते हैं—

भक्त के निर्मल हृदय में श्रवणादि की सहायता से शुद्धसत्त्व-विशेषरूपा देव-विषयक रति का अविर्भाव होता है, जिसमें रति के संविदात्मक प्रकाशक-स्वरूप के कारण कृष्णादि विभावादि का प्रकाशन होता है। अनुभवपथ में आये हुए ये विभावादि प्रमाता की रति को और प्रौढ बनाते हैं, और वह रति चरम आस्वाद्य कोटि (रस अवस्था) को पहुंच जाती है। भक्तों के हृदय में यही रस्यता की कोटि में आयी हुई देवरति, जो शुद्धसत्त्वविशेषा होने के कारण स्वतः आनन्दात्मक है, रस है।[६]

---

१. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। ना० शा० ६।३१

२. स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः।
एषा कृष्णरतिः स्थायी भावो भक्तिरसो भवेत्॥ भक्तिरसामृत सिन्धु, पृ० ११५

३. तत्र ज्ञेया विभावास्तु रस्यास्वादनहेतवः। भक्तिरसामृतसिन्धु पृ० ११७

४. वही, पृ० १९९ ५. वही, पृ० २२२-३ ६. हिन्दी वैष्णव साहित्य, पृ० १९६

रूपगोस्वामी ने भक्तिरसामृतसिन्धु में बड़े विस्तार के साथ भक्तिरस का सर्वांगीण विवेचन किया है। उसमें उन्होंने भक्तिरस को ही एक रस मानकर उसके ग्यारह (शान्त, प्रीति, प्रेय, वत्सल, मधुर, अद्‌भुत, हास्य वीर, करुण, रौद्र, भयानक) भेद माने हैं। इनमें से प्रायः सभी के उदाहरण स्तुतिकुसुमांजलि में उपलब्ध हैं।

(क) शान्त भक्ति रस

विभाव आदि के द्वारा शान्तिरूप स्थायीभाव शमवानों के आस्वाद का विषय होकर, शान्तभक्तिरस नाम से कहलाता है।[1] स्तुतिकुसुमांजलि में एक स्थल पर इसका सुन्दर प्रस्तुतीकरण हुआ है—

सन्तः स्मरन्ति शशिखण्डशिखण्डसेवाहेवाकिनः सुरसरित्पुलिनस्थलेषु।
लक्ष्मीलवोल्लसदमन्दमदावलेपभूपालवालिशविलंघनविप्लवानाम् ॥ ७।३८

इस पद्य में कवि का भाव है कि भगवान् शिव के उपासक सज्जन लोग गंगा-तट के एकान्त स्थान में बैठकर थोड़े से ऐश्वर्य के अहंकार से कलुषित मन वाले राजाओं के द्वारा किये गये नानाविध अपमानों को याद करते हैं। अर्थात् धनांधों के पास कभी नहीं जाना चाहिए। भगवान् शिव की आराधना में ही सुख है। वे इस प्रकार के विचारों से अपने मन में वैराग्य को आश्रय देते हैं।

यहां भगवती भागीरथी का एकान्त स्थान आलम्बन है, भगवान् शिव की सेवा का व्यसन उद्दीपन है, धनगर्वित राजाओं द्वारा किये गये अपमान का स्मरण अनुभाव है। इस प्रकार विभाव आदि से परिपुष्ट "निर्वेद" नामक स्थायी भाव शान्तरस के रूप में परिणत होता है।

(ख) प्रीति भक्तिरस

अपने अनुकूल विभाव आदि के द्वारा भावुक भक्तों के हृदय में उत्पन्न हुई प्रीति सहृदय के आस्वादन के योग्य होकर प्रीति-भक्ति रस के रूप में व्यक्त होती है।[2] भगवान् रति का तथा उनके भक्त प्रीति का आलम्बन हैं।[3]

भगवान् के प्रेम में विह्वल होकर भक्त अपनी भगवत्कृपा-प्राप्त प्रीति को भगवान् के प्रति अपने राग का अंग बनाकर प्रकट करता है। स्तुतिकुसुमांजलि में उपलब्ध इस प्रकार के स्थल प्रीतिभक्ति-रस के उदाहरण हैं। यथा—

गद्‌गदोद्‌गतगिरश्चिरस्थिरप्रेमहेमनिकषोपलोपमम् ।
शंसतः शिव-शिवेति शाम्भवं नाम कामपि दशां प्रशास्ति मे ॥ स्तु० १४।१४

---

१. वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः शमिनां स्वाद्यतां गतः।
स्थायी शान्तिरतिर्धीरैः शान्तभक्तिरसः स्मृतः॥ भक्तिरसामृतसिन्धु, पृ० ३१८

२. आत्मोचितैर्विभावाद्यैः प्रीतिरास्वादनीयताम्।
नीता चेतसि भक्तानां प्रीति भक्तिरसो भवेत्॥ भक्तिरसामृतसिन्धु, पृ० ३२८

३. हरिश्च तस्य दासाश्च ज्ञेया आलम्बना इह॥ वही, पृ० ३२८

जगद्धर कहता है—अत्यन्त गद्गद वाणी से प्रभु का स्तवन करने वाले मेरे शिवभक्तिविषयक प्रेमरूपी सुवर्ण के लिए कसौटी के समान शंभु का शिव शिव यह नाम मेरी दशा को विलक्षण परमानन्दरूप अमृत से आप्लावित कर देता है।

यहां प्रीति का आलम्बन भक्त है। वाणी की गद्गदता उसका अनुभाव है। यह प्रीति स्थायिभाव रस्यता की कोटि को पहुंचकर प्रबन्ध के भक्तिरस की ही पुष्टि कर रहा है, जो भक्तिरस यहां नामस्मरण की क्रिया से अनुभावित हो रहा है, तथा जिस के आलम्बन शंभु हैं।

(ग) प्रेयो भक्ति रस

सख्य रूप स्थायिभाव अपने अनुरूप विभवादि के द्वारा सहृदयों के चित्त में पुष्टि को प्राप्त होकर "प्रेयोभक्तिरस" कहलाता है।[1]

जगद्धर ने अपने को शिव के संमुख अत्यन्त विनीत भाव से प्रस्तुत किया है। आराध्य के सखा के रूप में नहीं। अतः भक्तिरस के इस भेद की प्राप्ति स्तुतिकुसुमांजलि की मूल भावना के विपरीत होने से अलभ्य ही है, तथापि कुछ स्थलों में कवि ने भगवान् को उसी प्रकार उपालम्भ देकर अपने ऊपर कृपा करने की प्रार्थना की है, जिस प्रकार कोई मित्र अपने मित्र को उपालम्भ देकर अपनी बात मनवाने पर जोर देता है। उदाहरण प्रस्तुत है—

स्वे धाम्नि मे हृदि कृतस्थितिमुक्तिदेवीं कृत्वा प्रवेशमनयः स्वयमुन्मुखत्वम्।
धाराधिरूढविरहव्यथितामिदानीमाधाय धैर्यमवधारयसीत्ययुक्तम्॥ स्तु० ११।१६

कवि कहता है—हे शिव, मेरी वाणी अपने घर मेरे हृदय में निवास करती थी, किन्तु तुम ने वहां घुसकर उसे अपनी तरफ उन्मुख कर लिया। प्रथम तो यही अनुचित किया और फिर यह और भी अनुचित किया कि जब वह तुम्हारे प्रेम की धार में बह कर व्याकुल हो उठी तब उसे आश्वासन देकर तुम उसकी अपेक्षा कर रहे हो, यह तुम बहुत अनुचित कर रहे हो।

कुछ[2] उद्धरणों में कवि ने शिव को ठीक उसी भाव से उलाहना देकर सम्बोधित किया है जैसे कोई वयस्य अपने सखा को उसके किसी अनुचित कार्य करने पर तानों की झड़ी लगा देता है।

(घ) वत्सल भक्ति रस

विभावादि के द्वारा परिपुष्ट होकर वात्सल्य स्थायिभाव वत्सलभक्ति रस के

---

१. स्थायी भावो विभावाद्यैः सख्यमात्मोचितैरिह।
नीतश्चित्ते सतीं पुष्टिं रसः प्रेयानुदीर्यते॥ भक्तिरसामृतसिंधु, पृ० ३६५

२. स्तु० ११।१७-१८

रूप में परिणत होता है।[1] भगवान् को और गुरुजनों को इसका आलम्बन कहा जाता है।[2] उदाहरण—

धन्योऽस्मि सम्यगमृतं किमपि स्रवन्ती संजीवनं भगवती विदधाति यस्य।
स्नेह-स्नुतस्तनयुगा जननीव जीवरक्षार्थमार्तिविधुरस्य ममोक्तिदेवी॥ स्तु० ११।१

कवि जगद्धर वाग् देवी को अपनी जननी के रूप में कल्पित कर के अपने प्रति उसके स्नेह का वर्णन करते हैं— "जैसे पुत्रवत्सला जननी अपने बालक को प्राणरक्षा के लिए स्नेह के मारे स्तनयुगल से दिव्य अमृत दूध को टपकाने लगती है, उसी प्रकार यह मेरी उक्तिदेवी भी मुझ भवबाधापीडित शिशु के प्राण बचाने के लिए अनिर्वचनीय स्तुति-अमृत मेरे मुख में टपका रही है।"

यहां कवि ने वाग्देवी-गत स्नेह का आलम्बन स्वयं को बताया है, स्नेहस्नुतस्तनयुगत्व अनुभाव है, उनकी व्याकुलता तथा धन्यता संचारी हैं। वाग् देवी भगवद्-विषयक होकर भक्त को संजीवित करती है। अतः यहां मुख्यता भक्ति की ही है, इसलिए यहां वत्सलभक्ति रस है।

(ङ) मधुर भक्ति रस

अपने अनुरूप विभावादि के द्वारा सहृदयों के हृदय में पुष्टि को प्राप्त मधुरा रति को "मधुरभक्तिरस" कहा जाता है।[3] यद्यपि इस रस का पूर्ण विकास वैष्णव ग्रन्थों में ही हुआ है, तथापि जगद्धर के काव्य में भी इसके सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। एक मधुर भाव की सृष्टि करते हुए कवि ने नौ श्लोकों के गर्भकुलक से शिव के प्रति अपनी रति व्यक्त की है—शिव की प्राप्ति के लिए तप करती हुई पार्वती एक दिन अपनी सखी को अपना रात्रिवृत्तान्त बताते हुए कहती है कि सखि, अपने हृदयेश्वर के बारे में सोचते-सोचते मुझे निद्रा ही नहीं आयी और सारी रात एक कल्पकाल के समान लम्बी लगी। प्रभातवेला में कहीं निद्रा आयी, और उसने प्रिय सखी के समान मेरा उपकार कर स्वप्न में मुझे प्राणेश्वर से मिला दिया। प्रियतम ने प्यार भरी मीठी दृष्टि से मुझे देखा और अपने प्रिय मधुर वचनों से मुझे आश्वस्त करते हुए मेरा तप-खेद मिटाया। मैं लज्जा परवश हुई धरती को ही ताकती रही और पसीना-पसीना हो गयी। तब प्रियतम ने मेरे लज्जावनत मुख को कुछ उठाते हुए उस पर अमृत की वर्षा करना चाहा ही था कि दुष्ट विधाता ने कुक्कुटों के नाद से यह मधुर प्रसंग, ऐसा भग्न कर दिया कि या तो अब प्रियतम ही अपनी कृपा करके मेरे प्राण बचा सकते हैं, अथवा यमराज ही मेरी शरण होगा—

---

१. भक्तिरसामृतसिंधु, पृ० ३९४ २. वही, पृ० ३९४
३. वही, पृ० ४१२

यावत् त्रपापरवशं क्षितिमीक्षमाणं मुक्ताफलोपमसमुद्गतघर्मलेशम् ।
किंचित् करेण मुखमुन्नमयन्निमेष पीयूषवर्षमिव वर्षितुमेष भूयः ।।
तावत्प्रबोधितवता कृकवाकुनादैर्दुर्वेधसा सखि तदाचरितं शठेन ।
यत्रैष एव शरणं मम जीवितेशो यद्वा परो हरति योऽखिलजन्तुवर्गम् ।।[1]

प्रकृत श्लोकों में कवि ने पार्वती की शिवगत रति को स्वप्न के माधुर्यपूर्ण वृत्तान्त के द्वारा स्वप्नगत संभोग श्रृंगार के रूप में चित्रित किया है । किन्तु यह श्रृंगार-वर्णन स्वतन्त्र विच्छित्ति से युक्त न होकर कवि के शिवानुराग की अभिव्यक्ति के अंग के रूप में प्रतिपादित हुआ है । अतः यह स्थल मधुरा भक्ति का सुन्दर उदाहरण है ।

शिव एवं पार्वती में स्थित मधुर भाव का आलम्बन परस्पर शिव एवं पार्वती हैं । वर्णनकर्त्री मुग्धा बाला नायिका के कारण इस में कोमलता और मधुरता और भी अधिक आ गयी है । क्षिति-ईक्षण, मनःप्रसाद आदि अनुभाव हैं । अनिद्रा, खेद, लज्जा तथा शाप आदि संचारी भाव हैं । रात्रि, स्वप्न, कर से मुख का उन्नमन आदि उद्दीपन विभाव हैं । इस प्रकार यहां मधुरा रति विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों के द्वारा व्यक्त होकर सहृदयों को आस्वादमग्न करने में पूर्णतः समर्थ है ।

(च) अद्भुत भक्ति रस

अपने अनुरूप विभावादि के द्वारा भक्त के चित्त में आस्वाद्यता को प्राप्त होकर विस्मयरति अद्भुत भक्ति रस होता है ।[2]

उदाहरणार्थ एक पद्य प्रस्तुत है—

दुग्धाब्धिदोऽपि पयसः पृषतं वृणोषि दीपं त्रिधामनयनोऽप्युररीकरोषि ।
वाचां प्रसूतिरपि मुग्धवचः शृणोषि किं किं करोषि न विनीतजनानुरोधात् ।।

स्तु० ११।१४

भक्त-कवि कहता है कि विस्मय की बात है, जो दूध का समुद्र देने वाला हो कर भी, दूध का एक बिन्दु ग्रहण करता है । सूर्य आदि को प्रकाशित करने वाला दीपक को स्वीकार करता है । वाणी का जन्मदाता भी साधारण वचन सुनता है ।

यहां भगवान् शिव इस रस के आलम्बन तथा उनकी विलक्षण प्रकार की चेष्टा उद्दीपन विभाव है ।

इस स्थल पर स्तुतिकुसुमांजलि में अद्भुत भक्तिरस का सुन्दर परिपाक हुआ

---

१. स्तु० २०।२३-४
२. आत्मोचितैर्विभावाद्यैः स्वाद्यत्वं भक्तचेतसि ।
सा विस्मयरतिर्नीताऽद्भुतभक्तिरसो भवेत् ।। भक्तिरसामृतसिंधु, पृ० ४२८

है। जब भक्त अपने भगवान् के लोकोत्तर कार्यों को देखकर अथवा उनका स्मरण करके अद्भुत भक्ति रस में निमग्न हो जाता है।

७. स्तुतिकुसुमांजलि में अन्य रसों की स्थिति

साहित्याचार्यों द्वारा स्वीकृत समस्त रसों के उदाहरण स्तुतिकुसुमांजलि में यथाप्रसंग उपलब्ध हैं, जिनमें से कुछ यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

(क) शृंगार

जीवन में रति या प्रेम नामक भाव का सर्वाधिक प्रभाव देखा जाता है। यद्यपि स्तुतिकुसुमांजलि एक स्तोत्रकाव्य है, तथापि इसमें भी प्रसंगवश शृंगार के सुन्दरतम उदाहरण मिलते हैं। कामदेव के अंकुरित होने को "शृंग" कहते हैं, उसकी उत्पत्ति का कारण, अधिकांश उत्तम प्रकृति से युक्त रस "शृंगार" कहलाता है।[1] आलंकारिकों ने इसके दो भाग किये हैं, सम्भोग एवं विप्रलम्भ।[2]

सम्भोग—प्रेमी-प्रेमिका के परस्पर दर्शन, आलिंगन, अधरपान आदि को सम्भोग-शृंगार कहा जाता है। यद्यपि यह अनेक प्रकार का है, तथापि "सम्भोग" नाम से ही अभिहित हैं।[3] स्तुतिकुसुमांजलि में हमें उसके स्पष्ट दर्शन होते हैं।

जगद्धर भट्ट ने शिव और पार्वती के प्रेम-व्यवहार के वर्णन में जिस मर्यादित एवं सात्त्विक शृंगार रस की योजना की है, उसे दृष्टि में रखते हुए इन पूज्य पात्रों के लिए यद्यपि "संभोग" शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता, तथापि इसमें ऐन्द्रियिक एवं स्थूलपक्ष का सर्वथा अभाव नहीं है। कवि ने इनके व्यवहार में इस पक्ष को अत्यन्त सूक्ष्म रूप से दर्शाया है। उदाहरण देखिये—

पुष्णातु वः प्रथमसंगमभीरुगौरीविस्रम्भणप्रणयभंगभयाकुलस्य।
तत्कालकार्यकरदर्पकदेहदाहजातानुतापमुरगाभरणस्य चेतः॥ स्तु० ३।४०

यहां कवि कहता है कि नवोढा होने के कारण प्रथम संगम में भीत हुई पार्वती के विश्वास के लिए की हुई प्रार्थना के भंग होने के डर से व्याकुल हुए जिन (शंकर) के चित्त में उस समय (प्रथम संगम अवसर पर) परस्पर अत्यन्त प्रेम उत्पन्न करने वाले कामदेव का शरीर नष्ट कर देने के कारण मन में पश्चात्ताप हुआ। शिव का वह चित्त आपको शिवभक्ति रूप अमृत पिलाकर खूब परिपुष्ट करे।

---

१. शृंगं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः।
उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृंगार इष्यते॥ सा०द० ३।१८३

२. तस्य द्वे अधिष्ठाने सम्भोगो विप्रलम्भश्च। ना०शा० ६।५४

३. तत्राद्यः परस्परावलोकनालिंगनाधरपानपरिचुम्बनाद्यनन्तत्वादपरिच्छेद्य एक एव गम्यते॥ काव्यप्रकाश, वृत्ति ४।४४

यहां विवाहानन्तर प्रथम मिलन का अवसर उद्दीपन विभाव है, गौरी आलम्बन विभाव है। प्रथम संगम के अवसर पर गौरी का स्वाभाविक भय तथा शिव की पार्वती के विश्वास और प्रणय के भंग की आशंका से व्याकुलता व्यभिचारी भाव हैं। इस स्थिति में पुराकाल में किए कामदेवदहन पर पश्चात्ताप उन के अनुराग को उद्दीप्त कर रहा है, क्योंकि यदि कामदेव को भस्म नहीं किया होता, तो वह पार्वती के मन को उनके प्रेम में गाढाकुल करके उनके काम आता। इस प्रकार शिव और पार्वती का पारस्परिक रतिभाव आलंबन, उद्दीपन और व्यभिचारी भावों के वर्णन से व्यक्त किया गया है। अतः यहां शिव-पार्वतीगत संभोग शृंगार परिपुष्ट रूप में प्रस्तुत हुआ है।

कवि ने एक स्थल पर शिव और शिवा के मिलन का चित्र प्रस्तुत किया है, जो संस्कृतसाहित्य में दुर्लभ-प्राय है—

शाणोल्लीढनवेन्द्रनीलमहसि श्रीकण्ठकण्ठस्थले
संसक्ता कनकच्छविर्गिरिसुतादोःकन्दली पातु वः।
यामालोक्य सनीरनीरदलश्लिष्यत्तडिद्विभ्रम-
भ्रान्त्या नोज्झति चण्डताण्डवनवोल्लेखं शिखी षाण्मुखः।। स्तु० ३।५९

कवि कहता है कि शिव के गले में लिपटी हुई पार्वती जी की भुजलता ऐसी प्रतीत होती है, जैसे सजल मेघ के खण्ड पर लिपटी विद्युत् हो। इस पद्य में शिव एवं शिवा का आलिंगन संभोग शृंगार का प्रत्यक्ष निदर्शन है।

इसी प्रकार के सुन्दरतम अनेक स्थल स्तुतिकुसुमांजलि से प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जहां संभोग शृंगार का सुन्दर प्रस्तुतीकरण हुआ है।[1] यह ध्यातव्य है कि "काव्य-शास्त्र" में संभोग शृंगार का अभिप्राय केवल ऐन्द्रियिक संयोग से नहीं हैं। आचार्य भरत ने नायक-नायिका के संगीत श्रवण एवं वनादि में विहार आदि को भी उसमें सम्मिलित किया है।[2] इस प्रकार के शृंगार के भी अनेक निदर्शन स्तुतिकुसुमांजलि में उपलब्ध हैं।[3]

विप्रलंभ—नायक-नायिका में परस्पर प्रेम उत्पन्न होने पर, मिलन न हो उसे विप्रलंभ माना जाता है, जो अभिलाषा, विरह, ईर्ष्या, प्रवास और शाप, इन निमित्तभेदों

---

१. स्तु० ६।३, ३३।१९-२०, १८।१७ इत्यादि

२. तत्र संभोगस्तावद् ऋतुमाल्यानुलेपनालंकारेष्टजनविषयवरभवनोप भोगोपवनगमनानुभवन श्रवणदर्शनक्रीडालीलादिभिर्विभावैः...। ना० शा० अध्याय ६, पृ० ३०३

३. स्तु० १०।२, १२, १५, ७८, ८६-९१

से पांच प्रकार का हुआ करता है।[१] विश्वनाथ ने इसे दृष्टिभेद से चार प्रकार का माना है।[२]

अभिलाष-निमित्तक विप्रलम्भ

इसका एक उदाहरण प्रस्तुत है—

करकलितकपोला बालशैवालशय्यातललुलितमृणालीपेलवम्लानमूर्तिः ।
चिरविरहविनिद्रा रुद्रदृक्पातपात्रं दिशि-दिशि निशि पश्यत्यंगनानंगभीरुः ॥

स्तु० १८।५

इस पद्य में वियोग से व्याकुल होने के कारण कपोल पर हाथ रखी हुई नारी का वर्णन है। नारी का कोमल शरीर म्लान हो गया है। वह शिवकृपापात्र भक्त से मिलने की इच्छा से उसका मार्ग देख रही है।

यहां "शिवभक्त" को प्राप्त करने की अभिलाषा में "किसी नारी" के हृदय की रति सहृदय सामाजिक के हृदय को विप्रलम्भ शृंगार से सराबोर कर रही है।

विरहनिमित्त विप्रलम्भ

उदाहरण द्रष्टव्य है—

ध्यायन्त्यनन्यहृदया हृदयाधिनाथमद्य क्षपामगमयं सखि कल्पकल्पाम् ।
प्राणेशसंगमनिमित्तमथ प्रभाते निद्रा सखीव मम सम्मुखमाजगाम ॥ स्तु० २०।१६

यहां पार्वती शिव के विरह में अतीव व्याकुलचित्त होकर अपनी सखी से स्वप्न का वृत्तान्त कह रही है। अनन्य भाव से शिव का स्मरण करते हुए कल्प-समान सारी रात्रि बीत गई। यहाँ विरहिणी का रति भाव विप्रलम्भ शृंगार के रूप में परिणत है। यह सहृदय सामाजिक को भी आनन्दित कर रहा है।

(ख) करुण

प्रिय के नाश और अप्रिय की प्राप्ति से करुण रस का अविर्भाव होता है। इसमें स्थायी भाव शोक होता है और विनष्ट प्रियजन आदि शोचनीय व्यक्ति आलम्बन विभाव होते हैं तथा उनका दाहकर्म आदि उद्दीपन विभाव होता है। प्रारब्ध की निन्दा, भूमिपतन आदि अनुभाव होते हैं एवं निर्वेद, मोह, अपस्मार आदि व्यभिचारी हैं।[३]

---

१. अपरस्त्वभिलाष-विरहेर्ष्या-प्रवास-शापहेतुक इति पञ्चविधः। काव्यप्रकाश, वृत्ति ४।४४

२. यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ।
स च पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मकश्चतुर्धा स्यात् ॥ सा० द० ३।१८७

३. इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत् ।
शोकोऽत्र स्थायिभावः स्याच्छोच्यमालम्बनं मतम् ॥
तस्य दाहादिकावस्था भवेदुद्दीपनं पुनः ॥ सा० द० ३।२२२-२२५

वाल्मीकिरामायण में कहा है, "मुनि वाल्मीकि का शोक रूप स्थायी भाव ही क्रौंच द्वन्द्व की घटना के कारण करुण रस में परिणत हुआ, जिसका फल वाल्मीकिरामायण है।"[1] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस महाकाव्य की रचना का आधार कवि की करुण रस से परिपूर्ण मानसिक चित्तवृत्ति थी, जिसे क्रौंचवध की घटना ने उद्वेल्लित किया था। इस घटना का उल्लेख महाकवि कालिदास ने अपने "रघुवंश"[2] में तथा भवभूति ने "उत्तररामचरित"[3] में किया है।

महाकवि भवभूति ने करुण रस को ही अन्य रसों का मूल माना है।[4]

विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि भक्तिमयी स्तुतियों का प्राण करुण ही है। संसार में नानाविध शोक से व्याकुल भक्त-हृदय अपनी भावनाओं को प्रकट करता है। उन भावनाओं के द्वारा भगवान् को द्रवित कर के भगवान् की दया की प्रार्थना करता है। ऐसे प्रसंगों में करुणा का प्रवाहित हो उठना स्वाभाविक ही है। और ऐसे स्थलों में पाठक को करुणरस की अनुभूति आप्लावित किये बिना नहीं रहती। एक सन्दर्भ में भक्तकवि जगद्धर करुणरस का नाम से निर्देश कर इस बात की पुष्टि करता है—उदार करुणा रूपी अमृत के प्रवाह से आर्द्र-चित्त एवं शरण में आये हुए मनुष्यों को मल्लाह की तरह शंकर भगवान् विपत्ति रूपी समुद्र से पार कर देते हैं।[5]

करुण रस की अभिव्यक्ति के स्थल

प्रस्तुत प्रबन्ध में अनेक स्थलों पर करुण रस का मर्मस्पर्शी परिपाक हुआ है। जगद्धर शिव को जगद्विख्यात करुणामय मानता है। "अपि जगद्विदित: करुणापर:।"[6] अत: वह अपने को जब कामादि शत्रुओं से आक्रान्त देखता है, तो उनसे मुक्ति के लिए अपने आराध्य की प्रार्थना करते हुए विह्वल हो उठता है—

सर्वस्वमेत मम दत्तमहाप्रहारा, हारामलं हर हरन्त्यरयो विवेकम्।
रक्षाकरी तव कृपाऽत्र कृतावहाराहा हा राजशेखरमणे: पुरतो हतोऽहम्।।[7]

यहां क्रोधादि से आक्रान्त भक्त के हृदय में स्थित शोक करुण रस के रूप में

---

१. समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो महर्षिणा।
सोऽनुव्याहरणाद् भूय: शोक: श्लोकत्वमागत:।। वाल्मीकिरामायण १।२।३९

२. तामभ्यगच्छद् रुदितानुसारी कवि: कुशेध्माहरणाय यात:।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थ: श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोक:।। रघुवंश १४।७०

३. उत्तररामचरित ३।४७

४. एको रस: करुण एव निमित्तभेदाद्। उत्तररामचरित ३।४७

५. उदारकरुणरसप्रसरसारसिक्ताशय:।
प्रपन्नविपदर्णवोत्तरणकर्णधारो हर:।। स्तु० ६।४

६. स्तु० कु० १०।७ ७. वही ६।४१

परिणत हो जाता है। इस स्थल पर "हा" शब्द का प्रयोग करुणरस के परिपाक में अत्यधिक सहायक बन गया है।

इस प्रकार के श्लोकों को पढ़कर किस सहृदय का हृदय शोकाकुल हो करुणा से आप्लावित नहीं होगा ? इस प्रकार के अनेक स्थल हैं,[1] जहां करुण के दर्शन होते हैं।

(ग) हास्य

अपने आराध्य देव की स्तुति मन की अत्यन्त गंम्भीरता एवं स्थिरता में ही होती है। ऐसी स्थिति में मन के हलकेपन में होने वाली हास्य की अभिव्यक्ति स्तुति के बहुत अनुकूल नहीं होती। परन्तु एक समर्थ कवि असंभव को भी संभव कर दिखाता है। अपने आराध्य को विभिन्न स्वरूपों एवं मन:स्थितियों में देखने वाले भक्त कवि जगद्-धर ने भी अपने काव्य में हास्य के अनुकूल वातावरण ढूंढ ही लिया। उन्होंने छिट-पुट श्लोकों में नहीं, अपितु बीसवें स्तोत्र के सब इकतालीस श्लोकों में अपने आराध्य के प्रति अनन्य श्रद्धा की अभिव्यंजना के साथ-साथ अनिर्वचनीय चातुरी से हास्य का चित्रण किया है।

हास्य का स्वरूप

विश्वनाथ ने हास्य का स्वरूप बताते हुए कहा है कि किसी के विकृत आकार, अटपटी वाणी, अस्तव्यस्त वेशभूषा और इसी प्रकार की चेष्टा आदि को देखकर सहृदय मनुष्य के मन में स्थित हास नामक स्थायी भाव विभावादि से व्यक्त होकर उद्-भूत हो हास्य रस के रूप में परिणत हो जाता है। विकृत आकार, वाणी और चेष्टा वाला मनुष्य हास्य का आलम्बन विभाव होता है। उसकी चेष्टाएं उद्दीपन विभाव होती हैं। हंसने वाले की मुस्कराहट, अक्षिसंकोच आदि चेष्टायें अनुभाव होती हैं। श्रेष्ठ लोगों का हास्य शिष्ट होता है। उसमें आंखें तथा अधर ही मुस्करा कर रह जाते हैं। अथवा अधिक से अधिक दन्तपंक्ति ही अपनी थोड़ी-सी झलक दिखा देती है। हास्य के इन भेदों को "स्मित" एवं "हसित" कहा जाता है।

आचार्य विश्वनाथ ने हास्य रस के छह भेद माने हैं। उनका कथन है कि बड़े आदमियों में "स्मित" और "हसित" होता है। मध्य श्रेणी के लोगों में "विहसित" और "अवहसित" होता है। नीच मनुष्यों में "अपहसित" और "अतिहसित" नामक हास होता है। अतः इन हसित क्रियाओं के भेद से हास्य छह प्रकार का होता है।[2]

कवि के आराध्य देवाधिदेव महादेव परमश्रेष्ठ हैं। अतः उनके हास्य को कवि ने "हसित" नामक भेद के अन्तर्गत माना है। जिस प्रकार समस्त सृष्टि भगवान् की

---

१. स्तु० ७।७, ८।३६, ६।१६, १०।७, ८४, ११।१, १४३, ३६।३३-३४, तथा दसवां एवं पन्द्रहवां स्तोत्र प्रायः सम्पूर्ण।

२. ज्येष्ठानां स्मितहसिते मध्यमानां विहसितावहसिते च।
नीचानामपहसितं तथातिहसितं तदेष षड्भेदः॥ सा०द० ३।२१७

लीलामात्र है, उसी प्रकार शिव का यह हास्य भी उनका विलास ही है। अतः उन्होंने इसे "विलास-हसित" नाम दिया है। इस विलास-हसित का वर्णन बीसवें स्तोत्र में इक्तालीस श्लोकों में किया है।

स्थालीपुलाक न्याय से एक स्थल उदाहरणार्थ प्रस्तुत है—

यद् वाङ्मयं सकलवाङ्मनसातिवृत्तसीमानमीश महिमानममानमेयम्।
अस्मादृशं कृशदृशं भृशमामृशन्तमन्तर्विमृश्य भवतो भगवन्नुदेति॥[1]

भगवान् के हास का प्रथम आलम्बन कवि के अनुसार उन जैसे अज्ञानी संसारी जन हैं, जो भगवान् की अतर्क्य महिमा के विषय में नाना कुतर्कणाएं करके अपना अज्ञान ही प्रकट करते रहते हैं।

इस प्रकार कवि ने शांतरसप्रधान काव्य में भी अपने आराध्य के हास्य के वर्णन का अवसर निकाल ही लिया है। यह हास्य ग्रन्थ के प्रधान रसभक्ति का परिपोषण करने में पूर्णतः समर्थ हुआ है।

(घ) रौद्र रस

रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध है। शत्रु उसका अलम्बन तथा शत्रुकी चेष्टाएं उद्दीपन विभाव होती हैं। यह उत्तम, मध्यम और अधम तीनों प्रकार की प्रकृतियों वाले पात्र में रहता है।[2]

स्तुतिकुसुमांजलि में स्वभावतः इस रस के कम ही स्थल हैं। उदाहणार्थ एक पद्य प्रस्तुत है, जिसमें इस रस की अभिव्यक्ति हुई है। शिवभक्त कामदेव को अपना शत्रु मानकर ललकारते हुए कहता है—

कन्दर्प कं दर्पमुपैषि यातमस्तं समस्तं सहसा बलं ते।
भीरो गभीरो गलितः किमुच्चैरक्षोभरक्षो भगवत्प्रसादः॥ स्तु० २६।२८

अर्थात् अरे कामदेव, तू किस अहंकार में पड़ा है? अरे नीच, तेरी तो सारी शक्ति समाप्त हो चुकी है। अरे कायर तू तो नीच कृतघ्न निर्लज्ज है। भगवान् शंकर ने तुझे एक बार भस्म कर के, पुनः जीवनदान किया था। तू भगवान् के उस अनुग्रह को ही नहीं भूल गया है, बल्कि मुझ शिवजी के दास पर कुपित होने का कुकृत्य भी कर रहा है।

यहां भक्त के क्रोध का आलम्बन कन्दर्प है, उसकी नीचता, कृतघ्नता आदि उद्दीपन हैं।

---

१. स्तु० २०।२ २. सा० द० ३।२२७

(ङ) वीररस

उत्साह नामक स्थायी भाव के परिपाकरूप वीर रस दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर और दयावीर के भेद से चार प्रकार का होता है।[1] इन चारों भेदों के सुन्दर उदाहरण हमें स्तुतिकुसुमांजलि में उपलब्ध होते हैं। इस मे ग्रन्थ वर्णित सदाशिव अपने भक्तों की रक्षा के लिए वीर के चारों रूप में उपलब्ध हैं। उनका क्रोध और प्रसाद दोनों अमोघ हैं। वे कहीं मृगरूपधारी ब्रह्मा को दण्ड देने के लिए महाक्रूर किरात बन जाते हैं[2], तो कहीं बालक उपमन्यु पर प्रसन्न हो उसे दुग्धसमुद्र दान कर देते हैं।[3] दयालुता उनका नैसर्गिक स्वभाव है। इसलिए तो उनको भक्तों पर अनुग्रहकर्ता कहा है।[4] भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित वीररस के विभावों[5] के आधार पर सृष्टि में विद्यमान शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक शक्ति के क्रमशः बल, पराक्रम, शस्त्रास्त्रसंचालन और रणविद्या, साहस, धीरता, दृढता आदि जिन गुणों की कल्पना की जा सकती है, और जिनके आधार पर परवर्ती आचार्यों ने वीररस के युद्धवीर आदि चार भेद किये हैं, उन सभी का पूर्ण परिपाक हमें स्तुतिकुसुमांजलि में उपलब्ध होता है।

(अ) युद्धवीर

वीररस के युद्धवीर नामक भेद पर ही हम प्रथम विचार करते हैं। इसका सुन्दर स्वरूप हमें त्रिपुरासुर के संहार के संदर्भ में मिलता है। नानाविध आयुध धारण कर भगवान् शंकर ने त्रिपुरासुर का संहार किया तथा स्वर्ग की स्त्रियों की आंखों से हर्षाश्रु तथा पाताल में स्थित त्रिपुर की स्त्रियों की आँखों से शोकाश्रु बहाये।[6] यहाँ पर वीररस का आश्रय शिव हैं, आलम्बन त्रिपुरासुर है, उद्दीपन उसके द्वारा पीड़ित सुरमुनि हैं। युद्ध की प्रवृत्ति आदि संचारी भाव इसे पुष्ट कर रहे हैं।

एक अन्य स्थल पर भक्त को भी वीर के रूप में दर्शाया गया है। शिव-भक्त अपने आराध्य के बल पर यमराज को बुरी तरह से कह रहा है—

---

१. उत्तमप्रकृतिर्वीर उत्साहस्थायिभावकः।
स च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात् ॥ सा० द० ३।२३२-३४

२. क्रूरं क्वचिन्मृगवधैकरतिं किरातम् ॥ स्तु० ८।३६

३. क्षीराब्धेरवहेलया वितरणम् ॥ वही ८।५०

४. भक्तानुग्रहकारिणे। स्तु० कु० २।१५

५. स च असंमोहाध्यवसायनयविनयबलपराक्रमशक्तिप्रतापप्रभावादिभिर्विभावै-रुत्पद्यते। नाट्यशास्त्र ६।६६

६. चक्रायुधं विशिखतामुडुचक्रवर्तिचक्राभिधानसुहृदो रथचक्रभावम्।
नीत्वाऽसृजत् त्रिदशधाम्नि रसातले च यो हर्षशोकमयमश्रु पुरांगनानाम् ॥
स्तु० ८।१८

अन्यत्र दर्शय निरंकुश हुंकृतानि कीनाश नाशय दुराशय माऽभिमानम् ।
नाथीकृतेन्दुमुकुटानपि नाम मन्ये निर्भर्त्सयिष्यसि हतैव तवेयमाशा ।।
स्तु० ९।६३

इस पद्य में भक्त के उत्साह की एक शूरवीर के अनुरूप जो व्यंजना हुई है, उसका सहृदय जन भरपूर रसास्वादन करते हैं ।

(आ) दानवीर

दानवीर के अनेक उदाहरण इस स्तोत्रकाव्य में उपलब्ध हैं । शिवपुत्र गणेश जी का कर सदैव दानयुक्त रहता है । ऐसे पुत्र के पिता ने मरुत्त राजा पर प्रसन्न होकर, उसके नगर में सात दिन-पर्यन्त सुवर्ण की अविच्छिन्न वृष्टि की—

दानाम्बुनिर्भरकरस्तनयः स यस्य
श्रीमान् स यस्य धनदः सविधे विधेयः ।
यः संश्रितः शिरसि मुक्तकरेण राज्ञा
पुष्णातु वः कनकवर्षघनः स देवः ।। स्तु० ३।१४

(इ) दयावीर

दयावीर की स्थिति वहां पर स्वीकार की जाती है, जहाँ पर एक मनुष्य किसी अन्य की दुरवस्था पर दया कर के उसकी सहायतार्थ कार्य करता है ।[1] इसका उदाहरण हमें उस प्रसंग में मिलता है, जब सांसारिक तापों से खिन्न भक्तजनों के समस्त संताप को शांत करने के लिए पार्वती, करुणा, चन्द्रकला, प्रेमपूर्ण दृष्टि, गंगा एवं सरस्वती जिनके आश्रित रहती हैं, ऐसे शिव शरणागत के तापों को हरते हैं—

यस्मिन्नखिन्नमनसो व्यसनावसन्न-
सन्तापशान्तिकृतसम्मतयो वसन्ति ।
कात्यायनी च करुणा च कला च चान्द्री
स्निग्धा च दृक् सुरसरिच्च सरस्वती च ।। स्तु० ८।२८

(च) भयानक

भयानक रस का स्थायी-भाव भय होता है । जिसके कारण से भय उत्पन्न हो वह प्राणी "आलम्बन" होता है, उस प्राणी की चेष्टायें "उद्दीपन" होती हैं । विवर्णता, गद्-गद भाषण, स्वेद, रोमांच आदि इसके अनुभाव होते हैं । जुगुप्सा, आवेग, मोह, त्रास आदि व्यभिचारी भाव होते हैं ।[2]

---

१. व्याधिदारिद्र्यशस्त्रास्त्रक्षुत्पिपासादिपीडितान् ।
अनुगृह्णाति यः प्रीत्या स वीरः स्याद् दयात्मकः ।। भावप्रकाशन ३।२०

२. भयानको भयस्थायिभावः कालाधिदैवतः ।
यस्मादुत्पद्यते भीतिस्तदवालम्बनं मतम् ।।
चेष्टा घोरतरास्तस्य भवेदुद्दीपनं पुनः ।
जुगुप्सावेगसंमोहसंत्रासग्लानिदीनता ।। सा० द० ३।२३५-२३८

स्तुतिकुसुमांजलि का एक पद भयानक रस के उदाहरणार्थ प्रस्तुत है। जगद्धर कहता है कि "हे काम-मर्दन शिव, उच्छृंखल यमदूत मुझे घसीट रहे हैं, मैं अनाथ हूं, एकमात्र आपका ही सहारा है। अतः शरणागत को कृपारूपी अमृत से परिपूर्ण दृष्टि से देखिये—

यमभर्तृभिर्ह्रियमाणमयन्त्रणे रशरणंशरणं चरणौ श्रितम्।
घनघृणामृतनिर्भरया दृशा मदनमर्दन मामवलोकय ॥ स्तु० १०।६०

यहां यमदूत आलम्बन हैं। उच्छृंखल चेष्टायें उद्दीपन हैं। भय के कारण विकृत शरीर अनुभाव है। त्रास आदि व्यभिचारी भाव हैं। इस प्रकार साधारणीकरण की सम्पूर्ण सामग्री से परिपुष्ट हुआ भय, भयानक रस में परिणत होता है।

(छ) अद्भुत-रस

यद्यपि अद्भुत सहित सभी रसों में "अद्भुत" की अनुभूति होती है क्योंकि सब रसों में चमत्कार साररूप से प्रतीत होता है, और चमत्कार (विस्मय) के साररूप (स्थायी) होने से सब जगह अद्भुत रस ही प्रतीत होता है।[1] भरत आदि आचार्यों ने विस्मयस्थायिप्रकृतिक अद्भुत को एक पृथक् रस के रूप में स्वीकार किया है।[2]

स्तुतिकुसुमांजलि में प्रसंगवश कवि की कल्पनाशक्ति ने "अद्भुत" रस का भी समुचित सन्निवेश किया है। कवि कहता है कि चन्द्रमा, अमृतकलश और गंगाजल आदि पदार्थ चित्त के खेद को दूर करते हैं, यह तो उचित है, परन्तु आश्चर्य यह है कि प्रेत-भस्म, मुण्डमाला, सर्प आदि भी भगवान् शंकर के सम्पर्क से मनोहर हो जाते हैं—

युक्तं सुधाकरसुधाकरकद्युसिन्धुतोयादि यन्मनसि तापमपाकरोति।
यस्यांगसंगिशवभस्मकपालमालाहालाहलादिदहनाद्यपि हृद्यमेव ॥ स्तु० ८।२१

इस प्रकार के अन्य स्थल (६।३, ८।२२) स्तुतिकुसुमांजलि में अद्भुत रस के सुन्दरतम उदाहरण हैं।

(ज) वत्सल

यद्यपि रसों की संख्या के विषय में आचार्यों में मतभेद है, भरतादि प्राचीन आचार्यों ने वत्सल को रस स्वीकार नहीं किया है। परन्तु उत्तरवर्ती विश्वनाथ आदि

---

१. रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः ॥
साहित्यदर्पण ३।३ की वृत्ति में धर्मदत्त के नाम से उद्धृत श्लोक।
चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः।—वही ३।३ की वृत्ति।

२. अद्भुतो नाम विस्मयस्थायिभावात्मकः ॥ नाट्यशास्त्र ६।७४

ने इसे भी अन्य रसों की तरह रस के रूप में स्वीकार किया है ।[1] स्नेह स्थायी भाव वात्सल्य रस के रूप में परिणत होता है । स्तुतिकुसुमांजलि में इसके प्रयोग की अल्पता ही है, पर जो उदाहरण उपलब्ध है, वह वत्सल का श्रेष्ठ उदाहरण है—

धन्योऽस्मि सम्यगमृतं किमपि स्रवन्ती संजीवनं भगवती विदधाति यस्य ।
स्नेहस्नुतस्तनयुगा जननीव जीवरक्षार्थमार्तिविधुरस्य ममोक्तिदेवी ।।

स्तु० ११।१

यहां पर भगवती वाणी को माता मानकर, अमृतरूपी दुग्ध का आस्वादन करता हुआ कवि, निश्चित ही वत्सल रस का अनुभव करता प्रतीत होता है ।

(झ) शांत

जहां निर्वेद स्थायीभाव होता है, वहां शांतरस की स्थिति मानी जाती है ।[2] स्तुतिकुसुमांजलि में शांत रस का व्यापक क्षेत्र है । जहां पर इसका प्रकाशन सहृदय के लिए आनन्दानुभूति का सुन्दर कारण बनता प्रतीत होता है, वहां पर इस रस के दो पक्ष हैं—प्रकृतिविषयक शांतरस तथा विरक्ति-विषयक शांतरस ।

प्रकृतिविषयक शांत रस—इस पक्ष में प्रकृति के मनोरम तथा प्रशांत और तीर्थस्थलों का दर्शन करके व्यक्ति के मन को शान्ति तथा जागतिक विविध व्यथाओं से व्यथित इन्द्रियों को विश्राम मिलता है । इस पक्ष में "शम" भाव का प्राधान्य प्रतीत होता है ।

इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण उस स्थल पर उपलब्ध है जब भक्त कवि ने भागीरथी का वर्णन करते हुए, मृगगणों एवं सुरम्य पर्वत श्रृंगों का मनोरम चित्र प्रस्तुत किया है ।[3] एक अन्य स्थल पर सुमनोहर पुष्पों से समाच्छादित वटवृक्षों से समन्वित एवं पर्वतपाषाणों से टकराकर सुन्दर शब्द करती हुई गंगा का दिव्य दर्शन कब होगा ?

सुरस्रोतस्वत्यास्तटविटपिपुष्पौघसुरभौ गिरिग्रावग्रामस्खलनमुखरस्रोतसि जले ।
श्रमक्षामैरङ्गैरगणितभवक्लेशविपदां कदा स्यान्नस्तृप्तिर्हरचरणसेवासुखरसैः ।।

स्तु० १०।७२

कवि की यह अभिलाषा शांत के पूर्वोक्त पक्ष का सुन्दरतम उदाहरण है । इस प्रकार का उदाहरण समग्र संस्कृतसाहित्य में नहीं, तो कम से कम स्तोत्रसाहित्य में दुर्लभ है ।

---

१. स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः ।
स्थायी वत्सलतास्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम् ।। साहित्यदर्पण ३।२५

२. निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः । का० प्र० ४।४७

३. रोमन्थमन्थरकुरङ्गशताश्रितेषु भागीरथीशिशिरशीकरशीतलेषु ।
रोहन्महार्हफलकन्दलसुन्दरेषु बद्धास्पदास्तुहिनभूधरकन्दरेषु ।। स्तु० ७।२५

विरक्तिविषयक शान्तरस—इस पक्ष में जगत् की अनित्यता एवं निस्सारता के विषय में तत्वज्ञान से उत्पन्न "निर्वेद" नामक भाव की प्रमुखता होती है। शान्त-रस के इन दो पक्षों की मान्यता का समर्थन विश्वनाथ के उस मत से भी होता है, जहां वे शान्त के परिपाक में ज्ञानचर्चा तथा ईश्वरचिन्तन के अतिरिक्त पवित्र आश्रम, तीर्थस्थान, और प्रकृति के मनोरम एवं शान्त दृश्यों को भी शान्तरस के उद्दीपन विभाव के रूप में मानते हैं।[1]

शान्तरस के इस पक्ष का वर्णन एक स्थल पर अत्यन्त सुन्दर बन गया है। जैसे—

इदं मधुमुखं विषं हरति जीवितं तत्क्षणादपथ्यमिदमाशितं व्यथयते विपाके वपुः।
इदं तृणगणावृतं विलमधो विधत्ते क्षणाद् यदत्र मलिनोल्बणैर्द्रविणमर्जितं कर्मभिः॥

स्तु० ७।३९

यहां उस धन के प्रति उदासीनता दिखलाई गई है, जो दुष्कर्मों से प्राप्त किया जाता है। भक्त कवि का कहना है कि ऐसा धन परिणाम में वैसा ही है, जैसा तृणों से आच्छादित अन्धकूप। इस पद्य के पठन या श्रवण से सहृदय के हृदय में अवश्य ही विरक्तिप्रधान शान्त की उत्पत्ति होगी।

८. ध्वनि

कविजगत् उस कविता को सहृदय-हृदयावर्जक मानता है, जिसमें ध्वनि तत्त्व (व्यंग्यार्थ) की सत्ता प्रधानतया विद्यमान हो। इसी ध्वनि पर काव्य का समस्त सौन्दर्य आधारित है। अतः काव्य में व्यंग्यार्थ को अत्यावश्यक माना है। व्यंजना वृत्ति द्वारा प्रतीयमान इस अर्थ को काव्य का सर्वस्व कहा गया है। आनन्दवर्धन का कथन है कि जहां वाच्यार्थ अपने को तथा शब्द अपने अभिधेय को अप्रधान करके जिस (व्यंग्य) अर्थ को प्रकाशित करते हैं, उस काव्यविशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है।[2] पूर्वोक्त कथन को और स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं, "प्रतीयमान (व्यंग्य) अर्थ उसी प्रकार वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीत होता है, जैसे अंगनाओं के अंगों का लावण्य अंगों से भिन्न प्रतीत होता है।[3] आनन्दवर्धन के इस सिद्धान्त को मम्मटप्रभृति अनेक आचार्यों ने स्वीकार किया है। आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है।

---

१. अनित्यत्वादिनाऽशेषवस्तुनिःसारता तु या॥
परमात्मस्वरूपं वा तस्यालम्बनमिष्यते।
पुण्याश्रमहरिक्षेत्रतीर्थरम्यवनादयः ॥ साहित्यदर्पण ३।२४६-२४७

२. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥ ध्वन्यालोक १।१३

३. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु॥ ध्वन्यालोक १।४

ध्वनि तीन प्रकार की होती है—रसध्वनि, वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि। इस तरह ध्वनि के अन्तर्गत रस, सामान्य कथन तथा अलंकार सभी आ जाते हैं। काव्य-शास्त्रियों ने ध्वनि के ५१ प्रमुख भेद किए हैं।

ध्वनि के भेद

आचार्य मम्मट ने ध्वनि के प्रमुख भेदों का विवरण यों किया है—

ध्वनि के प्रमुख दो भेद हैं—लक्षणामूल ध्वनि, अभिधामूल ध्वनि।

लक्षणामूल ध्वनि के दो भेद हैं १. अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि, २. अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य ध्वनि।

अभिधामूल ध्वनि के दो भेद हैं १. संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि, २. अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि, ३. शब्दार्थशक्त्युद्भव ध्वनि।

शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि के दो भेद हैं १. वस्तुगत, २. अलंकारगत। ये दोनों दो-दो प्रकार के हैं—पदगत और वाक्यगत। इस प्रकार ये चार भेद हुए।

अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के तीन भेद हैं १. स्वतःसम्भवी, २. कविप्रौढोक्तिसिद्ध, ३. कविनिबद्धवक्तृ-प्रौढ़ोक्तिसिद्ध।

ये तीनों चार-चार प्रकार के हैं वस्तु से वस्तु व्यंग्य, वस्तु से अलंकार व्यंग्य, अलंकार से वस्तु व्यंग्य, अलंकार से अलंकार व्यंग्य। इस प्रकार ये बारह भेद हुए। ये बारह भेद फिर तीन-तीन प्रकार के हैं—पदगत, वाक्यगत और प्रबन्धगत। इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के कुल छत्तीस भेद बने।

शब्दार्थक्त्युद्भव-संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि केवल एक—वाक्यगत है।

इस प्रकार संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के कुल ४+३६+१=४१ भेद हैं।

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि को एक ही माना गया है। इसी का दूसरा नाम रस अथवा रसादि ध्वनि है, फिर इसके निम्नोक्त छः भेद हैं, पद, पदांश (प्रकृति, प्रत्यय, उपसर्ग और निपात), रचना, वर्ण, वाक्य और प्रबन्धगत।

इस प्रकार अभिधामूल ध्वनि के कुल ४१+६=४७ भेद हैं।

इस प्रकार लक्षणामूल ध्वनि के उक्त ४ भेद और ये ४७ भेद कुल ५१ भेद हैं।

अभिधामूलक ध्वनि—

द्विजाधिपाधिष्ठितशेखरं महाभुजं गवि न्यस्तभरं समुद्वहन्।
वपुः सदाऽभंगदयासमाश्रितं तनोतु वः संपदमच्युतः शिवः॥ स्तु० २६।७

अर्थात् मस्तक पर चन्द्रमा से विराजित, विशाल भुजाओं वाला, बैल पर बैठ कर चलने वाला, सदा अविनाशी, दया से युक्त, वह अविनाशी शिव आप के वैभव का विस्तार करे।

इस प्रकार कवि ने यद्यपि वाच्यरूप से भगवान् शिव की महिमा का वर्णन किया है, परन्तु जब "अच्युतः" का अर्थ विष्णु किया जाता है तब सभी पद विष्णपरक

अर्थ को प्रकट करते हैं। विष्णुपक्ष में अर्थ है—पक्षिराज गरुड़ पर बैठा हुआ, शेषनाग (महाभुजंग) पर अपना भार रखने वाला, सौन्दर्य-सम्पन्न (सदाभं), गदा से युक्त शरीर को धारण करने वाला वह कल्याणदाता विष्णु आप के वैभव का विस्तार करे।

इससे यह ध्वनित होता है कि शिव ही सर्वशक्तिमान हैं, विष्णु भी इन्हीं पर आश्रित हैं, जिस प्रकार यहां शिव के वर्णन में प्रत्यक्ष रूप से विष्णु का वर्णन नहीं, परन्तु प्रतीति में विष्णु का वर्णन भी आ रहा है। इस प्रकार यहां शंकर ही सर्वोपरि हैं, उन्हीं में विष्णु की शक्ति भी निहित है। अतः भगवान् शंकर की उपासना से विष्णु की उपासना का फल भी अप्रत्यक्ष रूप से मिल जाता है, यह ध्वनि अभिप्रेत है क्योंकि यह भाव काव्य में चमत्कृति पैदा करता हुआ कवि की प्रगाढ भक्ति को द्योतित करता है।

लक्षणामूलक ध्वनि

तज्ज्ञो बतास्म्यभिलषन् सुखमक्षयं यद्दुःखैकधाम वपुरस्थिरमर्थयामि।
यद्वा भवाब्धितरणाय पुराणमुग्रशीलं पुमांसमुडुपार्धधरं श्रयामि॥

स्तु० ११।११५

यहां भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है : आश्चर्य है कि मैं बुद्धिमान् हो कर भी अपने आराध्य से शाश्वत सुख प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ दुःखों के समूह क्षणभंगुर नाशवान् शरीर की याचना करता हूं। अथवा संसार समुद्र को पार करने के लिए बूढ़े तथा आधी नौका वाले पुरुष (नाविक) का आश्रय लेता हूं। इस संदर्भ में "तज्ज्ञः" पद बुद्धिमान् के अर्थ में संगत नहीं होता, क्योंकि कोई भी बुद्धिमान् शाश्वत सुख की उपलब्धि के लिए नश्वर शरीर की मांग नहीं कर सकता। नश्वर से कभी भी शाश्वत की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार समुद्र को बूढ़ा नाविक आधी-परधी नौका से कैसे पार करा सकता है। यहां मुख्यार्थ का बाध होने पर "तज्ज्ञः" का लक्ष्यार्थ होगा कि मैं ही मूर्ख हूं, जो पूर्वोक्त याचना करता हूं। मूर्खता का अतिशय बताना इसका प्रयोजन है तथा यही व्यंग्यार्थ है।

वस्तु से वस्तु-ध्वनि

स यत्र गुणबर्हिणो भवभुजंगजिह्वाञ्चनै-
र्गजास्यकरकर्षणैः स च गिरीन्द्रकन्याहरिः।
स चार्कसुतसैरिभो रवितुरंगहेषारवै
र्मुदं दधति धाम तद्दिशतु शाम्भवं धाम वः॥

स्तु० ३।४५

अर्थात् कार्तिकेय का मोर शंकर के आभूषणयुक्त सर्पों की जिह्वाओं द्वारा चाटने से प्रसन्न है तथा पार्वती का सिंह गणेश की सूंड के घर्षण से प्रसन्न है, यमराज

का महिष सूर्य के घोड़ों के शब्द के हर्षित है। ऐसा शंकर का महाधाम आपको तेजस्वी बनावे।

इस श्लोक में कवि ने शंकर के धाम में प्राणियों द्वारा पारस्परिक वैरभाव को छोड़ कर मित्रभाव से रहने का वर्णन किया है, जिससे यह ध्वनित होता है कि शंकर के स्थान-मात्र का ही इतना प्रभाव है कि उसके प्रभाव से पशुओं का हृदय भी प्रभावित होता है। वे अपने नैसर्गिक वैरभाव को छोड़ देते हैं, फिर जो मनुष्य शिव की उपासना करेगा, उसका हृदय कितना निर्मल होगा, इसका तो कहना ही क्या। अत: भगवान् शंकर की भक्ति प्राणिमात्र में आत्म-भाव पैदा करने वाली है। प्राणिमात्र में आत्म-भाव देखना यही लक्ष्य की प्राप्ति अर्थात् मोक्ष है।

यहां पर वस्तु-रूप वाच्यार्थ से वस्तुरूप-व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने से वस्तु-से वस्तु-ध्वनि का उदाहरण बनता है।

अलंकार से वस्तु-ध्वनि

कर्तुमुत्सहत एव सेवको यस्य कस्य न मनः सकौतुकम्।
नैति शान्तनव-विग्रहोऽपि सन्, भीष्मतां न च विचित्रवीर्यताम्॥

स्तु० १।१६

इस श्लोक के पूर्वार्ध का अर्थ है कि भगवान् शिव का सेवक, अपने लोकोत्तर कार्यों से किसके मन में कम आश्चर्य नहीं करता ? जब हम इस पद्य के उत्तरार्ध का "शान्तनु से उत्पन्न शरीर को धारण करने वाला होने पर भी न तो वह भीष्म है तथा न ही विचित्रवीर्य है" यह अर्थ करते हैं, तो विरोध उत्पन्न होता है, क्योंकि शान्तनु से उत्पन्न या तो भीष्म हो सकता है या विचित्रवीर्य।

परन्तु जब हम पद्य के उत्तरार्ध का यह अर्थ करते हैं कि "नये-नये वैर के रहते हुए भी जिसे न तो भय होता है और न ही क्रोध आता है", तब उपर्युक्त विरोध का निवारण हो जाता है, और विरोध वास्तविक विरोध न रह कर विरोधाभास-व्यंग्य बन जाता है। "शान्तनवविग्रह", "भीष्मता" तथा "विचित्रवीर्यता" आदि शब्दों के परिवृत्त्यसहिष्णुत्व के कारण शब्दशक्तिमूलकता इस अलंकार का आधार है। परन्तु इसे "अपि" शब्द के प्रयोग से वाच्य सा बना दिया गया है। इस कारण वह स्थल गुणीभूतव्यंग्य का उदाहरण बन जाता है।

परन्तु इसके पश्चात् जब यह व्यंग्यार्थ अभिव्यक्त होता है कि "सेवक द्वारा ऐसी स्थिति प्राप्त करने में शिव की महिमा ही प्रमुख कारण है और उस शिव की भक्ति करनी चाहिए", तब यहां अन्ततः व्यंग्यार्थ का प्राधान्य ही सिद्ध होता है।

अत: इस प्रकार यह पद्य शब्दशक्तिमूलक विरोधाभास अलंकार से वस्तु-ध्वनि का हृदयावर्जक स्थल कहा जा सकता है।

अलंकार से अलंकारध्वनि

इदमसाधितमेव रसायनं निरूपभोगमिदं सुखमक्षयम् ।
अमृतमेतदनम्बुधिमन्थनं यदविनश्वरमीश्वरसेवनम् ।। स्तु० १०।३३

इस पद्य में ईश्वरसेवन को लौकिक रसायन से उत्तम कहा है। लौकिक रसायन सिद्ध किया हुआ होता है। हो सकता है कि उसके शोधन में कुछ त्रुटि रह जाय, क्योंकि मानवकृत्यों में कुछ त्रुटि होना संभव है। अतः उससे प्राप्त फल में भी त्रुटि का होना स्वाभाविक है। पर ईश्वरसेवन स्वतःसिद्ध रसायन होने से सेवक के भवरोगों को दूर करने में निःसन्देह समर्थ हो सकता है। भगवान् शिव का भजन बिना भोग के सुखप्रद है, जबकि लौकिक सुखों का सुखत्व भोगानन्तर ही प्रतीति में आता है। भगवान् का सेवन समुद्रमन्थन के बिना निकाला हुआ अमृत है। समुद्रमन्थन में अतिशय परिश्रम की अपेक्षा हुई थी, परन्तु भगवद्भजन में इतने परिश्रम की आवश्यकता नहीं। वह अमृत अपने से भिन्न समुद्र में प्राप्त हुआ था, किन्तु शिवभजनरूपी अमृत अपने शरीर में ही प्राप्त है। इससे यह ध्वनित होता है कि भगवान् का सेवन सर्व-विध सुख प्रदान करने वाला तथा सरल है।

यहां ईश्वर-सेवन को सामान्य रसायन आदि से भिन्न प्रकार का रसायन बतलाने से अतिशयोक्ति अलंकार बनता है, जिससे यह ध्वनित होता है ईश्वर-सेवन रसायन आदि अन्य सभी वस्तुओं से गुणों में अधिक है। अतः इस प्रकार उपमेय रूप ईश्वरसेवन का उपमानरूप सामान्य रसायन, सुख तथा अमृत से उत्कर्ष द्योतित होने से यहां पर व्यतिरेक अलंकार अभिव्यक्त है। इस प्रकार यह अलंकार से अलंकार-ध्वनि का उदाहरण बनता है।

वस्तु से अलंकार-ध्वनि

रविरहो विरहोद्धरणाद् दिशन धृतिमुदेति मुदे रथपक्षिणाम् ।
यदविषादविषाभिभव जगत्कृतमसन्तमसंस्तुतिभिः प्रभोः ।। स्तु० २७।३०

उपर्युक्त पद्य में कवि कहता है कि प्रातःकाल आने पर सूर्य जो अंधकार को नष्ट करता है तथा चक्रवाकों को आनन्दित करता है, यह सब भगवान् शिव की स्तुति का फल है। यह वस्तु इस श्लोक में वर्णित है। इससे कवि यह कहना चाहता है कि क्योंकि शिव की स्तुति से ही सूर्य इतना बल प्राप्त कर सका है। अतः हमें भी यदि अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करके जीवरूपी चक्रवाक को प्रसन्न करना है, तो हमें निश्चित ही शिव की भक्ति करनी चाहिए। इस दूसरे व्यंग्य अर्थ में अन्धकार से अज्ञान की तथा चक्रवाक से जीव रूप अर्थान्तर की प्रतीति होती है। इस प्रकार यहाँ वस्तु से रूपक अलंकार व्यंग्य है। अतः यह पद्य अर्थशक्तिमूलक वस्तु से रूपक अलंकार ध्वनि का उत्कृष्ट निदर्शन माना जा सकता है।

अर्थशक्तिमूलक पदगत वस्तु से वस्तुध्वनि

जूटे कपालशकलानि कलानिधिश्च हस्ते सुधाम्बु सरलं गरलं गले च ।
शक्रादिभिश्च नमनं गमनं गवा च यस्यास्तु दुर्गतिहरः स हरः सदा वः ।।

स्तु० ३।४१

इस पद्य में पहले विशेषणों द्वारा शंकर की विशेषता बताई गई है, तदनन्तर "सः" पद द्वारा "इसी प्रकार का शंकर हमें अभीष्ट है", यह विशेष अर्थ द्योतित हो रहा है। अतः "सः" पद से यहां एक विशेषता द्योतित होती है। इससे यह पदगत ध्वनि का उदाहरण बनता है।

पदगत अलंकार से अलंकारध्वनि

क्षीरार्णवस्य चरणाब्जतले निवासमासेदुषस्तनयमप्रतिमप्रसादः ।
यो मूर्ध्नि लालयति बालमसौ दयाब्धिर्देवस्तनोतु मुदमाश्रितवल्लभो वः ।

स्तु ३।३४

इस श्लोक में "मूर्ध्नि" पद शिव की भक्ति की महिमा को द्योतित कर रहा रहा है। समुद्र सर्वदा शिव के चरणकमलों में विराजमान है अर्थात् शंकर के चरणों की सेवा करता है। शंकर ने यही सोचकर समुद्र के पुत्र चन्द्रमा को अपने मस्तक पर (मूर्ध्नि) स्थान दिया है। इस प्रकार जो शिव अपने चरणों की सेवा करने वाले समुद्र के पुत्र (चन्द्र) को केवल इसलिए अपने सिर पर स्थान दिए हुए हैं कि उसका पिता उसकी सेवा करता है। ऐसे शिव क्या उसको उच्च स्थान प्रदान नहीं करेंगे, जो निरन्तर उसकी भक्ति में ओतप्रोत होकर शिव की सेवा करेगा ? जब वे पिता की सेवा का फल उसके पुत्र को दे सकते हैं, तो क्या अपने भक्त की सेवा का फल उसी भक्त को नहीं दे सकते ? अपितु अवश्यमेव देंगे। अतः हमें उस शिव की सदा सेवा करनी है, जो भक्ति करने वालों को इस प्रकार फलप्रदाता है। यहां "मूर्ध्नि" पद से व्यंग्य है अतः पदगत ध्वनि का उदाहरण बनता है।

उपमालंकार—इस ध्वनि के दर्शन हमें इस पद्य में होते हैं—

ह्लादवद्भिरमलैरनर्गलैर्जीवनैरघहरैर्नवैरियम् ।
स्वामिनः क्लमशमक्षमैः क्षणं रोद्धुमर्हति मनः सरस्वती ।। स्तु० १।१

अर्थात् मेरी वाणी आनन्ददायक, निर्मल, अनवरुद्धगति वाली, जीवनप्रदात्री, पापपुंज को हरने वाली, समस्त क्लेशजनित कष्टों को शांत करने वाली, मेरी मनोहारिणी स्तुतियों से भगवान् शिव के मन को क्षण-भर के लिए स्थिर (प्रसन्न) करने में समर्थ हो। परन्तु जीवनैः (जलों के द्वारा अथवा जीवन से), नवैः (नूतन अथवा स्तुतियों से), सरस्वती (नदी अथवा वाणी) इन पूर्वोक्त नानार्थक शब्दों के बल पर इस पद्य का यह अर्थ भी है—सरस्वती नदी अपने आनन्दप्रद, मलरहित, पापों के प्रक्षालन में समर्थ, अप्रतिहतगति वाले, मरुस्थल में भ्रमण करने से उत्पन्न हुए ताप को

हरने वाले, जलों से प्यासे लोगों के मन को क्षण भर में शान्त कर देती है। यह अर्थ अप्राकरणिक है। इस अर्थ की प्रतीति अभिधा से सम्भव नहीं है, क्योंकि अभिधा तो पूर्वोक्त वाच्यार्थ का बोध करा कर विरतव्यापार हो गई है। अतः यह अर्थ व्यंजना का ही विषय है। अब इन दोनों अर्थों में किसी प्रकार की असंगति प्रतीत न हो, इसके लिए इनमें उपमानोपमेय भाव मानना आवश्यक हो जाता है। अर्थात् जिस प्रकार सरस्वती (नदी) प्यासे व्यक्ति को आकर्षित (प्रसन्न) कर लेती है, उसी प्रकार मेरी सरस्वती (वाणी) भी सदाशिव को प्रसन्न करने में समर्थ है। यहां प्राकरणिक अर्थ अर्थात् सरस्वती (वाणी) विषयक वाच्यार्थ और अप्रकरणिक अर्थ अर्थात् सरस्वती (नदी) विषयक व्यंग्यार्थ दोनों में उपमान उपमेय भाव विद्यमान है जो कि दोनो का पारस्परिक संबंध है। जब दोनों में उपमानोपमेयभावरूप संबंध विद्यमान है, तब तो यह सुनिश्चित है कि यहां जो चमत्कार है, वह 'उपमा' अलंकार रूप व्यंग्यार्थ की ही चमत्कृति है। अलंकार रूप व्यंग्यार्थ को यहां शाब्दी व्यंजना का विषय इसलिये मानना आवश्यक है क्योंकि 'सरस्वती' आदि पदों को हटाकर 'भारती' आदि पदों की स्थापना करने पर यह व्यंग्यार्थ समाप्त हो जाता है। यहां यह भी स्मरणीय है कि पद्य में उपमावाचक 'इव' आदि पदों का प्रयोग नहीं हुआ है तथापि शब्दशक्ति की महिमा से यहां उपमा की ध्वनि है। इस बात का संकेत स्तुतिकुसुमांजलि के टीकाकार ने भी किया है।[1]

शब्दशक्तिमूलक ध्वनि

विरोधाभास—जगद्धर की ध्वनिचातुरी का एक अन्य उदाहरण देखिये—

दृङ्मार्गमात्रपतिता: सहसैव यस्य पंचत्वमिन्दुरविहव्यभुजोऽप्यवापु:।
धीमानहं बत तमेव सदाशिवं यद् देवं श्रयामि शरणं मरणार्तिभीरु:॥

स्तु० ११।११६

इस पद्य में भक्त कवि कहता है कि जिस शंकर के दृष्टिगोचर होने से ही चन्द्रमा, रवि तथा अग्नि भी पंचत्व (पंच संख्या) को प्राप्त हो गए हैं, अर्थात् पांच हो गए हैं, मैं बड़ा चतुर हूं, जो मरने के भय से भीत हुआ पूर्वोक्तगुणविशिष्टि शंकर का आश्रय ग्रहण करता हूं।

इस पद्य में प्रयुक्त 'पंचत्व' शब्द द्वयर्थक है तथा यहां द्वितीय अर्थ का व्यंजक है। भक्त के लिए मरणार्तिभीरु होकर ऐसे देवता की शरण में आने का क्या लाभ, जिसकी शरण पंचत्व (मृत्यु) का हेतु हो। अपने आपको पंचसंख्यात्मक बनाना भी भक्त के लिये श्रेयस्कर नहीं है। अतः पंचत्व पद को श्लिष्ट मान लेने पर भी उस भाव को तब तक स्पष्ट नहीं कर सकता, जब तक कि ध्वनि का आश्रय न लिया जाये।

---

१. अत्र इवाद्यनुपादानाच्छब्दशक्तिमूल उपमाध्वनि:। स्तु० १।१ पर राजानक रत्नकण्ठ की टीका

क्योंकि भक्त यहां ध्वनिमुखेन पंचत्व का अर्थ यह चाहता है कि जिस सदाशिव के दृष्टिपात से रवि, शशि तथा अग्नि पंचसंख्या वाले बन गए, सो मैं भी उसकी शरण ग्रहण करने से पंच संख्यात्मक बन जाऊंगा। अर्थात् पंचानन शिव भी पंचात्मक है, अत: मैं भी शिवस्वरूप ही बन जाऊंगा। यहां भक्त अपने आराध्य की शरण ग्रहण कर उसके स्वरूप में विलीन हो तदाकार बनना चाहता है, जो भक्त का चरम लक्ष्य है। वह इस लक्ष्य-प्राप्ति को साधारण पदों द्वारा न कहकर 'पंचत्व' पद के द्वारा ही अभिव्यक्त करना चाहता है। इस प्रकार जगद्धर ने उपर्युक्त भक्तिपद्य में ध्वनि का सुन्दर सामंजस्य दिखलाया है। दूसरे पद 'धीमानहम्' में भी स्पष्टरूपेण विपरीत लक्षणा से मूर्खत्वातिशय रूप व्यंग्य अर्थ प्रतीत हो रहा है।

९. अन्य काव्यतत्त्वों की दृष्टि से स्तुतिकुसुमांजलि की समीक्षा

वृत्तियां

शब्द एवं अर्थ की समन्वित सुन्दर पदयोजना को ही आलोचकों ने काव्य का कलापक्ष माना है।[1] शब्दशक्तियों के साहचर्य से ही सुन्दर पद-योजना बन पाती है। अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना नामक शब्दशक्तियों के आधार पर ही, शब्दों के वाचक, लक्षक एवं व्यंजक ये तीन भेद कहे हैं। इनके द्वारा प्रतीत अर्थ वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य कहाते हैं।[2]

व्यंग्यप्रधान काव्य को सर्वश्रेष्ठ कहा गया गया है।[3] परन्तु अभिधा का भी कम महत्त्व नहीं है। वह लक्षणा और व्यंजना दोनों का मूल है। लक्ष्यार्थ वाच्य से सम्बद्ध रहता है।

स्तुतिकुसुमांजलि में तीनों ही शब्दशक्तियों के सुन्दर उदाहरण उपलब्ध हैं। निम्नोक्त पद्य में कवि भक्ति की महिमा का प्रतिपादन वाच्यार्थ के द्वारा करता हुआ कहता है—

मुक्तिर्हि नाम परमः पुरुषार्थ एकस् तामन्तरायमवयन्ति यदन्तरज्ञाः।
किं भूयसा भवतु सैव सुधामयूखलेखाशिखाभरणभक्तिरभंगुरा वः॥

स्तु० ३।४४

यहां वाच्यार्थ से ही सुन्दर अर्थाभिव्यक्ति हो रही है।

लक्षणा में अभिधा की अपेक्षा अधिक प्रभविष्णुता होती है। लाक्षणिक प्रयोग से अर्थ में कुछ वैशिष्ट्य आ जाता है जिसका अति सुन्दर निदर्शन स्तुतिकुसुमांजलि में दिया है—

---

१. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्। भामह, काव्यालंकार १।१६

२. वाच्यार्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः।
व्यंग्यो व्यंजनया, ताः स्युस्तिस्त्रः शब्दस्य शक्तयः॥ साहित्यदर्पण २।३

३. काव्यप्रकाश १।४

तज्ज्ञो बतास्म्यभिलषन् सुखमक्षयं यद् दुःखैकधाम वपुरस्थिरमर्थयामि ।
यद् वा भवाब्धितरणय पुराणमुग्रशीलं पुमांसमुडुपार्धधरं श्रयामि ।।
स्तु० ११।११५

सामान्यतः 'तज्ज्ञः' शब्द का प्रयोग 'बड़ा बुद्धिमान्' इस अर्थ में होता है। परन्तु प्रकरण एवं भाव के अनुसार इसका अर्थ "मैं महामूर्ख हूं" है। यहां लक्ष्यार्थ से कवित्व में सहज चमत्कृति आ गई है।

व्यंजना

लोक में यद्यपि वाच्य अर्थ की ही प्रधानता होती है, तथापि काव्य के क्षेत्र में व्यंग्यार्थ की प्रमुखता रहती है। रस, भाव, जो काव्य की आत्मा या प्राणाधायक तत्त्व हैं, व्यंग्य ही होते हैं। इस कारण काव्य में अभिधा और लक्षणा व्यापार से व्यंजना की ही प्रधानता रहती है।

प्रतिभा का यह सहज स्वभाव है कि वह लकीर की फकीर नहीं बनना चाहती। उसे स्वतंत्र भावाभिव्यक्ति के लिए विविध अवकाश मिलते हैं। लोक में यद्यपि वाच्य अर्थ की ही प्रधानता होती है, तथापि काव्यक्षेत्र में व्यंग्यार्थ की प्रमुखता रहती है। रस, भाव, जो काव्य की आत्मा या प्राणाधायक तत्त्व हैं, व्यंग्य ही होते हैं। इस कारण काव्य में अभिधा और लक्षणा व्यापार की अपेक्षा व्यंजना की ही प्रधानता रहती है।

अभिधा और लक्षणा शब्दशक्तियां जब अपने व्यापार से विरत हो जाती हैं, तो व्यंजना शब्दशक्ति व्यंग्यार्थ को व्यक्त करती है। व्यंजना शाब्दी और आर्थी दो प्रकार की मानी गई है।[1]

व्यंग्यप्रधान काव्य कवि की प्रतिभा को अधिक उल्लसित करने में समर्थ होता है। स्तुतिकुसुमांजलिकार की काव्यकला व्यंजना के विनिवेश में विशेष रूप से प्रतिफलित हुई है। शाब्दी व्यंजना का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

प्रस्तौति निस्त्रपतयार्तिकदर्थितेयं चाटूनि कर्तुमपि मौग्ध्यविसंस्थुलानि ।
कात्यायनीवचनदुर्ललितस्य तानि मुक्तोपमानि न मनस्तव नन्दयन्ति ।। स्तु० ११।१६

कवि कहता है कि मेरी वाणी शिव की प्रियतमा बनने के लिए, मानसिक व्यथाओं से पीड़ित हुई, निर्लज्जता के कारण भोले स्वभाव से विश्रृंखलित चाटुकारिता भी कर रही है, परन्तु मेरी वाणी की सुमनोहर भी चाटूक्तियाँ कात्यायनी (पार्वती) के वचनों से मोहित हुए आपके मन को रंजित नहीं कर सकतीं।

यहां 'कात्यायनी' पद पार्वती के अर्थ में प्रयुक्त है, परन्तु यह वाच्यार्थ कवि के भाव को व्यक्त करने में असमर्थ है क्योंकि कवि यहाँ अपने आराध्य शिव को एक

---

१. विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः ।
सा वृत्तिर्व्यंजना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ।। सा० द० २।१२

प्रकार से उपालम्भ-सा दे रहा है। अतः यहां 'व्यंजना से 'कात्यायनी' पद का अर्थ 'अर्द्धवृद्धा (अधेड़)' नायिका हो जायेगा। कवि कहना चाहता है कि हे शिव ! आप एक कात्यायनी (अर्द्धवृद्ध अधेड़ उम्र की स्त्री) के वचनों पर इतने मुग्ध हुए हो कि इस मुग्धा बालारूपी मेरी वाणी की मनोहर चाटूक्तियां भी आप को अच्छी नहीं लगतीं।

यहां पार्वती वाच्यार्थ है तथा अर्द्ध वृद्धा नायिका व्यंग्यार्थ है। 'कात्यायनी' पदपरिवृत्त्यसहिष्णु होने से यह शाब्दी व्यंजना का उदाहरण बनता है।

दोष

सामान्य रूप से काव्य में दोषों का अस्तित्व रसास्वाद में बाधक होने से यथाशक्ति वर्जित है। किन्तु सर्वथा दोषमुक्त काव्य का होना कठिन ही नहीं, असंभव समझा जाता है। स्तुतिकुसुमांजलि एक उत्कृष्ट स्तोत्रकाव्य होने पर भी इस नियम का अपवाद नहीं है।

रस की हीनता या विच्छेद के जो कारण हैं, वे दोष कहलाते हैं। रस का अपकर्ष तीन कारणों से होता है—एक तो रस की प्रतीति अर्थात रसास्वाद के रुक जाने से, दूसरे रस की उत्कृष्टता की विघातक किसी वस्तु के बीच में पड़ जाने से, तीसरे रसास्वाद में विलंब के करने वाले कारणों के उपस्थित होने से। इनमें से कोई भी कारण उपस्थित होने पर दोष कहलाता है।[1] प्रकृत ग्रन्थ स्तुतियों का है। अतः परमात्मा के गुणगान में दोष की चर्चा प्राय नहीं होनी चाहिए, तथापि काव्यदृष्टि से इस पर भी कुछ विचार आवश्यक है।

अप्रयुक्तत्व

व्याकरण, कोशादिकों में उस रूप में मान्य होने पर भी कवियों द्वारा जिस का प्रयोग न हुआ हो[2], उसे "अप्रयुक्त" कहते हैं और ऐसे शब्द का प्रयोग करने पर "अप्रयुक्तत्व" नामक दोष होता है। स्तुतिकुसुमांजलि[3] में "मयस्कर" शब्द का प्रयोग इस दोष का उदाहरण कहा जा सकता है क्योंकि "मयः" शब्द वेद (नमः शंकराय च मयस्कराय च[4]) में कल्याणवाचक है। परन्तु इस अर्थ में लोकप्रयुक्त नहीं है। अतः यहां अप्रयुक्त दोष है। इसी प्रकार एक अन्य स्थल[5] पर "कर" क्रियापद का

---

१. रसापकर्षका दोषाः ते पुनः पञ्चधा मताः।
पदे तदंशे वाक्येऽर्थे संभवन्ति रसेऽपि यत् ॥ सा०द० ७।१

२. अप्रयुक्तन्तथाऽऽम्नातमपि कविभिर्नोद्धृतम् ॥ काव्यप्रकाश ७।४३

३. यदि चिकीर्षसि सौहृदमात्मनः परिजिहीर्षसि यद्यघबन्धनम्।
यदि तितीर्षसि संसृतिसागरं श्रय मयस्करमीश्वरसेवनम् ॥ स्तु० १०।४६

४. यजुर्वेद, माध्यन्दिन संहिता १६।४१

५. तनुशंकरवैरसमा य तया तनु शंकरवै रस मा यतया।
तनु शंकरवै रसमायतया तनुशं कर वैरसमायतया ॥ स्तु० ३०।७७

प्रयोग दोष है। इस पद्य की संस्कृत टीका में लिखा है[1] कि यह वैदिक प्रयोग है[2], परन्तु लौकिक में भी स्तुति में प्रयुक्त होने के कारण दोष नहीं है। टीकाकार के इस कथन को यदि स्वीकार कर लिया जाये तब तो स्तोत्रों में दोषविचार ही व्यर्थ होगा। इस दोष का अन्य उदाहरण भी स्तुतिकुसुमांजलि (२३।११) में है।

नेयार्थता—

"नेयार्थता" दोष वह है जो किसी निषिद्ध लाक्षणिक शब्द के प्रयोग में दिखाई दिया करता है, क्योंकि बहुत ऐसे पद हैं जो रूढि अथवा प्रयोजन के अभाव में लाक्षणिक रूप से प्रयोग-योग्य नहीं हैं[3]।

"सहस्रचरणं रविं नयनपंकजान्तः स्थितम्।" स्तु० २०।४१

"चरण" शब्द का प्रयोग "किरण" अर्थ में "पाद" का पर्याय होने के कारण लक्षणया किया गया है, जो न रूढ है और न ही किसी विशेष प्रयोजन से प्रयुक्त हुआ है।

प्रक्रमभंग

प्रक्रम अर्थात् प्रस्ताव के भंग हो जाने को प्रक्रमभंग दोष कहा गया है। वाक्य-रचना के नियम "येन रूपेणोपक्रमस्तेनैवोपसंहार:" के अनुसार जिस रूप में वाक्य का उपक्रम हो, उसी रूप में उसका उपसंहार होना चाहिए। यदि इस नियम का पालन न हो तो यह दोष है।[4] स्तुतिकुसुमांजलि का निम्नलिखित पद्य इसका उदाहरण है—

निधाय चक्षुर्दहतो मनोभवं न कामहानिं प्रवितन्वतो दृशा।
अनष्टमूर्तेर्दधतोऽष्टमूर्तितां जयन्ति शंभोर्विविधा विभूतयः॥ स्तु० २९।१९

यहां पर "चक्षुः से काम को भस्मसात् कर दिया", यह न कह कर केवल "मनोभव को दृक् से भस्मसात् कर दिया" यह कहा है। अर्थात् "चक्षुः" से उपक्रम करके उपसंहार "दृक्" से किया है। अतः प्रक्रमभंग दोष है।

गुणसमीक्षा

जिस प्रकार शौर्य आदि धर्म आत्मा के साथ नियतावस्थित रहा करते हैं। वे

---

१. "कर" इति प्रयोगो भौवादिकस्य कृञः, मध्यमपुरुषैकवचने 'हि'-प्रत्यये प्रयोगश्छन्दसि। यथा "तेभ्योऽकरन्नमः" इति। छान्दसोऽपि प्रयोगो भाषायामपि भक्तिविषये प्रयुक्तः। "छान्दसा अपि क्वचिद् भाषायां प्रयुज्यन्ते, इति वचनात्॥ स्तु० ३०।७७ संस्कृत टीका

२. शिवनारायण शास्त्री, वैयाकरण सिद्धान्त कोमुदी, भ्वादिगण, भवतोषिणी, देखें।

३. काव्यप्रकाश ७।७२

४. काव्यप्रकाश ७।७४

आत्मतत्त्व की श्रीवृद्धि किया करते हैं। उसी प्रकार काव्य में प्रधानतया विराजमान रस के भी माधुर्य, ओज और प्रसादरूप धर्म, रस के साथ नियमतः अवस्थित रहते हुए रस-तत्त्व की वृद्धि में हेतु होते हैं। इसलिए गुणों को रस के धर्म कहा है।[१] आचार्य आनन्दवर्धन के कथन से भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि होती है।[२] आचार्य अभिनवगुप्त की गुणसंबंधी दृष्टि भी, जो वस्तुतः ध्वनिकार की उपर्युक्त दृष्टि से ही प्रभावित है, गुण को रस-धर्म से अपृथक्सिद्ध रूप में ही देखती है।[३]

यद्यपि गुणों की संख्या के संबंध में मतभेद है, तथापि प्रमुख आलंकारिकों ने (माधुर्य, ओज एवं प्रसाद) तीन ही गुण माने हैं।[४] अन्य गुणों का अन्तर्भाव इन्हीं में दिखलाया है।[५] माधुर्य का संबंध रति, करुणा आदि कोमल भावों से है। जिस कवित्व में सामाजिक का चित्त द्रवित होकर रसानुभूति करता है, वह माधुर्य गुण से युक्त है। आचार्य मम्मट ने संभोग को मधुर, करुण को मधुरतर, विप्रलम्भ को मधुरतम और शान्त को माधुर्य की पराकाष्ठा माना है।[६]

स्तुतिकुसुमांजलि में इस गुण के उदाहरण स्थान-स्थान पर विद्यमान हैं।

स्वामिन्, सौमनसं निबध्य वपुषि स्रग्दाम दृग्दामभि-
र्भस्मीभावितमन्मथस्य भवतो भिन्दन्ति भक्तिस्पृशः।
दोलान्दोलनविह्वलेन्दुवदनादोःकन्दलीचन्दन-
स्यन्दानन्दनिमीलितार्धनयनास्तापव्यथां मान्मथीम् ॥ स्तु० ३३।१७

माधुर्य—

माधुर्य गुण में आह्लाद हुआ करता है। उसमें इस प्रकार के वर्णों का अभाव होता है, जो कर्कश हों। इसमें ट, ठ, ड, ढ तथा श, ष, ज्ञ क्ष इत्यादि वर्णों का प्रयोग नहीं होता है। यदि रेफ णकार हों तो वे भी लघु हों।[७] समास का प्रायः अभाव होता

---

१. ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥ काव्यप्रकाश ८।६६

२. तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः। ध्वन्यालोक, पृ० २०४

३. ते च (माधुर्योजः-प्रसादा एव त्रयो गुणाः) प्रतिपत्रास्वादमया मुख्यतया तत आस्वाद्ये उपचरिता रसे। ततस्तद्व्यंजकयोः शब्दार्थयोरिति।
ध्वन्यालोक लोचन, पृ० २१३

४. त्रयस्ते न पुनर्दश। का० प्र० ८।६८

५. केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश ॥ का० प्र० ८।६९

६. करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्। का० प्र० ८।६९

७. विशेषार्थ शिवनारायण शास्त्री, काव्यादर्श प्रसादिनी, १।४७ देखें।

है। यदि कहीं पर समास होता भी है, तो वह अल्पसमास होता है। साहित्यदर्पणकार ने माधुर्य का लक्षण करते हुए कहा है—

चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते (८।२) इसमें प्रयुक्त वर्णों के विषय में वे कहते हैं—

मूर्ध्नि वर्गान्यत्वर्णेन युक्ताष्टठडढान्विताः।
रणौ लघू च तद्व्यक्तौ वर्णाः कारणतां गताः॥
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा। सा० द० ८।४

माधुर्य-गुण के उदाहरणार्थ एक पद्य प्रस्तुत है—

अंग भुजंगरचितांगदभंगितुंग त्वगत्तरंगगनांगनसंगिगंगम्।
बिभ्रद्विभुर्विहितरंगदनंगभंगभंगीकरोत्वरमभंगुरमिंगितं वः॥ स्तु० ३।८

इस श्लोक में शिव के सौन्दर्य (स्वरूप) का वर्णन किया गया है। यहाँ माधुर्य गुण आद्योपान्त पाठकों एवं श्रोताओं के हृदय को आह्लादित करता दिखाई दे रहा है। संयुक्त अक्षरों के होते हुए भी कवर्ग के अन्तिम वर्ण ङकार का संयोग पद्य में मधुरिमा उत्पन्न कर रहा है। तृतीय चरण में यद्यपि "बिभ्रद्विभु," में कुछ कठोरता आने लगी थी, पर कवि तत्काल पुनः सावधान हो गया एवं श्लोक की परिणति पुनः माधुर्य में की गई।

ओजस्

चित्त को उत्साहित करने एवं विस्फुरण करने का भाव जिसमें पाया जाय वह रचना ओजस् के अन्तर्गत आती है। इसमें प्रायः संयुक्त वर्ण होते हैं और वे भी वर्ग के प्रथम तृतीय के साथ संयुक्त होते हैं। ऊपर या नीचे या दोनों ओर प्रायः रेफ का संयोग तथा ट वर्ग तथा शकार षकार इसके अभिव्यंजक वर्णों में पाए जाते हैं। इसमें समास की अधिकता होती है। साहित्यदर्पण में ओजस् का यह लक्षण कहा है—

ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते।
वर्गस्याद्यतृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ॥ सा० द० ८।४-५

प्रस्तुत ग्रन्थ यद्यपि भक्ति-प्रधान है, फिर भी इसमें भगवान् के द्वारा इस विकट संसार की विकटता को दूर करने के लिए किए गए प्रार्थना के श्लोकों में तथा संसार की विषमता, भयंकरता को दिखाने के प्रसंग में ओज गुण का सहारा लिया गया। जैसे—

भिन्द्धि क्ष्माधरसन्धिबन्धमुदधेरम्भोभरं जृम्भय
क्षुन्द्धि क्ष्मापटलं दलत्फणिफणापीठोल्लुठत्सौष्ठवम्।
पिण्ड्ढि प्रौढचपेटपाटितरटत्ताराकुटुम्बं नभः
प्रारब्धोद्धतसान्ध्यताण्डव इति श्रीभैरवः पातु वः॥ स्तु० ३।५४

यहां पर कवि ने शंकर के ताण्डवनृत्य का वर्णों की नृत्यत्ता से चित्र सा दिखाया

है। साधारण नृत्य एवं शंकर के नृत्य में यही विलक्षणता है कि वह कुछ विकटता लिए हुए रहता है, अतः जहाँ साधारण नृत्य का चित्र कोमल शब्दों द्वारा खींचा जा सकता है, वहां शंकर के नृत्य की भयंकरता बोधित करने के लिए कवि ने इस प्रकार की विकटबन्धना को अपनाया है, जो कि वर्णनानुरूप होने से भक्ति-भावना को और अधिक बढ़ाने में सक्षम है। इस प्रकार के विशेष स्थल कई हैं।[1]

प्रसाद गुण

इस गुण की अपनी विशेपता है। झटिति अर्थबोध इसका अपना धर्म है। सभी रचना एवं सभी रसों में पाया जाना इसका स्वभाव है। साहित्यदर्पणकार प्रसादगुण की परिभाषा करते हुए लिखते हैं—

"चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः।
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च।
शब्दास्तद्व्यंजका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः।। सा० द० ८।७-८

प्रसादगुण के अभिव्यंजक प्रायः ऐसे शब्द होते हैं, जो झटिति अर्थबोधक हों। प्रस्तुत ग्रन्थ तो इस गुण का भण्डार है। कवि का हृदय प्रसादगुण से ही मानों प्रसन्न रहता था। आद्योपान्त प्रसादगुण से ओतप्रोत यह ग्रन्थ पाठकों को भक्ति-भावना सरित् में मज्जन कराता हुआ उनके कलमषों को हरता है। जिस के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

अनाथानां नाथो गतिरगतिकानां व्यसनिनां
विनेता भीतानां शरणमधृतीनां भरवशः।
सुहृद् बन्धुः स्वामी शरणमुपकारी वरगुरुः
पिता माता भ्राता त्रिजगति जयत्यन्तकरिपुः।। स्तु० ३५।१

उपर्युक्त पद्य में प्रसादमयी स्तुति भगवान् को बरबस अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ है। यहां कवि शब्द और अर्थ के चक्कर में न पड़कर, भक्त द्वारा सीधे-सादे शब्दों का प्रयोग करा कर भक्ति-भाव की वृद्धिमात्र करना चाहता है। अतः यह पद्य प्रसादगुण का सुन्दर उदाहरण बन गया है।

इस प्रकार प्रकृत ग्रन्थ में गुणों की दृष्टि से अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि कवि ने विषयानुरूप तथा रसानुरूप गुणों को अपनाने में पूर्ण सावधानी रखी है, जो कवि के गुणपाण्डित्य की परिचायिका है।

(च) रीति

कवित्व की अन्य मान्यताओं की तरह रीति भी विवाद का विषय रही है। भामह और दण्डी से लेकर विश्वनाथ तक ने जिस प्रकार रीति के संबंध में अपने

---

१. स्तु० कु० ३।५०, २०।१५, ३०।१०, ३१-३१

विचार व्यक्त किये हैं, उनसे रीतिसंबंधी कोई सर्वमान्य सिद्धान्त निकालना अत्यन्त कठिन हो जाता है। रीति के प्रधानाचार्य वामन हैं, जिन्होंने रीति को काव्यात्मा स्वीकार किया है तथा विशिष्ट पदरचना को रीति माना है।[१] कुन्तक ने रीति को "मार्ग" की संज्ञा दी है। उनके अनुसार काव्यरचना की विधि ही मार्ग है। जो सुकुमार विचित्र और मध्यम भेद से तीन प्रकार का है।[२] गुणों की भांति रीति भी तीन ही प्रमुख हैं। इन्हीं उपनागरिका, पुरुषा और कोमला को विश्वनाथ ने वैदर्भी, गौडी पांचाली तथा लाटिका नाम से कहा है। मम्मट ने इसे स्पष्ट किया है।[३] साहित्यदर्पण (९।१) में रीति की परिभाषा करते हुए लिखा गया है "पदसंघटना रीतिः"। अर्थात् रीति अंगों के संस्थान-विशेष के समान है। जिस प्रकार सुगठित सुन्दर शरीर मन को प्रसन्नतादायक होता है, इसी प्रकार ठीक-ठीक ढंग से सुनियोजित पद भी रस के उपकारक होते हैं। इसीलिए साहित्यदर्पणकार ने नीति को रसों का उत्कर्षाधायक माना है।[४] उन्होंने यद्यपि रीति के चार भेद माने हैं।[५] किन्तु चतुर्थ भेद जो लाटिका है, वह पांचाली और वैदर्भी के बीच का मानने से इसका पृथक् अस्तित्व इतना स्पष्ट नहीं बन सका। अतः रीति के तीन भेद ही वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली विशेषकर प्रसिद्ध हैं।

स्तुतिकुसुमांजलि में इस त्रिविध रीति का सुन्दर ढंग से प्रयोग हुआ है। प्रत्येक रीति के अनेक उदाहरण यहाँ समुपलब्ध हैं। जगद्धर भट्ट रीति के मर्मज्ञ विद्वान् थे। उन्होंने कविता के लिए रम्य रीति से समन्वित होना अनिवार्य माना है।[६]

वैदर्भी

"माधुर्य गुण के अभिव्यंजक शब्द जहाँ हों तथा सुन्दर ललित-रचना हो, एवं जहां समास न हो, अगर हों भी तो छोटे-छोटे समास हों वहाँ वैदर्भी रीति होती है।[७]

---

१. रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्टा पदरचना रीतिः। का० सू० १।२,६

२. सम्प्रति यत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः॥ वक्रोक्तिजीवित १।२४

३. केषांचिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः। का० प्र० ९।८१

४. उपकर्त्री रसादीनाम्। सा० द० ९।१

५. सा पुनः स्याच्चतुर्विधा, वैदर्भी चाथ गौड़ी व पांचाली लाटिका तथा॥
—साहित्यदर्पण ९।२

६. रम्यरीतिनिरघा। स्तु० १।३

७. माधुर्यव्यंजकैर्वर्णैं रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते॥ सा० द० ९।२-३

प्रकृत ग्रन्थ भक्तिप्रधान होने से वैदर्भी रीति का मानो भण्डार है, कवि ने स्वयं भक्तिभावना में लीन होकर प्रायः भक्तिभावना को जागृत करने वाले तथा इस प्रकार के माधुर्यमय पदों का प्रयोग किया है कि वैदर्भी के अनेक उदाहरण स्वाभाविक ही बन गए हैं। उदाहरण प्रस्तुत है—

यमेकमेव श्रयतो न जायते स्पृहा परस्मै महतेऽपि नाकिने ।

नमः समस्तापदपेतपालनव्रताय तस्मै विभवे पिनाकिने ।। स्तु० २।२५

इस श्लोक में कहीं भी टवर्ग, णकार, श, ष इत्यादि वर्गों का प्रयोग नहीं है। प्रत्येक पद पृथक्-पृथक् सुस्पष्ट है। यदि श्लोक के तृतीय पद में समास है भी तो वह अल्पसमास है। उसमें भी कहीं टवर्ग तथा णकार एवं श ष का प्रयोग नहीं है।

गौडी

ओजोगुणप्रकाशक वर्णों की प्रधानता तथा णकार, शकार, षकार टवर्ग का बाहुल्य एवं समासप्रधान रचना में गौड़ी रीति मानी जाती है। इसका लक्षण करते हुए लिखा गया है—

ओजःप्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः । समासबहुला गौड़ी ।। सा० द० ९।३-४

उदाहरणार्थ एक पद्य प्रस्तुत है—

नमः सान्द्रामृतस्यन्दिघनध्वनितशोभिने ।

महाकालाय भीष्मोष्मभवग्रीष्मक्लमच्छिदे ।। स्तु० २।११

इस श्लोक में भक्त उस महाकाल को प्रणाम कर रहा है, जो अतिभयानक संसार रूप ग्रीष्मकाल से उत्पन्न हुए खेद का छेदन करने में समर्थ है। अतएव इस विषय का प्रतिपादन करने में समर्थ कठोर वर्णों का प्रयोग किया गया है। जो महाकाल हो, भयंकर हो, उसके स्वरूप को अभिव्यक्त करने के लिए कवि ने ओजोमय शब्दों का चयन किया है, जिससे स्वतः ही गौडी रीति बन गई है।

पांचाली

आचार्य विश्वनाथ का कथन है कि पांचाली रीति एक प्रकार से गौडी और वैदर्भी का कुछ मिश्रित रूप है, जिनमें न एकदम समासबहुला रचना हो, और न एकदम समासरहिता, अपितु समास हो भी तो पांच-सात पद समासयुक्त हों[1]।

स्तुतिकुसुमांजलिकार ने अन्य रीतियों की अपेक्षा इसका अधिक प्रयोग किया है। ऐसे अनेक पद्य हैं जहां न एकदम वैदर्भी रीति ही मानी जा सकती है और न गौड़ी। एक उदाहरण देखिये—

निपततां विषमे विपदम्बुधौ यदवलम्बनमस्तविडम्बनम् ।

जगदमंगलभंगविधायि तज्जयति रत्नमहो शिवसेवनम् ।। स्तु० १०।३

---

१. वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः ।

समस्त-पंचषपदो बन्धः पांचालिका मता ।। सा० द० ९।४

प्रकृत पद्य में चार पद समस्त हैं तथा अन्य असमस्त एवं कुछ वर्ण संयुक्त हैं तथा कुछ स्वतन्त्र (असंयुक्त) हैं। अतः यह पद्य पांचाली का सुन्दर उदाहरण है।

इस प्रकार रीतिसम्बन्धी समीक्षा करने पर यह निर्णय दिया जा सकता है कि प्रकृत ग्रन्थ में रीति की योजना अत्यन्त सफलता पूर्वक हुई है।

स्तुतिकुसुमांजलि में अलंकारों की स्थिति

(क) अलंकार और काव्य

जिस प्रकार एक रमणी के निसर्गरमणीय शरीर को अधिक कान्तिमय बनाने के लिए उसे कटक, कुण्डल, मणिहार आदि से भूषित किया जाता है, उसी प्रकार कविता कामिनी का कलेवर सजाने के लिए अनुप्रासादि शब्दालंकारों की अपेक्षा होती है। शब्दालंकार वाह्य रूप को सजाते हैं तो अर्थालंकार अंतरंग शरीर को।

शब्दालंकारों में भी जहां अनुप्रास आदि का उपयोग केवल पदझंकार, संगीतात्मकता व ध्वनिचित्रों के निर्माण के लिये किया जाता है, वहां यमक, श्लेष आदि का उपयोग प्रौढ़ता एवं गठन लाने के लिए किया जाता है। यदि अल्प मात्रा में इनका उपयोग हो तो आन्तरिक चमत्कार की वृद्धि में भी सहायक होते हैं, पर अधिक प्रयोग पाण्डित्यप्रदर्शन के अतिरिक्त रसास्वाद में कुछ भी सहायता नहीं करता।

स्तुतिकुसुमांजलिकार भी उस युग का कवि है जिसमें पाण्डित्यप्रदर्शन की प्रवृत्ति कवियों में व्यापक रूप से थी। इसके मोह में पड़ कर रसप्रवणता की उपेक्षा भी कवि कर बैठते थे। अन्यथा एक भक्त का जो अपने उपास्य के चरणों में आत्म-निवेदन के लिए प्रस्तुत है, भावाभिव्यक्ति में बाधक चित्रकाव्य से क्या प्रयोजन ? परन्तु इस प्रवृत्ति का लोभसंवरण जगद्धर भी नहीं कर सका और उसने स्तोत्र में यमक का और चित्रकाव्य का बहुत प्रयोग किया है। उसका विवेचन यथास्थान किया जायेगा।

(ख) अलंकार की परिभाषा

मानव मन सौन्दर्य का उपासक है। प्रत्येक पदार्थ में सौन्दर्य को देखने की उत्कट अभिलाषा और प्रत्येक पदार्थ को सुन्दर बनाने की प्रवृति मानव का सहज स्वभाव है। जिस प्रकार वह अपने रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा आदि सभी को सुन्दर बनाने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार वह अपने भावों को भी सुन्दर से सुन्दर ढंग से ही प्रस्तुत करना चाहता है। भाषा की सुन्दरता के लिए काव्य में अलंकारों का जन्म हुआ है।

अलंकार की परिभाषा विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। किसी ने सौन्दर्य मात्र को अलंकार माना है।[1] किसी ने चारुता और अलंकारों में अभेद स्थापित

---

१. सौन्दर्यमलंकारः। काव्यालङ्कारसूत्र १।१।२७, वामन।

करने का प्रयत्न किया है ।[१] किसी ने शब्दार्थ की विच्छित्ति का नाम अलंकार रखा है ।[२] और किसी ने हृदयावर्जक अर्थ के प्रकाशन का नाम अलंकार दे दिया है,[३] मम्मट इन्हें हारादि की तरह मानते हैं[४], विश्वनाथ भी लगभग मम्मट का अनुमोदन करते हैं ।[५]

(ग) वर्गीकरण

उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए हम अलंकारों का प्रयोग करते हैं। कभी स्पष्टता के लिए हम सदृश लोकमान्यताओं से तुलना करते हैं। कभी विस्तार के लिए बात को बढ़ा-चढ़ा कर कहते हैं, कभी आश्चर्य के लिए औचित्य की प्रतिष्ठा करते हैं, तो कभी जिज्ञासा और कौतूहल के लिए कल्पना और वक्रता का सहारा लेते हैं। इन मनोवैज्ञानिक आधारों पर अलंकारों का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है—

१. साधर्म्यमूलक—उपमा, रूपक, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास आदि ।
२. अतिशयमूलक—अतिशयोक्ति, सार, उदात आदि ।
३. वैषम्यमूलक—विरोध, विभावना, असंगति, व्याघात, आक्षेप आदि ।
४. औचित्यमूलक—यथासंख्य, कारणमाला, एकावली, स्वभावोक्ति आदि ।
५. वक्रतामूलक—पर्याय, व्याजस्तुति, प्रशंसा, सूक्ष्म आदि ।
६. चमत्कारमूलक—श्लेष, यमक, चित्र आदि ।

(घ) अलंकारों के प्रकार

अलंकारों को तीन भागों में विभाजित किया गया है—

१. शब्दालंकार—चमत्कार जब शब्दों में होता है ।
२. अर्थालंकार—जब अर्थ में चमत्कार होता है ।
३. उभयालंकार—शब्द एवं अर्थ दोनों ही चमत्कारयुक्त हों ।

(ङ) स्तुतिकुसुमांजलि में अलंकार

जगद्धर भट्ट ने अपने स्तोत्र ग्रन्थ में प्रायः सभी प्रकार के अलंकारों का प्रयोग किया है। सभी अलंकार उनकी कलात्मक उच्चता के परिचायक हैं। यों तो साम्य-मूलक तथा विरोधमूलक आदि अलंकारों का पर्याप्त प्रयोग किया है, किन्तु विरोध-मूलक अलंकारों की संख्या अधिक है। इनके काव्य में विरोध तथा विरोधाभास काफी

---

१. चारुत्वमलंकारः। व्यक्तिविवेक, टीका, पृ० ३९८
२. तथा च शब्दार्थयोर्विच्छित्तिरलंकारः ॥ वही, टीका, पृ० ३५२
३. ततो यावन्तो हृदयावर्जकार्थप्रकाशास्तावन्तोऽलंकाराः । काव्यसाहित्य और संस्कृति, नामिसाधु, पृ० १४९
४. हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः। का० प्र० ८।६७
५. रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्ते कटकादिवत्। सा० द० १०।१

है। साम्यमूलक अलंकारों की संख्या भले ही कम है, परन्तु 'उपमा' अलंकार का प्रयोग सब अलंकारों से अधिक हुआ है। जगद्धर भट्ट ने अपने स्तोत्रों में कुल मिलाकर एक सौ तीस बार उपमा अलंकार का प्रयोग किया है।

शब्दालंकारों में अनुप्रास एवं यमक का अधिक प्रयोग है। यमक के प्रयोग ने कई स्थलों पर कवित्व के चमत्कार को भी मन्द कर दिया है। पूरे के पूरे कई स्तोत्र ही यमक अलंकार के हैं। जहां केवल शब्दचमत्कृति का प्राधान्य है। कवि ने दोनों तरह के अलंकारों की सुन्दर योजना की है।

शब्दालंकार

१. अनुप्रास

वर्णों (व्यंजनों) के सादृश्य को 'अनुप्रास' कहते हैं।[1] इसके पांच भेद किये गए हैं—(१) छेकानुप्रास, (२) वृत्त्यनुप्रास, (३) श्रुत्यनुप्रास, (४) लाटानुप्रास, (५) अन्त्यानुप्रास।[2]

(१) छेकानुप्रास

एक से अधिक व्यंजन का एक बार जो सादृश्य है उसे 'छेकानुप्रास' कहते हैं।[3] यथा—

मा भूद् भूयोऽभ्यसनसुलभाऽऽन्वीक्षिकी नाम विद्या
हृद्या दूरे विहरतु विपत्खण्डिनी दण्डनीतिः।
क्वापि स्थेम्ना लसतु कलितोल्लाघवार्तापि वार्ता
नार्तावहं किमपि शरणं शम्भुभक्तिं विनाऽन्यत्॥ स्तु० १७।१६

इस पद्य में द् और य (विद्या, हृद्या) तथा र् और त (जैसे वार्ता वार्ता), ण् और ड (जैसे खण्डिनी, दण्डनी) व्यंजनों का एक बार सादृश्य प्रतीत होता है। व्यंजनों की ऐसी आवृत्ति रसभावादि की प्रतीति में व्यवधान नहीं उपस्थित करती और इसीलिए इसे विदग्ध अर्थात् सहृदय लोगों का अनुप्रास माना जाता है।

(२) वृत्त्यनुप्रास

जहां एक अथवा एक से अधिक व्यंजनों का एक से अधिक बार सादृश्य हो उसे वृत्त्यनुप्रास कहा है।[4] यथा—

स्वामिन्नबान्धवतया वत या तवेयं वाणी मया निजगदे जगदेकबन्धोः।
तामन्तकान्तकर शंकर शंसतो मे कर्णे कुरुष्व करुणां करुणाम्बुराशे॥
स्तु० ६।५६॥

---

१. वर्णसाम्यमनुप्रासः। काव्यप्रकाश ६।७६ २. काव्यप्रकाश ६।८०
३. का० प्र० ६।७६ ४. का० प्र० ६।७६

इस उदाहरण में 'वतया', 'जगदे', 'अन्तक', 'कर' और 'कुरु' के रूप में एक व्यंजन तथा अधिक व्यंजनों का सादृश्य वृत्त्यनुप्रास का सुन्दर उदाहरण है ।

(३) श्रुत्यनुप्रास

तालु, कण्ठ, मूर्धा, दन्त आदि किसी एक स्थान से उच्चरित होने वाले व्यंजनों की समता को श्रुत्यनुप्रास कहते हैं ।[1] जैसे—

जगद्विधेयं ससुरासुरं ते भवान् विधेयो भगवन् कृपायाः ।
सा दीनताया नमतां विधेया समास्त्ययत्नोपनतैव सेति ।। स्तु० १२।५।।

यहां पर सा, दीन, में सबका स्थान दन्त होने से श्रुत्यनुप्रास का उदाहरण बनता है ।

(५) अन्त्यानुप्रास

पहले स्वर के साथ ही यदि यथावस्थ व्यंजन की पादान्त में आवृत्ति हो तो वह अन्त्यानुप्रास कहलाता है ।[2] उदाहरण—

मुक्तावलीव रहिता शिवनायकेन मुक्ता भवद्गणसभेव विनायकेन ।
वाणी त्वया परिहृताऽखिलनायकेन संभाव्यते हृदयसंवननाय केन ।।

स्तु० ९।४६

यह उदाहरण अत्यन्त श्रेष्ठ है । इसके चारों चरणों में 'नायकेन' पद की आवृत्ति अन्त में हुई है ।

२. यमक

यदि अर्थवान् हो, तो भिन्न अर्थ वाले स्वर व्यंजन समुदाय की उसी क्रम से आवृत्ति को यमक कहते है ।[3]

स्तुतिकुसुमांजलि में 'यमक' के उदाहरण खोजने की आवश्यकता नहीं है । कोई स्तोत्र ऐसा नहीं है, जिसमें कोई न कोई'यमक' न हो । स्तुतिकुसुमांजलि में २२वें स्तोत्र से आरम्भ कर ३१वें स्तोत्र तक, सर्वत्र ही यमक का विविध प्रकार से प्रयोग किया है । जिन पद्यों में यमक का प्रयोग किया है उनकी संख्या २६७ है । उदाहरणार्थ एक पद्य प्रस्तुत है—

देवं यदेवं यमकैर्महेशं तुष्टाव तुष्टावसरोचितं गीः ।
शस्यो यशस्यो यमुपस्थितोऽस्मादेनोभिदे नोऽभिमतः प्रसादः ।। स्तु० २६।३४

समग्र सस्कृत वाङ्मय पर दृष्टिपात करने से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक साहित्य का स्वरूप सरलता एवं स्वाभाविकता को लिए हुए प्रसादगुण सम्पन्न था । परन्तु कालक्रम के अनुसार आगे चलकर साहित्य के साथ-साथ, उसके सिद्धान्तों पर

---

१. साहित्यदर्पण १०।५ २. साहित्यदर्पण १०।६ ३. साहित्यदर्पण १०।८

भी विचार होने लगा। इसी का फल है कि कविता अपने उस सहज सरल रूप को त्याग कर धीरे-धीरे काव्य-सिद्धान्तों के चक्र में फंस गई।

एक समय ऐसा भी आया जब तुकबन्दी एवं शब्दचित्रयोजना को ही कवित्व का महान् गुण समझा जाने लगा। ऐसे अनेक कवि हुए जिन्होंने कविता में नवीन भावों के समावेश को त्याग कर, केवल शब्द-चमत्कार में ही अपनी प्रतिभा लगाई।

जैसाकि मनमोहन लाल जगन्नाथ शर्मा ने कहा है, "अर्थप्रसार के स्थान पर अर्थक्लिष्टता कविता पर छा गयी। स्वाभाविकता का स्थान कृत्रिमता ने ले लिया[१]।" यद्यपि स्तुतिकुसुमांजलि के अधिकांश भाग पर यह मत नहीं घटता है तथापि कुछ स्तोत्र निश्चित ही इन विचारों की पुष्टि करते हैं। जगद्धर ने अपने स्तोत्रकाव्य में 'यमक' का प्रदर्शन विशेष रूप से किया है।

स्तुतिकुसुमांजलिकार के उन पद्यों को देखकर ऐसा लगता है कि ये ही चित्र-काव्य के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। भाषा पर पूर्ण अधिकार होने के कारण, शब्दभण्डार इतना विपुल है कि चित्रकाव्य के अनेक प्रकारों में कविता कर डाली। यमक तथा अनुप्रास को लोगों ने तुकबन्दी एवं चित्रकाव्य में विशेष स्थान दिया है। स्तुतिकुसुमांजलि में यद्यपि अनेक स्थलों पर चित्रकाव्य के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं,[२] परन्तु एक स्थल तो ऐसा आता है[३] जहां कवि अपने लक्ष्य को भूलकर मध्य युग के चित्रकाव्य का प्रतिनिधि अपने को समझ बैठता है जिसके फलस्वरूप लगातार अनेक स्तोत्रों के सैकड़ों पद्य चित्रकाव्य के ही बना देता है।[४]

यद्यपि स्तुतिकुसुमांजलिकार के चित्रकाव्य अर्थों से विलक्षण हैं। इनकी कविता में शब्दार्थचित्र के साथ-साथ भावमयी रससरिता का प्रवाह भी अविच्छिन्न चलता है, जिससे कविता अपने सहज स्वरूप के बल पर पाठक या श्रोता को बरबस आकर्षित कर लेती है।

स्तुतिकुसुमांजलि में कवि ने बाईसवें सर्ग से लेकर तीसवें सर्ग तक नौ स्तोत्रों की रचना में चित्रकाव्य का आश्रय लेकर किसी में 'कादिपदबन्ध', किसी में शृंखला-बन्धन, किसी में द्विपद यमक, किसी में आदि यमक, किसी में पादान्त यमक, और 'महायमक' तक को गुम्फन करके अपनी कवित्व शक्ति की सामर्थ्य और लोकोतर प्रतिभा को दिखलाया है। विशेषता यह है कि उसकी ऐसी काव्य-रचना में विशेष क्लिष्टता नहीं है।

---

१. महाकवि माघ, पृ० ३५०
२. स्तु० २८।१५
३. वही ३ वां स्तोत्र
४. वही ३०वां स्तोत्र

उदाहरणार्थ एक पद्य प्रस्तुत है—

देवालये वसतिमर्थयते कपोतः सिन्धौ वणिग्भजति वृत्तिमशंकपोतः ।
पृष्ठे श्रियं वहति नित्यमनेकपोतस्त्वद्भक्तिमेमि सरसीमिव भेकपोतः ।।

स्तु० ६।४२

इस पद्य में कैसा सुन्दर भाव है । कैसा सुन्दर स्वाभाविक अनुप्रास है । कितना प्रसाद और माधुर्य गुण भरा है । कपोतः, अशंकपोतः, अनेकपोतः और भेकपोतः, ये सभी पद सरल हैं । इस प्रकार सर्वत्र 'कपोत' की सिद्धि होने पर भी अर्थज्ञान में विशेष बाधा नहीं । अर्थ है कपोत (कबूतर) उपद्रवों की आशंकाओं से रहित देवालय में निवास चाहता है, पोतवणिक् (जहाज का व्यापारी) निःशंक होकर समुद्र में जीविका करता है और अनेक प (हाथी) नित्य अपनी पीठ पर महालक्ष्मी को धारण किए चलता है, अतः जैसे भेक-पोत (मेंढक का बच्चा) निर्मल सरसी (सरोवर) का आश्रय लेता है, वैसे ही मैं आपकी भक्ति की शरण लेता हूं ।

स्तुतिकुसुमांजलि में चित्रकाव्य के निम्नोक्त रूप उपलब्ध हैं—कादिपदबन्ध[१], शृंखलाबन्ध[२], द्विपादयमक[३], पादादियमक[४], पादमध्ययमक[५], पादान्त-यमक[६], पादाद्यन्त-यमक[७] ।

इस प्रकार संक्षिप्त विचार करने पर यही सिद्ध होता है कि यमक का प्रयोग

---

१. काव्यकौशलकलासुकोविदैः कीर्तितः कविकुलैः कुतूहलात् ।
कौमुदीकुमुदकान्तकीर्तिभिः कामितः कुशलकार्यकारिभिः ।। स्तु० २२।१

२. जगति विबोधितविधुरं विधुरंजितचारुशेखरं गिरिशम् ।
गिरि शंसामि ससाध्वससाध्वसमानन्ददानपरम् ।। वही २३।१

३. वचसि सरस्वती मे विभवं प्रकटय जातरसारम् ।
नुतिभिरुपस्तुहि देवि भवं सकलसुरान्तरसारम् ।। वही २४।१

४. हन्तापहन्तापदुपद्रवाणां यस्याक्षयास्याक्षणिकः प्रसादः ।
सन्तापसन्तापहरा प्रपेव कान्तारकान्ता रसना च यस्य ।। वही २६।१

५. न हरिणा हरिणार्कशिखामणे न विधिना विधिनाऽपि सपर्यता ।
तव पुरा वपुराममृशे वयं क्व नु भवानुभवावृतचेतसः ।। वही २७।६

६. अन्तश्चेतसि निर्वृतिर्न गमिता नाशं कया शंकया
नैषा पुष्यति तेन संहृतगतिः शोभारती भारती ।
भक्तिः किं तु विजृम्भते मम यथैवाभा स्वतो भास्वतो,
यादृक्तादृगतः किमप्यभिदधे संप्रत्यहं प्रत्यहम् ।। वही २८।१

७. नागाधमाप तव हृन्मम धीरनागा नागालयं सुरपुरीव सकाचनागा ।
नाऽगात् परत्र च सृजन्त्यकदर्थनागा नागाश्रितेन्द्रदिगिवोन्नतनन्दनागा ।।

स्तु० ३०।५२

स्तुतिकुसुमांजलिकार ने अधिकांश पद्यबन्धों की सजावट के लिए ही किया है। इस प्रकार के यमक पद्य के एक भाग में होते हुए भी सारे पद्य को चमत्कृत कर देते हैं। यमक के प्रयोगों में कवि ने कहीं-कहीं जादूगरी जैसा कार्य भी किया है।

३. वक्रोक्ति

किसी के एक अभिप्राय वाले वाक्य की किसी के द्वारा दूसरे अभिप्राय से योजना, चाहे वह श्लेष के आधार पर हो, चाहे काकु (ध्वनिविकार) के द्वारा हो, वक्रोक्ति कहते हैं। जो—(१) श्लेषवक्रोक्ति, (२) काकुवक्रोक्ति भेद से दो प्रकार का है।[1] श्लेष भेद से वक्रोक्ति के दो भेद होते हैं—पदभंगश्लेष वक्रोक्ति तथा अभंग-श्लेष वक्रोक्ति।

पदभंगश्लेष वक्रोक्ति का उदाहरण जैसे—

सुदुर्लभोऽयं भवति ग्रहः पुनर्मुखेऽप्यसौ सन्निहिता सरस्वती।
इदं कुरुक्षेत्रमतीव पावनं किमर्थमर्थिन्युचिते विलम्बसे॥ स्तु० १२।१३

यहां भक्त अपने भगवान के सम्मुख अपने अभिप्रेत अर्थ में प्रयुक्त पदों को दूसरे अर्थों में ले लेकर अपने कथन की बारीकी दिखाना चाहता है। इस पद्य में अन्य शब्द तो ऐसे हैं, जो एक से अधिक अर्थ को बतलाते हैं, इस कारण इनके खण्ड-खण्ड करने की आवश्यकता नहीं हैं। किन्तु "कुरुक्षेत्रम्" पद ऐसा है जिसका खण्ड किए बिना अभिप्राय (कुरुक्षेत्र नामक तीर्थस्थान) तथा (कुरु=करो, क्षेत्रं=स्थान) स्पष्ट नहीं होता है। अखण्डपद का जर्थ है, कुरुक्षेत्र नामक स्थानविशेष तथा खण्ड करने पर अर्थ होगा मेरे शरीर रूपी क्षेत्र को पवित्र करो।

अभंगश्लेष वक्रोक्ति, जैसे—

भक्तप्रियः स्वयमपि क्षुधयान्वितस्य पानोत्सवैकरसिकोऽपि पिपासितस्य।
तापातुरस्य घनसेवनसादरोऽपि जानासि नाथ न कथं सहसा ममार्तिम्॥
स्तु० ११।६८

इस पद्य में पद का खण्डन किये बिना ही एक पद दो अभिप्रायों को प्रकट करने वाला हो जाता है। यहां "भक्तप्रियः" का सीधा अर्थ है कि जिसे भक्त प्यारे हों। दूसरा अर्थ है जिसे तण्डुल (भात) प्यारे हों। इसी प्रकार "पानोत्सवैकरसिकः", "घनसेवनसादर" शब्द भी बिना खण्ड किये ही दो भावों को व्यक्त करते हैं—पान= रक्षण (पा रक्षणे), पान (पा पाने) तथा घन=गहरा, घना, मेघ।

काकुवक्रोक्ति, जैसे

या दुर्लभा दिवि महर्षभयानकस्य कालस्य या निधनधामभयानकस्य।
वाचा तयाकृतनतेरभयानकस्य तुल्यश्रियाऽर्पयसि शं शुभया न कस्य॥
स्तु० ६।४४

---

१. काव्यप्रकाश ६।७८

इस पद्य में काकु अथवा ध्वनि-विकार के आधार पर वक्रोक्ति "शुभयान कस्य" इत्यादि में है। यहां साधारण रूप से तो अर्थ है कि किसी के लिए शुभ नहीं है, परन्तु भक्त का अभिप्राय है कि सभी के लिए शुभ है। उच्चारण के भेद से अर्थ होगा, भला किसको शुभ नहीं है। बिना किसी पद के भंग के केवल काकु (ध्वनि विकार) के कारण अर्थ कितना बदल गया है।

४. श्लेष

श्लिष्ट पदों के अनेक अर्थों का अभिधान होने पर श्लेषालंकार होता है।[1] उदाहरण—

प्रणयेन चिरं प्रसादिता मदनाशाकुलितेन चेतसा।
तरुणी करुणा करोति ते न कथं नाथ हृदि स्थिरं पदम् ॥ स्तु० १५।२३

यहां पर "मदनाशाकुलितेन" पद का अर्थ है "मद के नाश से आकुलित (चित्त) के द्वारा।" दूसरा अर्थ है मदन (कामदेव) की आशा से विह्वलित हुए चित्त द्वारा। एक पद के दो अर्थ होने के कारण यहां श्लेष अलंकार बनता है।

५. पुनरुक्तवदाभास

ऊपर-ऊपर देखने पर जहां अर्थ की पुनरुक्ति प्रतीत होती हो, वहां भिन्न स्वरूप वाले समानार्थक शब्दों वाला "पुनरुक्तवदाभास" नामक अलंकार होता है।[2]

अम्बरेण गगनेन संवृतं, जीवनैः शिरसि वारिभिः श्रितम्।
भोगिभिश्च भुजगैर्विभूषितं, शंकरं शुभकरं भजामहे॥ स्तु० १।२१

पुनरुक्तवदाभास का यह सुन्दरतम उदाहरण है। यहां "अम्बरेण गगनेन" इन दो में से दसरा (गगनेन) ही परिवृत्ति को सहन कर सकता है। यदि "गगनेन" को बदलकर उसके स्थान पर आकाशेन अथवा अन्य कोई पर्यायवाचक दूसरा शब्द रखें तो भी यह अलंकार बना रहेगा, अतः "गगनेन" शब्द परिवर्तन का सहिष्णु है। परन्तु "अम्बरेण" शब्द नहीं बदला जा सकता। "अम्बरेण" के स्थान पर "वस्त्रेण" आदि शब्दों को रख दें तो फिर यह अलंकार नहीं रहेगा क्योंकि उस दशा में अर्थ का पौनरुक्त्य प्रतीत नहीं होगा। अतः "अम्बरेण" पद परिवृत्ति को सहन नहीं कर सकता। "भोगिभिश्च भुजगैः" में भोगिभिः पद भी परिवृत्ति को सहन करने में असमर्थ है, जबकि दूसरा पद भुजगैः, परिवृत्तिसहन में समर्थ है। इसी प्रकार "जीवनैः, "वारिभि, और "शंकर", "शुभकर" में भी अर्थ पुनरुक्तवद् आभासित होता है। अतः इस पद्य के चारों पादों में एकेक पुनरुक्तवदाभास अलंकार है।

अर्थालंकार

जगद्धर भट्ट ने अपने विविध स्तोत्रों में अर्थालंकारों का तो स्पष्ट रूप से सफल प्रयोग किया है जिनका सोदाहरण विवेचन आगे के पृष्ठों में देखिए—

१. साहित्यदर्पण १०।११ २. साहित्यदर्पण १०।२

उपमा

इस अलंकार को सर्वप्राचीन एवं सर्वमान्य होने के अतिरिक्त कवित्व के सौन्दर्य-वर्धन के लिए भी सर्वश्रेष्ठ माना गया है। अतएव सभी आलंकारिकों ने अलंकार ग्रंथों में अर्थालंकारों का आरम्भ उपमा से किया है। उपमा अनेक अर्थालंकारों का मूल तथा काव्यसौन्दर्यवृद्धि में विशेष हेतु है। रुय्यक ने कहा है—

"**उपमैवानेकप्रकारवैचित्र्येणानेकालंकारबीजभूता** (अलंकारसर्वस्व १२)। इसी बात को राजशेखर प्रकारान्तर से परिपुष्ट करते हैं—

अलंकारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्।
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम ॥[1]

पूर्वोक्त प्रकार से उपमा का वैशिष्ट्य स्वीकार करते हुए आलंकारिकों ने इसके अनेक भेदोपभेदों का वर्णन किया है। मम्मट, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ ने उपमा के २५ भेद स्वीकार किये हैं। परन्तु सौन्दर्य की दृष्टि से उपमा के तीन (पूर्णोपमा, लुप्तोपमा तथा मालोपमा) भेद ही विशेष सौन्दर्यजनक एवं हृदयाह्लादक हैं।

जगद्धर भट्ट ने अपनी स्तुति कविता में उपमा का सहज एवं सफल प्रयोग किया है। इस काव्य में कुल मिलाकर १३० बार उपमा प्रयुक्त हुई है, जहां विविध उपमानों का चयन कर उपमापाण्डित्य का परिचय दिया है।

मम्मट ने उपमा के लक्षण में कहा है—"जिसमें उपमान और उपमेय का, उनमें भेद होने पर भी, परस्पर साधारण धर्म से सम्बद्ध होना दिखाया जावे, वह उपमा है।"[2]

इस लक्षण के परिप्रेक्ष्य में, जगद्धर की उपमाएं द्रष्टव्य हैं।

पूर्णोपमा का उदाहरण, जैसे—

अन्तर्धृताहिमकरज्वलनोदितेन्दुः स्वःसिन्धुसंगसुभगा परमेश्वरस्य।
औदन्वतीव तनुरस्तु गजाश्वरत्नश्रीलाभकृतसुमनसाममृताय दृग्वः ॥ स्तु० ३।३६

यह पद्य श्लिष्ट पूर्णोपमा का उत्कृष्ट उदाहरण है। कवि ने यहां अपने इष्ट-देव की दृष्टि की समानता समुद्र से की है। इस प्रकार उपमेय पद "दृक्" है और "औदन्वती तनुः" उपमान है। "इव" वाचक शब्द है। शेष विशेषण साधारण होने से दोनों पक्षों में समान रूप से घटते हैं। "अमृताय अस्तु" इतना वाक्यांश क्रियापद रूप में समान धर्म है, केवल "अस्तु" नहीं क्योंकि उससे कुछ भी सामान्य प्रकट नहीं होता। यहां विशेषता यह है कि प्रायः सभी श्लिष्ट पदों में अभंगश्लेष है। केवल "परमेश्वरस्य", "दृग्", "वः", ये तीनों पद ही श्लिष्ट नहीं हैं। इसके अतिरिक्त

---

१. काव्यमीमांसा, भूमिका, पृ० १५ २. काव्यप्रकाश, १०।८७

"ओदन्वती तनुः" का सम्बन्ध "परमेश्वरस्य" के साथ भी है। इससे दार्शनिक भाव-भूमि बनती है। शंकर की आठ मूर्तियों में जल भी है। "औदन्वती तनुः" दोनों परमेश्वर से ही सम्बद्ध हैं। इससे ध्वनित होता है कि वस्तुतः दोनों के बीच तात्त्विक भेद नहीं है। उपमेय-उपमान का भेद भ्रान्तिमात्र है। इससे एकमात्र परमेश्वर की सत्ता ध्वनित होती है, जोकि शैव वेदान्त का सिद्धान्त है। इस प्रकार उपमा केवल अर्थ-चमत्कार के लिए प्रयुक्त नहीं हुई है। वह कवि की गूढ़ अद्वैतभावना की अभिव्यक्ति के लिए है।

पूर्णोपमा के अन्य स्थल[1] देखे जा सकते हैं।

लुप्तोपमा

उपमा के उपमान, उपमेय, वाचक तथा साधारण धर्म, ये चार तत्त्व हैं। इनमें से किसी एक का अथवा अधिक का उल्लेख न होने से लुप्तोपमा अलंकार होता है। यह पूर्णोपमा से विपरीत है। इसमें धर्म का लोप होने पर धर्मलुप्ता, वाचक का लोप होने पर वाचकलुप्ता, इन दोनों का लोप होने पर द्विलुप्ता आदि लुप्तोपमा के भेद होते हैं। लुप्तोपमा का विश्लेषण करते हुए मम्मट ने कहा है—"पूर्णोपमा वह है जहां उपमान, उपमेय, साधारण धर्म एवं उपमावाचक शब्द, ये चारों (उपमा के अंग) जहां स्पष्ट हों, और लुप्तोपमा वह है, जहां इनमें से एक अथवा अधिक का लोप (अनिर्देश) रहता है।"[2]

उदाहरण द्रष्टव्य है—

उत्तप्तहेमरुचिचन्द्रकलाकलापे बालप्रवालरुचिरे च करे कपालम्।
ताम्रेऽधरे च हसितं सितमद्‌भुतेयं विच्छित्तिरिन्दुशिरसः कुशलं क्रियाद् वः॥

स्तु० ३।३०

इस श्लोक में कलाप (जटाजूट) उपमेय है, अग्नि में तपाया हुआ सुवर्ण उपमान है, रुचि (कान्ति) दोनों का साधारण धर्म है, परन्तु उपमावाचक शब्द का लोप है। अतः ये दोनों स्थल वाचकलुप्तोपमा के हैं।

मालोपमा

जहां एक उपमेय के अनेक उपमान हों, वहां मालोपमा अलंकार होता है।[3] कतिपय उदाहरण देखिए—

---

१. स्तु० कु० ३।४६, ५३, ५।५ १७, २१, ७।२, ८।११, ५२, ९।१०, ४२, १०।३० ६२, ६३, १६।१०, २०।१६, २४।८, २५।३, २०, २३, २६।१६, २०, २८।१५, २२, २९।१, १७, ३०।४८, ६५

२. काव्यप्रकाश, वृत्ति १०।८७

३. मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते॥ सा०द० १०।२६

आपन्नतापहरणप्रवणा घृणेव त्वंगत्तरंगसुभगा गगनापगेव।
पीयूषसारशिशिरा शशभृत्कलेव वाणी शिवैकशरणा जयतीश्वरीव ॥ स्तु० ५।१

इस श्लोक में सत्कवि की शिवैकशरणा वाणी को सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वसमर्थ बतलाते हुए भक्त कवि उसे चार उपमानों से अलंकृत करता है। यहां "वाणी" उपमेय है, करुणा, गंगा, चन्द्रकला, तथा ईश्वरी (पार्वती) उपमान हैं, शिवैकशरणता साधारण धर्म है, तथा इव उपमावाचक शब्द है। इस प्रकार यहां एक उपमेय के चार उपमान होने से मालोपमा अलंकार है।

इसी प्रकार मालोपमा के उदाहरणार्थ अन्य स्थल[1] भी हैं।

२. रूपक

अत्यन्त सादृश्य के कारण, प्रसिद्ध (अनपह्नुत) भेद वाले (उपमान और उपमेय) का अभेद वर्णन रूपकालंकार है।[2] जैसे—

धन्याः शुचीन सुरभीणि गुणोम्भितानि वाग्वीरुधः स्ववदनोपवनोद्गतायाः।
उच्चित्य सूक्तिकुसुमानि सतां विविक्तवर्णानि कर्णपुलिनेष्ववतंसयन्ति ॥
स्तु० ५।३

इस पद्य में कवि ने सांग रूपक का प्रयोग किया है। उपमेय सूक्तियों में उपमान कुसुम का आरोप किया है। 'वर्ण" एवं "गुण" शब्द श्लिष्ट हैं। परन्तु गुण का श्लेष के द्वारा तन्तु अर्थ लेने पर कवि के तात्पर्य से विरोध होता है। कारण यह है कि कुसुम कानों में मालारूप में गूंथ कर नहीं रखे जाते। माला तो कण्ठ में धारण की जाती है। जबकि कानों पर पुष्प वृन्त के या नाल के सहित रखे जाते हैं। इसलिए गुण का अर्थ सुगन्ध, सौकुमार्य आदि एवं माधुर्यादि काव्यगुण ये ही दो अर्थ लेने उचित हैं। यहां पर वाणी में वीरुध्, (लता) का, वदन में उपवन का व सूक्ति में कुसुम का आरोप है। किसी का आरोप आक्षिप्त न होने से समस्तवस्तुविषयक रूपक नामक भेद है। यहां कर्ता "धन्याः" साभिप्राय है। प्रबन्धात्मक भाव के प्रसंग से शिवभक्तिपूर्ण वचन ही सूक्तियां हैं। जिनके कानों में ये पहुंचती हैं, वे ही भाग्यशाली हैं; अन्य नहीं। कर्ण भी उन्हीं के सफल हैं अन्य के नहीं। जैसे कान तो सभी मनुष्यों के होते हैं, परन्तु कुछ भाग्यशाली लोग ही ऐसे हैं, जो कि ऐसे सुगन्धित पुष्पों को कानों पर शोभा के लिए रख पाते हैं। इसी प्रकार ऐसे विरले ही सौभाग्यशाली मनुष्य हैं जिनके कर्णकुहरों में शिवभक्तिमय वचन पहुंचते हैं।

---

१. वही, ३।२, ७।१२, १४, ६।३६, ३७, ४६, ११।६४, ६०।१००, १५।१, २, ३०।५०, ५५, ३८।१६-१८, ८।१
२. का०प्र०, १०।६३

इस प्रकार रूपक अलंकार के द्वारा कवि ने अपनी शिव परक भक्ति-भावना की गहरी अभिव्यक्ति की है।

मालारूपक

जहां एक उपमेय में अनेक उपमानों का आरोप हुआ करता है, उसे मालारूपक कहते हैं।[१] उदाहरण, जैसे—

जयत्यघवनाशनिः सुमतिमाधवीमाधवः कृपामृतपयोनिधिर्भवमहार्णवैकप्लवः।
विपत्तृणसमीरणः प्रणयिचित्तचिन्तामणिः समस्तभुवनोदयप्रलयकेलिकारो हरः ।।

स्तु० ६।८

संपूर्ण लोकों के सर्ग-स्थिति संहारकर्ता भगवान् शिव की महिमा का प्रतिपादन करते हुए कवि उन पर अनेक आरोपों द्वारा मालारूपक की सुन्दर रचना करता है। यहां भगवान् शिव (हर) उपमेय हैं, तथा अघवनाशनि आदि अनेक उपमान हैं। यहां अघ (पाप) पर वन का, सुमति पर माधवीलता का, कृपा पर अमृत का, संसार पर महासागर का, विपत्ति पर तृण का एवं एक हर पर अशनि, माधव, पयोनिधि, प्लव, समीरण तथा चिन्तामणि का आरोप करके अनेक उपमानों की सृष्टि की है। इस प्रकार पूर्वोक्त पद्य मालारूपक का सुन्दर उदाहरण है।

भ्रान्तमान्

समानता के कारण प्रकृत अर्थ में अप्रकृत अर्थ का भ्रम होना भ्रान्तिमान् अलंकार है।[२] विश्वनाथ ने "अतस्मिंस्तद्बुद्धिः"[३] को भ्रान्तिमान् कहा है।

स्तुतिकुसुमांजलि में इसका उदाहरण निम्न प्रकार है—

शैवी शिवं दिशतु शीतमरीचिलेखा जूटाहिरत्नकिरणच्छुरणारुणा वः।
देवी नवीननखलक्ष्मधियाऽपिधत्ते यत्संक्रमं कुचतटे पटपल्लवेन ।।

स्तु० ३।२३

इस पद्य में कवि का कथन है कि सर्पों के रत्न-किरणों की कान्ति से अरुण-सी बनी हुई चन्द्रकला का बिम्ब पार्वती के वक्षस्थल पर गिरा, जिसे देखकर पार्वती ने उसे नखचिह्न समझा और वस्त्र से ढांक दिया। यहां चन्द्रबिम्ब को नवीन नखचिह्न समझने का वर्णन कवि प्रतिभोत्थित है। अतः यहां भ्रान्तिमान् अलंकार है।

निदर्शना

जहां वस्तुओं अर्थात् वाक्यार्थों अथवा पदार्थों के ऐसे संबंध अथवा समन्वय को

---

१. काव्यप्रकाश, १०।९४
२. भ्रान्तिमानन्यसंवित् तत्तुल्यदर्शने। काव्यप्रकाश, १०।१३२
३. साहित्यदर्पण, १०।३६

जो (आपाततः) भले ही अनुपपन्न हो, किन्तु (अन्त में) उपमानोपमेयभाव में परिणत हो जाये वहां निदर्शना माना है[1]। उदाहरण प्रस्तुत है—

दीपोत्करं रविरुचां परिपूरणेयं नीहारवारिभिरिदं भरणं पयोधेः।
अस्मादृशां मितदृशां नियतैर्वचोभिः प्रस्तूयते भव तव स्तवचापलं यत्॥

स्तु० ६।१

यहां "भव तत्र स्तवचापलं यत् प्रस्तूयते" का वाक्यार्थ "नीहारवारिभिरिदं भरणं पयोधेः" इत्यादि के वाक्यार्थों से सम्बद्ध होकर अन्ततः उपमानोपमेयभाव में परस्पर सम्बद्ध हो रहा है, अतः निदर्शना अलंकार है।

परिकर

परिकर अलंकार उसे कहते हैं, जिसमें साभिप्राय विशेषणों के द्वारा प्रकृत अर्थ का प्रतिपादन किया जाया करता है।[2] उदाहरण—

लोकत्रयाभ्युदयजन्ममही महीयः स्थानाधिरोहणविधावधिरोहिणी या।
सा चन्द्रचूडमुकुटध्वजवैजयन्ती जह्नोरनिह्नुततनया तनयाऽवताद्वः॥

स्तु० ३।२६

यहां गंगा की स्तुति करते समय उसके लिए "तीनों लोकों के अभ्युदय की जन्मभूमि" प्रभृति सभी विशेषण साभिप्राय होने के कारण यहां पर परिकर नामक अलंकार है।

सन्देह

प्रकृत (उपमेय) में अन्य (उपमान) के संशय को सन्देहालंकार कहते हैं, परन्तु उस संशय को कवि की प्रतिभा से उत्थित होना चाहिए। अर्थात् चमत्कारकारक संशय ही अलंकार कहलाता है, अन्य लौकिक संशय नहीं।[3] उदाहरण—

किमयं शिवः किमु शिवाऽथ शिवाविति यत्र वन्दनविधौ भवति।
अविभाव्यमेव वचनं विदुषामविभाव्यमेव वचनं विदुषाम्॥

स्तु० १६।१८

यहां अन्त तक संशय की निवृत्ति न होने के कारण सन्देह अलंकार है।

उत्प्रेक्षा

किसी प्रस्तुत वस्तु की अप्रस्तुत के रूप में संभावना को उत्प्रेक्षा कहते हैं।[4] इसका उदाहरण है—

अव्यात्स वः शिरसि यस्य विलोचनाग्निज्वालावलीढसुरसिन्धुजलोपगूढः।

---

१. निदर्शना अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः। का०प्र० १०।९७
२. विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः। का०प्र० १०।११८
३. सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः। साहित्यदर्पण १०।३५
४. भवेत्संभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना। साहित्यदर्पण १०।४०

अद्यापि वाडवशिखापरिणद्धमुग्धदुग्धाब्धिमध्यग इव श्रियमेति चन्द्रः ।।

स्तु० ३।२१

यहां शिव के तृतीय नयन की ज्वालाओं से ग्रस्त चन्द्रमा की संभावना वडवानल की ज्वालाओं से व्याप्त क्षीरसागर के मध्य स्थित के रूप में करके कवि ने उत्प्रेक्षा का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है।

श्लेष

यदि एक अर्थ के बोधक शब्दों के प्रकरण आदि के नियन्त्रण से परे और साथ ही साथ कुछ वैचित्र्यपूर्ण अनेक अर्थ हों वहां श्लेष अलंकार माना जाएगा।[1] उदाहरण द्रष्टव्य है—

दाने नदीनमुपकल्पयतः सहर्षमाक्रम्य गामनुपमां गतिमास्थितस्य ।
नागेन्द्रसंभृतमहाकटकस्य कस्य शस्यं विना त्वदिह राजशिरोमणित्वम् ।।

स्तु० १०।२६

यहां "दाने नदीनमुपकल्पयतः" इत्यादि शब्दों की अभिधा का प्रकरण आदि अभिधानियामकों में से किसी के द्वारा भी नियन्त्रण नहीं हो रहा और इसलिए दोनों शिवगत और चक्रवर्ती राजगत—अर्थों का स्पष्ट प्रतिपादन किया जा रहा है।

आचार्य मम्मट ने श्लेष की परिगणना शब्दालंकारों एवं अर्थालंकारों दोनों में ही की है। इस पर टिप्पणी करते हुए डा० सत्यव्रत सिंह ने लिखा है—'शब्दालंकारों में जिस 'श्लेष' की परिगणना है वह तो शब्दश्लेष, किन्तु अर्थालंकार प्रकरण का यह अलंकार अर्थश्लेष है। शब्दश्लेष में तो ऐसे शब्द हुआ करते हैं जिनमें परिवर्तन होने से अलंकार का स्वरूप ही नष्ट हो जाता है, किन्तु अर्थश्लेष में बात ऐसी नहीं, क्योंकि यहां जो शब्द अनेकार्थप्रतिपादक हुआ करते हैं, उनमें परिवर्तन भी संभव है। 'श्लेष' का यही अभिप्राय है 'श्लिष्यतोऽर्थौ यत्र'। अर्थात् वह अलंकार जहां दो अर्थ एक शब्द के आधार पर परस्पर संपृक्त हों। एक वृन्त पर लटके दो फलों की भांति एक शब्द पर अवलम्बित दो अर्थ जहां हों वहां जो अलंकार समझा जाता है वह है अर्थ-श्लेष।[2]

पर्याय

जहां एक वस्तु का क्रम से (कालभेद से) अनेक वस्तुओं से सम्बन्ध प्रतिपादित हो, अथवा किया जाय, वहां पर्याय नामक अलंकार होता है।[3] इस अलंकार का एक उदाहरण देखिये—

---

१. श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते ।। साहित्यदर्पण १०।११
२. काव्यप्रकाश, पृ० ३६५ टिप्पणी।
३. एकं क्रमेणानेकस्मिन् पर्यायः। काव्यप्रकाश १०।११७

आदौ पादतले कृतस्थितिरयो प्राप्तः करालम्बनं
बाल्लभ्यं शुभदृङ्निवेशनवशोत्पन्नं प्रपन्नस्ततः।
अन्ते येन शिरोधिरोपणमहामाहात्म्यमाप्तो विधु-
र्भूत्यै स क्रमवर्धमानमहिमा स्वामिप्रसादोऽस्तु वः ।। स्तु० ३।५६

इस पद्य में चन्द्रमा रूप एक वस्तु का अनेक स्थानों पर कालक्रम से रहना बिना किसी हेतु के ही प्रतिपादित है, जिस में 'पर्याय' अलंकार स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। यद्यपि इस प्रसंग में पाद आदि आधारों के पृथक्-पृथक् होने के कारण वस्तुतः चन्द्रमा रूप एक आधेय वस्तु भी पृथक्-पृथक् है, किन्तु इसका अभेदाध्यवसान विवक्षित है, क्योंकि काल-क्रम से एक वस्तु की एक स्थान के अतिरिक्त दूसरी जगह भी स्थिति हो सकती है।

परिकरांकुर

जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है, इस अलंकार का मूल परिकर अलंकार ही है। परिकर में विशेषणों का प्रयोग साभिप्राय होता है, परन्तु परिकरांकुर में विशेष्य साभिप्राय होता है। अतः परिकर अलंकार के लक्षण में केवल विशेषण पद को हटाकर विशेष्य पद का निक्षेप करने से परिकरांकुर अलंकार का लक्षण बन जाता है। जैसे कहा है कि—"विशेष्य के साभिप्राय होने पर परिकरांकुर अलंकार होता है।"[1] उदाहरण प्रस्तुत है—

ओजस्वी मधुरः प्रसादविशदः संस्कारशुद्धोऽभिधा-
भक्तिव्यक्तिविशिष्टरीतिरुचिरैर्धृतालंकृतिः ।
वृत्तस्थः परिपाकवानविरसः सद्वृत्तिरप्राकृतः।
शस्यः कस्य न सत्कविर्भुवि यथा तस्यैव सूक्तिक्रमः ।। स्तु० ५।३१

यहां 'सूक्तिक्रमः' साभिप्राय विशेष्य होने से परिकरांकुर अलंकार है।

स्वभावोक्ति

जहां बालक आदि की प्रकृतिसिद्ध क्रिया अथवा उनके रूप का वर्णन किया जाये उसे स्वभावोक्ति अलंकार कहते हैं।[2] यथा—

मीलद्विलोचन-समुद्ग-समुद्गताश्रु-स्रोतःस्रुतिस्नपितमूलकपोलभागाः ।
देवं शशांककलया कलिताऽवतंसं शंसन्ति सन्त इह शंकर शंकरेति ।।
स्तु० १।२४

इस श्लोक में कवि ने भगवद्भक्त की स्वाभाविक चेष्टाओं का मनोहारी वर्णन किया है, अतः स्वभावोक्ति अलंकार है।

---

१. साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत् परिकरांकुरः। कुवलयानन्द पृ० ६२
२. स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्। काव्यप्रकाश १०।१११

विनोक्ति

इस अलंकार में एक के बिना दूसरे के शोभन होने अथवा अशोभन होने का वर्णन अभिप्रेत हुआ करता है।[1] उदाहरण—

यथा हि शीलेन विना कुलांगना यथा विवेकेन विना मनीषिता।
सदर्थबोधेन विना यथा श्रुतिर्महीभुजंगेन विना यथा मही।। स्तु० ७।१२

परिवृत्ति

किसी समान वस्तु का दूसरी समान वस्तु से विनिमय अथवा किसी एक असमान वस्तु का दूसरी असमान वस्तु से विनिमय (परिवर्तन) परिवृत्ति अलंकार कहलाता है।[2] उदाहरण—

यस्ते ददाति रवमस्य वरं ददासि यो वा मदं वहति तस्य दमं विधत्से।
इत्यक्षरद्वयविपर्ययकेलिशीलः किं नाम कुर्वति नमो न मनः करोषि।।
स्तु० ११।१६

इस पद्य में शिव महिमा का गान करता हुआ कवि उन्हें श्रेष्ठ विनिमयकर्ता के रूप में प्रस्तुत करता है। यहां रव (शब्द) के बदले वर तथा मद के बदले दम (दण्ड) देने और नमस् के बदले में मनस् करने के वर्णन से परिवृत्ति अलंकार बनता है।

सार

यह वह अलंकार है जिसमें किसी का उत्कर्ष-वर्णन उत्तरोत्तर पराकाष्ठा पर पहुंचता प्रतिपादित किया गया है।[3] उदाहरण—

तन्मानुष्यं प्रभवति सतामुत्तमा यत्र जातिः
सैका जातिः प्रसरति यशो यत्र पाण्डित्यहेतुः।
तत्पाण्डित्यं सरसमधुरा जृम्भते यत्र वाणी
वाणी सापि प्रथयति रतिं शांकरी यत्र भक्तिः।। स्तु० ११।५

यहां अनेक वस्तुओं की उत्कृष्टता का प्रतिपादन किया गया है, किन्तु पूर्व-पूर्ववर्णित वस्तु का उत्कर्ष अन्तिम (शांकरी भक्ति) वस्तु में ही चरम सीमा पर पहुंचता प्रतीत हो रहा है। जिसमें 'सार' अलंकार स्पष्ट है।

उल्लेख

एक पदार्थ को या तो देखने वाला अपने-अपने दृष्टिकोण से देखता है तथा वह पदार्थ भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, अथवा एक ही वस्तु का रूप उसके विषय या

---

१. काव्यप्रकाश १०।११२
२. काव्यप्रकाश १०।११३
३. काव्यप्रकाश १०।१२३

आश्रय को बदलने से भिन्न हो जाता है। अभिप्राय यह है कि कैसे भी एक का अनेक प्रकार से कथन करना उल्लेख अलंकार है।[1] उदाहरण देखिए—

अनाथानां नाथो गतिरगतिकानां व्यसनिनां
विनेता भीतानां शरणमधृतीनां भरवशः।
सुहृद् बन्धुः स्वामी शरणमुपकारी वरगुरुः
पिता माता भ्राता त्रिजगति जयत्यन्तकरिपुः ।। स्तु० २५।१

इस श्लोक में एक ही अन्तकरिपु (शिव) को अनाथों का नाथ, अगतिकों की गति, दुर्व्यसनवालों के विनेता, भयभीतों को धैर्यदाता आदि अनेकविध रूपों में वर्णित किया गया है। अतः विषयभेद से एक ही वस्तु का अनेकविध वर्णन करने से यहां उल्लेख अलंकार है।

कारणमाला

इस अलंकार का स्वरूप इसके नाम से ही स्पष्ट हो जाता है। मम्मट ने कहा है—जहां पूर्व-पूर्व-वर्णित वस्तु उत्तरोत्तर वस्तु के लिए कारण के रूप में निबद्ध हो, वहां कारणमाला अलंकार होता है।[2] इसका उदाहरण देखिये—

भवान्धर्मं साक्षादकृत सहजज्ञानमहसा
तमोध्वंसं पुंसामथ तदुपदेशेन विदधे।
प्रमाणं चोक्तिस्ते नहि घनघृणानिघ्नमनसो
जगद्भर्तुर्युक्तं वितथमभिधातुं भगवतः।। स्तु० ३५।२१

इस पद्य में भक्त कवि ने भगवान् शिव की वाणी का महत्त्व दर्शाया है।

यहां सहजज्ञानरूपी प्रकाश से धर्म, धर्म से अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश होने के वर्णन में पूर्वपूर्ववर्ती अर्थ उत्तरोत्तरवर्ती अर्थ के प्रति कारणरूप से उपनिबद्ध होने से यहां कारणमाला अलंकार है।

विभावना

हेतु के बिना यदि कार्य की उत्पत्ति का वर्णन हो तो विभावना नामक अलंकार होता है।[3] उदाहरण प्रस्तुत है—

इदमसाधितमेव रसायनं निरुपभोगमिदं सुखमक्षयम्।
अमृतमेतदनम्बुधिमन्थनं यदविनश्वरमीश्वरसेवनम् ।। स्तु० १०।३३

यहां पर बिना किसी हेतु के (असाधित) रसायन की उत्पत्ति उपभोगरूप हेतु

---

१. क्वचिद् भेदाद् ग्रहीतॄणां विषयाणां तथा क्वचित्।
एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते।। साहित्यदर्पण १०।३७

२. काव्यप्रकाश १०।१२०

३. साहित्यदर्पण १०।६६

के न रहते भी कार्य सुख तथा समुद्रमन्थनरूपी हेतु के बिना अमृत की उत्पत्ति का कथन इस अलंकार की सिद्धि में हेतु होने से यहां विभावना अलंकार है ।

विशेषोक्ति

यह अलंकार विभावना के ठीक विपरीत है । जब कवि अपनी पूजा से अनुप्राणित ऐसी बात कहता है जहां कारण के होने पर भी कार्य का अभाव हो, तो वहां विशेषोक्ति अलंकार होता है । जैसा कि मम्मट ने कहा है—प्रसिद्ध कारण के होने पर भी, उसके कार्य का असद्भाव वर्णित हो, वह विशेषोक्ति है ।[1] उदाहरणार्थ एक पद्य प्रस्तुत है—

अर्कस्य नोदगयनं शिशिरेऽपि यत्र शीतत्विषो न बहुलेऽपि कलापलापः ।
क्षामं च धाम न वहत्यपि वह्निरह्नि तत्त्रायतां पुररिपोर्नयनत्रयं वः ।।

स्तु० ३।३८

इस पद्य में प्रसिद्ध कारण शिशिर ऋतु के विद्यमान होने पर भी, सूर्य का उत्तरायण होना कार्य अविद्यमान है, अर्थात् नहीं हो रहा है । चन्द्रकला के ह्रास का प्रसिद्ध कारण कृष्ण-पक्ष विद्यमान है, परन्तु चन्द्रकला का ह्रास कार्य नहीं हो रहा है, अग्नि के तेज के ह्रास का कारण दिन विद्यमान है, परन्तु तेज के ह्रासरूपी कार्य का असद्भाव वर्णित है । अतः यहां विशेषोक्ति अलंकार है ।

दीपक

इस अलंकार में प्रकृत (उपमेय) और अप्रकृत (उपमान) के (गुणक्रियादिरूप) धर्म का एक बार उपादान अथवा कथन हुआ करता है और साथ ही साथ वह भी 'दीपक' ही है जिसमें एक ही कारक (कर्त्ता-कर्म आदि) का अनेकों क्रियाओं से संबंध विवक्षित रहा करता है ।[2] उदाहरण प्रस्तुत है—

सन्तापसंपदपहारपटूनि सिद्धसिन्धोरिवेन्दुधवलानि जलानि यस्य ।
आकल्पयन्ति मदयन्ति पवित्रयन्ति सञ्जीवयन्ति च जगन्ति भृश यशांसि ।।

—स्तु० ८।२६

यहां एक ही कर्तृकारक "यशांसि" अथवा एक ही "जगन्ति" कर्मकारक "जगत् को" अनेक क्रियाओं "अत्यन्त अलङ्-कृत, परम आनन्दित, अति पवित्र करता है", इत्यादि से सम्बद्ध किया गया है । इसलिए यहां "कारकदीपक" अलंकार है । यहां सभी क्रियायें प्रकृत हैं ।

व्यतिरेक

जिस में उपमान की अपेक्षा उपमेय का व्यतिरेक (गुणविशेष के कारण आधिक्य अथवा उत्कर्ष) बताया जाये, उसे व्यतिरेक अलंकार कहते हैं ।[3] उदाहरण—

---

१. विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः ।। का० प्र० १०।१०८

२. का० प्र० १०।१०३

३. का० प्र० १०।१०५

मधुरमिन्दुमुखी वदनादपि क्लमहरं सुरसिन्धुजलादपि ।
त्रिभुवनाधिपतिस्तुतिपावनं जयति सत्कविसूक्तिरसायनम् ।। स्तु० १०।४

कवि ने इस पद्य में सत्कवि की सूक्ति की सर्वश्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। यहां कवि की सूक्ति उपमेय है तथा उपमान है चन्द्रमुखी एवं सुरसरिता का जल। कवि ने इन दोनों उपमानों से अधिक उत्कर्ष उपमेय रूप सत्कविसूक्ति का कहा है। अत: यह पद्य व्यतिरेक अलंकार का सुन्दर उदाहरण बनता है।

उदात्त

उदात्त अलंकार के मूल में अतिशय का विचार काम करता है। जब कवि-प्रतिभा किसी वस्तु का प्रभूत वर्णन करके उसका उत्कर्ष या अतिशय स्थापित करना चाहती है, तब यह अलंकार होता है। वह उत्कर्ष चाहे पदार्थों के वैभव का हो अथवा किसी विशिष्ट व्यक्ति के गुणों का, उभयत्र यह अलंकार संगत होगा। इस विषय में आचार्य मम्मट ने भी यही कहा है।[1]

स्तुतिकुसुमांजलि के प्रतिपाद्य भगवान् शिव के माधुर्य एवं ऐश्वर्य के संदर्भ में अनेक स्थलों पर इस अलंकार के उदाहरण देखे जा सकते हैं। एक दृष्टि से तो इस पुस्तक के अधिकांश भाग में भगवान् शिव के वैभव का ही विविध प्रकार से वर्णन है। यहां अनेक उदाहरणों में से कतिपय इस प्रकार हैं—

तस्यैकस्यांघ्रिपीठं स्फुटमुकुटमणिप्रौढरोचि:प्रतानै:
क्षोणीमाला: शिरोभि: करपुटघटितैरंजसा रञ्जयन्ति ।
धत्ते धन्य: स चैक: सितरुचिरुचिरच्छत्रशुभ्रोत्तरीयां
लक्ष्मीमुद्दामरामाकरकमलचलच्चामरोदारहाराम् ।। स्तु० ३३।३१

इस पद्य में कवि ने शिवकृपाप्राप्त पूर्णकाम किसी भक्त के ऐश्वर्य का वर्णन किया है। अत: उदात्त अलंकार है।

समुच्चय

जिस में किसी प्रस्तुत कार्य की सिद्धि के वर्णन में किसी एक कारण के रहते, अन्य कारण की भी साधकता का समावेश प्रतिपादित किया जाता है, उसे समुच्चय नामक अलंकार की संज्ञा दी है।[2] उदाहरण प्रस्तुत है—

पृथुलसज्जघनोरुपयोधरा गुरुमरुच्चपलाकुलिताम्बरा ।
यदि भवेयुरिमा न धनागमे मृगदृशश्च दिशश्च धृतिच्छिद: ।। स्तु० १०।१९

प्रकृत श्लोक में धृतिच्छेदन कार्य के साधन के रूप से "मृगदृश:" के साथ, "दिश:" का भी समुच्चय किया गया है, तथा पूर्वार्ध से दोनों विशेषण इन दोनों पर समुचित रूप से लागू होते हैं। अत: यह श्लोक समुच्चय का सुन्दर उदाहरण है।

---

१. उदात्तं वस्तुन: सम्पन्महतां चोपलक्षणम्। का०प्र० १०।११०
२. का० प्र० १०।११६

विरोधाभास

वास्तव में विरोध न होने पर भी जब दो वस्तुओं को परस्पर विरुद्ध के रूप में कहा जाता है, तब विरोध अलंकार होता है, इसे विरोधाभास भी कहते हैं।[1] एक उदाहरण प्रस्तुत है :

आपतन्तमयमं यमं पुरो यः सविग्रहमविग्रहं व्यधात् ।
दर्पकं व्यधित योऽप्यदर्पकं तं विषादमविषादमाश्रये ।। स्तु० १।२०

यहां पर अयम-यम, सविग्रह-अविग्रह, दर्पकम्-अदर्पकम्, विषाद-अविषाद, इन सभी पदों में दूसरा अर्थ प्रतीत होने के कारण विरोध का परिहार होने के कारण स्पष्ट रूप से विरोधाभास अलंकार बनता है।

अनुमान—

जिस में साक्ष्य-साधन भावरूप से किसी अर्थ का प्रतिपादन किया जाये वहां अनुमान नामक अलंकार होता है।[2] परन्तु यह अनुमान नैयायिकों के अनुमान जैसे नहीं होता। "अनुमान" काव्य का अलंकार तभी हो सकता है, जब उसमें कविप्रतिभा और कविकल्पना की स्थिति हो, जिससे चमत्कार प्रतीत हो। उदाहरण—

प्राक् चेन्मया विहितमाविलमेव कर्म स्वामिन् कृतस्त्वयि ममैष दृढोऽनुरागः ।
एकान्तशुक्लमथ चेदतिदुःसहोऽयं शोकानलो हृदयदाहकरः किमन्तः ।।
स्तु० १०।१६६

इस दृष्टि से कवि का यह कथन उदाहरणयोग्य है। नाथ, यदि मैंने पूर्व जन्म में निन्दित कर्म ही किया होता, तो आप के प्रति मेरा यह दृढ़ अनुराग कैसे होता? शिव के प्रति दृढ़ अनुरागरूप साधन से अनुमान होता है कि मैंने पापकर्म ही नहीं किया था, बल्कि पुण्य भी किये थे, क्योंकि भगवद्भक्ति विना पुण्यों के नहीं होती। यदि केवल पुण्य ही किया होता तो मेरे हृदय में दाह करने वाला यह शोकानल कैसे उत्पन्न होता? शोकानल की उत्पति केवल पुण्य नहीं किये जाने का अनुमापक है। अतः यह अनुमान का एक सुन्दर उदाहरण है।

एकावली

जहाँ पूर्व-पूर्व (वर्णित) वस्तु के प्रति उत्तरोतर (वर्णित) वस्तु का अनेक बार विशेषण रूप से या तो विधान किया जाये या प्रतिषेध किया जाय उसे एकावली अलंकार कहते हैं।[3]

उदाहरणार्थ एक पद्य प्रस्तुत है—

संसारेऽस्मिन्नसारे परमिह कुशलं कर्म धर्मप्रधानं
धर्मः शर्मप्रदोऽपि प्रभवति सुधियां सिद्धये शुद्धिहेतोः ।

---

१. का० प्र० १०।११० २. वही १०।१३० ३. वही १०।१३१

शुद्धौ बद्धस्पृहाणां न भवति कृतिनां यद्विनाऽऽपद्विनाश-
स्त्रैलोक्याप्यायकं तज्जलमपि भगवन् विभ्रमस्ते नमस्ते ॥ स्तु० ३३।३१

कवि भगवान् शिव की जलमयी मूर्ति का वर्णन करता है। यहां पहले धर्म का विशेषण कर्म है, पुन: उस कल्याणकारक कर्म की जनिका, बाह्य तथा अन्त:करण की शुद्धि को बतलाया, फिर बाह्य तथा अन्त:करण की शुद्धि को भी जलजनित बतलाया, और फिर उस जल को तीनों लोकों का तर्पक तथा पावक कहा है, और उस पावक जल को शिव की मूर्ति बतलाया है।

इस प्रकार पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तर-उत्तर स्थापित किये जाने से यह पद्य एकावली का उदाहरण है।

तद्गुण

जब न्यून गुणवाली वस्तु उत्कृष्ट गुण वाली वस्तु के संबंध से अपने स्वरूप को छोड़कर उस वस्तु के रूप को प्राप्त हो जाती है, उसको तद्गुण अलंकार कहते हैं।[1]

उदाहरणार्थ पद्य प्रस्तुत है—

काव्यं विभाव्य निजमर्धनिमीलितानि नैसर्गिकं जहति चापलमीक्षणानि।
गृह्णन्ति तन्मसृणतां सहजां विहाय भ्रूवल्लयस्तु कृतिनां कविपुङ्गवानाम् ॥
स्तु० ५।१४

यहां पुण्यात्मा कविवरों के नेत्रों का वर्णन किया गया है। कविवरों के नेत्र भगवत्त संबंधी काव्य को विचारकर अर्धनिमीलित हो अपनी स्वाभाविक चंचलता को त्याग देते हैं और उनकी भ्रुकुटियां तो अपने आलस्य को त्याग कर उन नेत्रों की चपलता को ग्रहण कर लेती हैं।

इस प्रकार भ्रुकुटियों द्वारा अपने आलस्य का त्याग कर, नेत्रों की चपलता को ग्रहण करना दिखलाया है। अत: यह पद्य तद्गुण अलंकार का उदाहरण है।

निष्कर्ष

इस अध्याय में काव्य के विभिन्न तत्त्वों एवं मानदण्डों की दृष्टि से "स्तुतिकुसुमांजलि" का अध्ययन किया गया है। जगद्धर के अनुसार श्रेष्ठ काव्य वह है, जिसमें रम्य पदसंघटना, दोषरहित, गुणसहित, छन्द, अलंकृत एवं सरस शब्दार्थ का मंजुल समन्वय हो, और सर्वहित की मंगलमयी भावना हो। "स्तुतिकुसुमांजलि" इन विशेषताओं से अलंकृत है। भवभूति ने परम्परा के विपरीत करुण रस को अंगी बनाकर "उत्तररामचरित" की रचना की थी। जगद्धर ने परम्परागत शृंगार की रसराजता को पूर्णत: निराकृत करके तथा करुण आदि रसों को प्रधान मानने वालों की उपेक्षा

---

१. का० प्र० १०।१३७

करके भक्तिरस को अंगी बनाकर "स्तुतिकुसुमांजलि" की रचना की है। रूपगोस्वामी आदि भक्ति के प्रमुख आचार्यों ने रससंबंधी परम्परागत अनेक युक्तियों से भक्ति का रसत्व "स्तुतिकुसुमांजलि" जैसे स्तोत्र काव्य को देख कर ही सिद्ध किया होगा।

काव्य की दृष्टि से इस रचना के भावपक्ष में अंगों के रूप में सर्वत्र भक्तिरस की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। भक्तिरस के विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव का भी यहां यथोचित संनिवेश है। इसमें भक्तिरस के मुख्य आलम्बन भगवान् शिव हैं। पार्वती उनकी अभिन्न शक्ति है। आलम्बनगत उद्दीपन विभाव में शिव के शारीरिक सौन्दर्य, आभूषण एवं नाना लीलाओं का तथा आलम्बन बाह्य-उद्दीपन विभाव में गंगा, काशी, कैलाश जैसे तीर्थों की महिमा तथा उनके सेवन आदि का वर्णन है। भक्ति से उत्पन्न स्तम्भ, रोमांच, अश्रु आदि अनुभाव के रूप में वर्णित हैं। भक्तिरस के संचारी भाव के रूप में निर्वेद तथा दैन्य का प्राधान्य है। इस स्तोत्रकाव्य में सेव्य-सेवक भाव वाले भक्ति रस की परिकल्पना है। अन्य रसों का भी इस रचना में यथास्थान सुन्दर परिपाक हुआ है।

कलापक्ष की दृष्टि से वृत्ति, दोष, गुण, रीति तथा अलंकारों की समुचित योजना कवित्व के गौरव का निदर्शन है। साहित्यशास्त्र में मान्य अलंकारों की सभी विधाओं के उदाहरण कवि ने बड़ी चातुरी से प्रस्तुत किये है। यहां जिस प्रकार "यमक" अलंकार का प्रौढ एवं सफल प्रयोग किया गया है, वह अप्रतिम है। इस रचना-कौशल में जगद्धर की असाधारण प्रतिभा एवं अन्तःप्रेरणा को विशेष श्रेय देना होगा। व्यंग्यार्थ का भी इस काव्य में प्रभावशाली प्रयोग हुआ है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जगद्धर के स्तोत्रकाव्य में उन का भावपक्ष एवं कलापक्ष परिपक्व है। उभयविध समस्त सिद्धांतों को सफलतापूर्वक अपने स्तोत्रों में दिखलाया है, जिनके उदाहरणों को देखकर दृढ़ता से कहा जा सकता है कि जगद्धर का भावपक्ष तथा कलापक्ष प्रौढता के साथ अति समीचीन बन गया है। □

षष्ठ अध्याय

स्तुतिकुसुमांजलि की छान्दस समीक्षा

छन्द की महिमा

छन्द की महिमा प्राचीन काल से ही कविता के लिए अनिवार्य रूप से स्वीकार्य रही है। छन्द के बल से ही गद्य की अपेक्षा पद्य को अधिक आदर मिला है। छन्दोमयी कविता अर्थावगमन के पूर्व श्रवणमात्र से भी हृदयावर्जक होती है। हम प्रतिदिन व्यावहारिक जीवन में ऐसा अनुभव करते हैं कि "लय" और "ताल" से युक्त छन्दोबद्ध पुस्तक पढ़ी या सुनी जाती है वह मनुष्यों को क्या, मनुष्येतर जीवों को भी सहज ही आकर्षित कर लेती है। आनन्द छन्द का प्रकृत्यर्थ है जो "छदि आह्लादने" से निष्पन्न होता है। "छन्दयति, आह्लादयति इति छन्दः" व्युत्पत्ति से यह स्पष्ट ही है।

छन्द की महिमा भारतीय वाङ्मय के प्राचीनतम ग्रन्थ वेदों में भी द्रष्टव्य है, जिनमें छन्दों का अनेकविध प्रयोग मिलता है। अतएव छन्दशास्त्र को वेदांग माना गया है—"**छन्दः पादौ तु वेदस्य**।"[1] इस प्रकार पाद-स्थानीय होने से समालोचकों की आरम्भ से ही छन्द के प्रति श्रद्धा और आदर की भावना रही है।

भरतमुनि की दृष्टि में तो समस्त वाङ्मय छन्द है—

"**छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति न छन्दः शब्दवर्जितम्**।"[2]

कविता में छन्दोविधान अति प्राचीन है। भारत का अधिकांश वाङ्मय भी छन्दोबद्ध ही लिखा गया है। छन्द की इस महिमा पर छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है—"देवता मृत्यु से डरते हुए वेदविद्या में प्रविष्ट हुए। उन्होंने अपने को छन्दों से आच्छादित कर लिया। जो उन्होंने इन छन्दों से अपने आपको आच्छादित किया, वह ही छन्दों का छन्दपन है।"[3]

छन्द की इसी प्रकार की व्युत्पत्ति सायण ने ऋग्वेद के भाष्य में दी है—"**अपमृत्युं वारयितुमाच्छादयतीति छन्दः**",[4] अर्थात् कवि और उसकी कविता को छन्द अपमृत्यु से बचा लेता है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि छन्द कविता का अमर संगीत है, जिसके बिना काव्य को मृत्यु का भय रहता है। इस भय से अपनी

---

१. सायण, ऋग्वेदभाष्यभूमिका, पृ० ४६ पर उद्धृत।

२. नाट्यशास्त्र १४।४५

३. देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशंस्ते छन्दोभिराच्छादयन्। यदेभिराच्छादयंस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्। छान्दोग्योपनिषद् १।४।२

४. ऋग्वेद, सायण-भाष्य, १।१

कविता को बचाने के लिए कवि छन्द का आश्रय लेना अनिवार्य समझता है। छन्दो-विधान का मर्मज्ञ ही कविता के सूक्ष्म अन्तराल में अवतरित हो पाता है।

रुद्रट ने व्युत्पत्ति की परिभाषा करते हुए "छन्द" को प्रथम स्थान पर रखा है। रुद्रट का कथन है कि छन्द, व्याकरण, कला, लोकस्थिति, पद तथा पदार्थों के विशेष ज्ञान से उचित एवं अनुचित का सम्यक् परिज्ञान होता है।[1]

इस सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र का कथन है कि उपपत्ति, व्याकरण, नामधातु एवं छन्दोरचना में जिसने बहुत परिश्रम किया है, वह माधुर्य के कारण रमणीय बने काव्यों के श्रवण का उद्योग अनलस होकर करे।[2] इस उक्ति की पुष्टि अन्य शास्त्र-कारों से भी होती है।[3]

इस सम्बन्ध में दण्डी का कथन है कि काव्यरूप सागर में (शब्दार्थ रूप रत्न पाने की इच्छा से) तरण करने वाले के लिए छन्दोविज्ञान नौका रूप है। जिस प्रकार नौका लेकर समुद्र में जाने वाले अव्यापन्न भाव से स्वाभीष्ट रत्नादिसंग्रह में समर्थ हुआ करते हैं, उसी प्रकार छन्दोज्ञानसम्पन्न जन काव्य सागर में शब्दार्थ-रत्न का संग्रह कर पाते हैं, अन्यथा नहीं।[4]

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि सुमित्रानन्दन पन्त छन्द को काव्य-मोहिनी की रेशमी विभा, उसकी इन्द्रजाली कांति स्वीकार करते हैं। वे लिखते हैं—

"कविता तथा छन्द के बीच घनिष्ठ व बड़ा गहरा सम्बन्ध है। कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कम्पन, कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते हैं, जिनके बिना वह अपनी ही बन्धनहीनता में अपना प्रवाह खो बैठती है, उसी प्रकार छन्द भी अपने नियंत्रण से राग को स्पन्दन, कम्पन तथा वेग प्रदान कर, निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल कलरव भर, उन्हें सजीव बना देते हैं।

---

१. छन्दोव्याकरणकलालोकस्थितिपदपदार्थ-विज्ञानात्।
युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन ॥ काव्यालंकार १।१८

२. विज्ञानशब्दागमनामधातुच्छन्दोविधाने विहितश्रमश्च।
काव्येषु माधुर्यमनोरमेषु कुर्यादखिन्नः श्रवणाभियोगम् ॥ कविकण्ठाभरण १।१६

३. शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथा।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्या काव्यगैर्ह्यमी ॥ भामह, काव्यालंकार १।६
शब्दस्मृत्यभिधानकोशच्छन्दोविचितिकलाकामशास्त्रदण्डनीतिपूर्वा विद्या।
वामन, काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १।३३

४. छन्दोविचित्यां सकलस्तत्प्रपंचो निदर्शितः।
सा विद्या नौस्तितीर्षूणां गम्भीरं काव्यसागरम् ॥ दण्डी, काव्यादर्श १।१२

छन्दोबद्ध शब्द, चुम्बक के पार्श्ववर्ती लोह-चूर्ण की तरह अपने चारों ओर एक आकर्षण-क्षेत्र तैयार कर लेते हैं, उनमें एक प्रकार का सामंजस्य, एक रूप, एक विन्यास आ जाता है। उनमें राग की विद्युतधारा बहने लगती है, उनके स्पर्श में एक प्रभाव तथा शक्ति पैदा हो जाती है।''[1]

छन्दो-विषयक इस विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि छन्द से सुगठित बन्धन में ही अंकुरित पल्लवित कविता पुष्पित तथा फलित हो पाती है। अतएव वेद से लेकर वर्तमान काल तक का समग्र स्तोत्रसाहित्य छन्द के परिधान में ही परिपुष्ट हुआ है।

ऐसी स्थिति में स्तुतिकुसुमांजलिकार ने भी अपने भक्तिरसाभिषिक्त अमूर्त मनोभावों को प्राणधन आराध्य को समर्पित करने के लिए छन्दोवपुः में मूर्त बनाने का सफल प्रयास किया है। काव्यत्व की दृष्टि से छन्दोबद्धरचना गद्य की अपेक्षा जितनी क्लिष्ट होती है, प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से उतनी ही बलवती भी होती है। जगद्धर की कविता में भी कई स्थलों पर क्लिष्टता का भान होता है, परन्तु कवि की औचित्यपूर्ण छन्दोयोजना ने लालित्य प्रदान करके उसे दूर करने का सफल प्रयास किया है। जगद्धर ने अपने स्तोत्रों को चौदह सौ उनतालीस पद्यों में अभिव्यक्त किया है जिनको नानाविध छन्दों के परिधान में सजाया है। इन पद्यों में अनुष्टुप् से लेकर स्रग्धरा तक सभी लघु दीर्घ छन्दों का समावेश है। इसका उल्लेख आगे उदाहरणपूर्वक दर्शाया गया है। अन्यान्य विषयों की तरह छन्दःशास्त्र पर जगद्धर का अपूर्व अधिकार है। वे जिस प्रकार के भावों को अभिव्यक्त करने का संकल्प करते हैं, उन्हीं के अनुरूप छन्द स्वभावतः उनके सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं। कहीं-कहीं तो कवि ने छन्दों का प्रयोग ऐसे विलक्षण ढंग से किया है, कि अध्येता एवं श्रोता विमुख हो जाते हैं। निदर्शनार्थ तीसवां स्तोत्र प्रस्तुत किया जा सकता है। इस स्तोत्र में इक्यासी पद्य हैं। कवि ने जिन्हें विविध बारह छन्दों में आबद्ध किया है। छन्द भी रथोद्धता जैसा लघु तथा स्रग्धरा जैसा दीर्घ गृहीत है। जगद्धर के समस्त छन्दों की समुचित मीमांसा के विविध पक्ष आगे के पृष्ठों में दिखलाये गये हैं तथा इस अध्याय के अन्त में स्तुतिकुसुमांजलि में प्रयुक्त समस्त छन्दों की तालिका प्रस्तुत की है।

छन्द के चारुत्व, अचारुत्व का मापदण्ड

छन्द के औचित्य की प्रतिष्ठा के लिए छन्दः-शास्त्रियों ने जिन विशेष नियमों का निर्धारण किया है उन नियमों की कसौटी पर खरे उतरने वाले छन्दों का कविता में विशेष स्थान है। अतः सफल कवि के लिए यह अनिवार्य है कि वह इस मापदण्ड पर पूरा उतरे।

---

१. पण्डित जगन्नाथ तिवारी अभिनन्दनग्रन्थ (काव्यशास्त्र, पृ० २९३)। शास्त्रीय पक्ष के ज्ञान के लिए शिवनारायण शास्त्री, काव्यादर्शप्रसादिनी १।१२ देखें।

स्तुतिकुसुमांजलिकार ने औचित्यपूर्ण छन्द को कविता का विशेष हितकारक माना है। उन्होंने "चारुवृत्तरुचिरता" को काव्यलक्षण का अंग कहा है।[1]

इस विषय पर आचार्य क्षेमेन्द्र ने व्यापक विचार किया है कि किस रस-भाव आदि में किस छन्द का प्रयोग औचित्य की दृष्टि से समीचीन होगा। इस विषय में उन्होंने कहा है कि अनुष्टुप् का प्रयोग शमादि का उपदेश देने के लिए, वंशस्थ का नीति, वसन्ततिलका का वीर एवं रौद्ररस, मन्दाक्रान्ता वियोगव्यथा तथा वर्षा आदि के लिए, शार्दूलविक्रीडित शौर्यवर्णन, पृथ्वी आक्षेप धिक्कारादि के लिए विशेष प्रयुक्त होते हैं।[2]

क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि किसी भी छन्द का चुनाव रस के अनुसार और वर्णों की अनुरूपता में करना चाहिए।[3] साथ ही वे यह भी मानते हैं कि लघु छन्द समासयुक्त तथा दीर्घ छन्द समासरहित ही शोभा देते हैं।[4] इस छन्दसिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में जगद्धरभट्ट की छन्दोयोजना सर्वोपरि प्रतीत होती है। छोटे छन्दों में समस्त पद की छटा देखते ही बनती है। जैसे—

नमः सान्द्रानृतस्यन्दिघनध्वनितशोभिने ।
महाकालाय भीष्मोष्मभवग्रीष्मप्रलमच्छिदे ।। स्तु० २।११

नमोवाङ्मनसातीतमहिम्ने परमेष्ठिने ।
त्रिगुणाष्टगुणानन्तगुणनिर्गुणमूर्तये ।। स्तु० १२

ये अनुष्टुप् के उदाहरण हैं, जो छन्दों में सबसे छोटा छन्द है। आगे बड़े छन्दों का उदाहरण प्रस्तुत है—

अस्थाने गमिता लयं हतधियां वाग्देवता कल्पते
धिक्काराय पराभवाय महते तापाय पापाय वा ।
स्थाने तु व्ययिता सतां प्रभवति प्रख्यातये भूतये
चेतोनिर्वृतये परोपकृतये प्रान्ते शिवावाप्तये ।। स्तु० ५.३५

यहां शार्दूलविक्रडित जैसे विशाल छन्द को असमस्त पदों में प्रस्तुत करना कवि के छन्दोविषयक विशेष वैदुष्य का ही चमत्कार है।

---

१. रम्यरीतिरनघा गुणोज्ज्वला, चारुवृत्तरुचिरा रसान्विता ।। स्तु० १।३

२. द्रष्टव्य सुवृत्ततिलक का तृतीय विन्यास, पृ० ११०

३. काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च ।
कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवित् ।। सुवृत्तति० ३।७

४. समासैर्लघुवृत्तानामसमासैर्महीयसाम् ।
शोभा भवति भव्यानामुपयोगवशेन वा ।। सुवृत्तति० २।३

शिखरिणी

इस छन्द के एक चरण में सत्रह अक्षर होते हैं। यह छन्द क्रमशः यगण, मगण, नगण, सगण, भगण तथा अन्त में क्रमशः एक लघु और एक गुरु से युक्त है।[1] समस्त ग्रन्थ में इस छन्द का उपयोग पांच स्तोत्रों में छत्तीस बार किया गया है।

उदाहरणार्थ एक पद्य प्रस्तुत है—

चमत्कारोत्कर्षं कमपि कमनीयं विमृशतां
दिशन्ती सा काचिज्जयति कविवाचां परिणतिः।
यदा सृष्टे चेतस्यमृतमिति निःश्रेयसमिति
प्रियं धामेत्युच्चैः पदमिति समुद्यन्ति मतयः॥ स्तु० ५।२५

क्षेमेन्द्र का कथन है—जैसे चढ़ने की सुविधा होने पर पर्वत के ऊंचे शिखर भी दुर्गम नहीं रह जाते तथा उस सुविधा के अभाव में वे ही शिखर अगम्य प्रतीत होने लगते हैं, उसी प्रकार विसर्गान्त पदों के प्रयोग से शिखरिणी छन्द की स्पृहणीयता सहज सुप्राप्य हो जाती है एवं लुप्त-विसर्गक पदों के प्रयोग से उसकी वह स्पृहणीयता पकड़ के बाहर चली जाती है।[2]

स्तुतिकुसुमांजलि में शिखरिणी का उदाहरण विसर्गान्त होने से अत्यन्त सुन्दर है—

वपुःखण्डे खण्डः प्रतिवसति शैलेन्द्रदुहितुः
शिखण्डे खण्डेन्दुः स्वयमपि विभुः खण्डपरशुः।
तथापि प्रत्यग्रं शरणमुपयातं प्रति विभो-
रखण्डो व्यापारो जगति करुणाया विजयते॥ स्तु० १५।३७

विसर्ग-रहित शिखरिणी छन्द के सौन्दर्य में न्यूनता का आभास होता है। उसका भी उदाहरण आगे प्रस्तुत है—

श्मशानैकस्थानव्यसनमनलोत्तालनयनं
विषज्योतिर्ज्वालाजटिलकुटिलव्यालवलयम्।
विभुं मुण्डश्रेणीविकटमुकुटं भीरुहृदयः
श्रयन् भीमं धामानहमहसनीयः कृतधियाम्॥ स्तु० ११।१२४

इस प्रकार कवि ने अचारु और चारु के भेद से छन्द के प्रयोग के सुन्दरतम उदाहरण अपने स्तोत्र काव्य में प्रस्तुत किये हैं।

---

१. वृत्तरत्नाकर ३।९१

२. शिखरिण्याः समारोहात्सहजैवौजसः स्थितिः।
सैव लुप्तविसर्गान्तैः प्रयात्यत्यन्तमुन्नतिम्॥ सुवृत्तति० २।३१

मालिनी

इस छन्द में पन्द्रह अक्षर होते है, जिनका क्रम इस प्रकार है—दो नगण, एक मगण, पुनः दो यगण ।[1]

जगद्धर ने स्तुतिकुसुमांजलि के चार स्तोत्रों में पच्चीस बार इस छन्द की सुन्दर योजना की है ।

क्षेमेन्द्र ने श्रेष्ठ मालिनी छन्द की परिभाषा में कहा है—"श्लोक के पादों के अन्त में विसर्ग नहीं रहने से मालिनी छन्द पूंछकटी चमरी (मृगविशेष) और पत्रहीन लता के समान ही शोभित नहीं होता ।"[2] इस सिद्धान्त के अनुसार जगद्धरभट्ट का नीचे उद्धृत किया गया पद्य मालिनी छन्द का सुन्दर उदाहरण प्रतीत होता है, जिसमें न केवल सभी पादों के अन्त में ही विसर्ग है, अपितु पद्य का प्रत्येक पद विसर्गान्त है :

जयति जितविकारः क्लृप्तलोकोपकारः कृतविपदपकारः शान्तमोहान्धकारः ।
अतुलपुरुषकारः प्राप्तविश्वाधिकारः स्मररचितनिकारः पार्वतीचाटुकारः ।।

स्तु० १८।१

श्रेष्ठ मालिनी छन्द का दूसरा मानदण्ड है कि चौथे चरण के बीच (परार्द्ध) में समास होने पर मालिनी अच्छी लगने लगती है, लेकिन पूर्वार्द्ध में (प्रथम-द्वितीय चरणों के बीच) समास कर देने से मालिनी निन्दनीय वन जाती है ।[3]

हीनमालिनी प्रथमार्ध समस्तपाद का उदाहरण जैसे—

करकलितकपोला बालशैवालशय्यातललुलितमृणालीपेलवम्लानमूर्तिः ।
चिरविरहविनिद्रा रुद्रदृक्पातपात्रं दिशिदिशि निशि पश्यत्यंगनानंगभीरुः ।।

स्तु० १८।५

हरिणी

हरिणी छन्द का एक चरण सत्रह अक्षरों का होता है । इसमें नगण, सगण, मगण, रगण, सगण, एक लघु और एक गुरु होता है ।

इस छन्द के गुण-दोषों का विवेचन करते हुए क्षेमेन्द्र ने कहा है कि द्रुत गति से चलते हुए पदखण्डों की योजना से हरिणी छन्द अधिक शोभायमान होता है, जबकि द्रुतिविहीन पदों के प्रयोग से वह निष्प्राण-सा प्रतीत होने लगता है ।[4]

---

१. वृत्तरत्नाकर ३।८३

२. विसर्गहीनपर्यन्ता मालिनी न विराजते ।
चमरी छिन्नपुच्छेव वल्लीवालूनपल्लवा ।। सुवृत्तति० २।२२

३. द्वितीयार्धे समस्ताभ्यां पादाभ्यां मालिनी वरा ।
प्रथमार्धे समस्ताभ्यां पादाभ्यामवरा मता ।। सुवृत्तति० २।२३

४. त्वरातरलविच्छेदैर्विभाति हरिणी पदैः ।
मन्थरैर्ग्रन्थिबद्धेव याति निष्पन्दसंगताम् ।। सुवृत्तति० २।२४

जगद्धर ने इस छन्द का प्रयोग सम्पूर्ण ग्रंथ में केवल चार बार (१८।२२-२३, ५।२४, १०।७५ में) ही किया है। इन्हीं चारों में से हरिणी का उपर्युक्त परीक्षा-निकष पर परीक्षण किया जा सकता है। विचार करने पर निम्नलिखित पद्य को तरलपक्ष के उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया जाता है। ठीक इसी प्रकार का उदाहरण क्षेमेन्द्र ने भी प्रस्तुत किया है। जगद्धर का उदाहरण देखिए—

> इह हि महिमा मायामोहप्ररोहतिरोहित-
> त्रिजगदगदंकारः सारस्वतः प्रथते सताम्।
> प्रभवति जरामृत्युव्याधिप्रबन्धनिबन्धन-
> व्यसनजनितव्यापत्तापक्लमादगमाय यः ॥ स्तु० ५।२४

आगे पदमन्दता के कारण दोषयुक्त हरिणी का उदाहरण द्रष्टव्य है—

> किमिव मणिभिः किं वा मन्त्रैः किमोषधिसंग्रहै-
> रिह बहुविधैः किं वा कार्यं परैरपि भेषजैः।
> अमृतमपि न प्रायः पापोपतापशमक्षमं
> व्रजत शरणं तस्मादेकं हरं करुणापरम् ॥ स्तु० १८।२२

वसन्ततिलका

स्तुतिकुसुमांजलि के पन्द्रह स्तोत्रों में चार सौ उनहत्तर पद्य इसी छन्द में आबद्ध हैं। प्रत्येक स्तोत्र में इस छन्द के साथ-साथ अन्यान्य छन्दों का भी प्रयोग हुआ है। इस छन्द के सर्वाधिक प्रयोग से यह बात सिद्ध है कि कवि का वसन्ततिलका के प्रति विशेष आकर्षण है। यहां यह भी ध्यातव्य है कि महाकवि कालिदास प्रभृति अन्य कवियों की तरह जगद्धर भट्ट ने भी अपने स्तोत्रमाला के पद्य-सुमनों को विविधवर्णप्रधान छन्दों से सजाने का सफल प्रयास किया है। इन अनेक छन्दों के सुन्दरतम प्रयोगों से वे अपने पाठक एवं श्रोता को प्रभावित भले ही करते हैं, परन्तु वसन्ततिलका छन्द के सुन्दर परिधान में सजी कवि की कविता अत्यधिक मनोहारिणी बन गयी हैं। स्तोत्रों के लिए किसी छन्दोविशेष का निर्देश छन्दःशास्त्रियों तथा साहित्याचार्यों ने कहीं भी विशेष रूप से नहीं किया है। परन्तु जगद्धर भट्ट ने अपने स्तोत्रों में सभी प्रकार के छन्दों का प्रयोग करने के बाद भी "वसन्ततिलका" छन्द की महिमा का स्वयं उल्लेख किया है।

जगद्धर ने लिखा है कि जैसे तिलक से भालस्थली सुशोभित होती है, जैसे अत्यन्त सुन्दरी कामिनी के कटाक्ष-वीक्षण से प्रफुल्लित तिलकवृक्ष से वन की पंक्तियां सुशोभित होती हैं, चन्द्रमा से रजनी की शोभा में वृद्धि होती है, वैसे ही भगवान् शंकर को किया गया मेरा यह आत्मनिवेदन "वसन्ततिलका" नामक छन्द से सुमनोहर

शोभा को धारण करता है।[1]

आचार्य क्षेमेन्द्र ने वसन्ततिलका के सुन्दर प्रयोग में यद्यपि कवि "रत्नाकर" को मुख्य माना है,[2] तथापि जगद्धर के पूर्वोक्त कथन से यह सिद्ध है कि वे स्वयं भी वसन्ततिलका के प्रयोग में पूर्ण सिद्धहस्त हैं। स्तुतिकुसुमांजलि में इस छन्द के सौन्दर्य एवम् औचित्यपूर्ण प्रयोग के कारण ही इसके स्तोत्रों की विशेष महिमा है।

वसन्ततिलका के प्रत्येक चरण में चौदह अक्षर होते हैं, जो क्रमशः तगण, भगण, दो जगण तथा दो गुरु के रूप में प्रयुक्त होते हैं।[3] उपर्युक्त लक्षण के अनुसार जगद्धर ने चार सौ उनहत्तर पद्य लिखे हैं।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने मनोरम वसन्ततिलका का विवेचन करते हुए लिखा है कि प्रथम द्वितीय पाद के अन्तिम वर्णों से पूर्व वर्ण यदि आकार स्वर से युक्त हो और ओजोगुणव्यंजक वर्णों का विन्यास किया जाये, तो वसन्ततिलका छन्द की महिमा अधिक बढ़ जाती है।[4]

उपर्युक्त परीक्षण-निकष पर खरे उतरने वाले अनेक सुन्दर उदाहरण स्तुति-कुसुमांजलि से प्रस्तुत किये जा सकते हैं। यहां एक पद्य प्रस्तुत है—

आवर्जयन्ति मठरा जठरार्थमात्रपात्रीकृतार्थकणिका गणिकाविटाद्याः।
प्रौढान् पुनर्भुजगभूषणभक्तिसिक्तसूक्तावलीविचनाचतुराः कवीन्द्राः॥

स्तु० ५।८

इस श्लोक के प्रथम पाद का अन्तिम वर्ण "त्र" है, "त्र" से पूर्व का वर्ण "मा" आकार से युक्त है। इसी प्रकार द्वितीय पाद का "टा" भी आकार से युक्त है। श्लोक में ट वर्ग का प्रयोग ओजोगुणव्यंजक है। इस प्रकार उपर्युक्त श्लोक वसन्ततिलका का औचित्यपूर्ण सुन्दर उदाहरण है।

शार्दूलविक्रीडितम्

कवि ने विभिन्न तेरह स्तोत्रों में इस छन्द का उपयोग अठानवें बार किया

---

१. भालस्थलीव तिलकेन वधूकटाक्ष-
विक्षोभितेन तिलकेन वनावलीव।
विज्ञप्तिरेणतिलकेन विभावरीव
शोभां वसन्ततिलकेन बिभर्ति शंभोः॥ स्तु० ६।८०

२. वसन्ततिलकारूढा वाग्वल्ली गाढसंगिनी।
रत्नाकरस्योत्कलिका चकास्त्याननकानने॥ सुवृत्तति० २।३२

३. वृत्तरत्नाकर ३।७८

४. वसन्ततिलकस्याग्रे साकारे प्रथमाक्षरे।
ओजसा जायते कान्तिः सविकासविलासिनी॥ सुवृत्तति० २।२०

है । इस छन्द के प्रत्येक चरण में उन्नीस अक्षर होते हैं, अर्थात् मगण, सगण, जगण, सगण, दो तगण और एक गुरु का क्रमशः होना आवश्यक है । प्रथम यति बारहवें अक्षर पर तथा दूसरी उन्नीसवें पर होती है ।[1]

शार्दूलविक्रीडित छन्द के लिए आचार्य क्षेमेन्द्र ने जिस चारुत्वपूर्ण निबन्धन का निर्धारण किया है, उसके परिप्रेक्ष्य में जगद्धर के कवित्व का परीक्षण किया जा रहा है । क्षेमेन्द्र का कथन है कि प्रत्येक चरण के आदिम अक्षरों के आकारयुक्त रहने से तथा पादों के अन्त में विसर्ग का प्रयोग होने से शार्दूलविक्रीडित छन्द एक विलक्षण ही कान्ति धारण कर लेता है । शार्दूलविक्रीडित छन्दका यह सर्वोत्तम प्रकार है ।[2]

स्तुतिकुसुमांजलिकार का इस निकष पर पूरा उतरने वाला उदाहरण निम्नांकित है—

सारासारविदः सतां भयभिदः प्रह्वोपतापच्छिदः
कारुण्यार्द्रहृदः प्रसन्नसुहृदः स्फारीभवत्संविदः ।
त्राताशेषविश. प्रकाशितदिशः कीर्त्या महीनिर्विशः
कर्षन्तीश निशः प्रसक्तसुदृशस्त्वत्पादपीठस्पृशः ॥ स्तु० ३३।११

इस छन्द की सुन्दरता का दूसरा प्रकार है इस छन्द के पूर्वार्द्ध में (प्रथम द्वितीय-चरणों के बीच) यदि समास नहीं करके दोनों चरणों को अलग-अलग रखा जाए तथा उत्तरार्द्ध में (तृतीय-चतुर्थ चरणों के बीच) समास करके दोनों को मिला दिया जाय, तो छन्द की शोभा बढ़ जाती है । किन्तु विरुद्ध करने से इसकी (छन्द) सारी सुषमा नष्ट हो जाती है ।[3]

चारुत्व का उदाहरण देखिये—

राकाकान्तरुचः क्षताखिलशुचः पीयूषधारामुचः
स्वान्तक्लान्तिहृतश्चमत्कृतिकृतः संगीतभंगीभृतः ।
शंभोरम्बुदनादविह्वलवलद्बालांगनालिंगन-
ह्लादस्वादसुखस्पृहामिह जहत्यन्तर्मृशन्तः स्तुतीः ।। स्तु० ३३।१०

अचारुत्व का उदाहरण—

---

१. वृत्तरत्नाकर ३।८९

२. साकाराद्यक्षरैः पादपर्यन्तैः सविसर्गकैः ।
शार्दूलविक्रीडितं धत्ते तेजो जीवितमूर्जितम् ॥ सुवृत्तति० २।३५

३. विच्छिन्नपादं पूर्वार्द्धे द्वितीयार्द्धे समावसत् ।
शार्दूलविक्रीडितं भाति, विपरीतमतोऽधमम् ॥ सुवृत्तति० २।३७

यत्तत्सर्गनिसर्गनिमीतकिरं यद्रावणद्रावण-
व्यापारावसरावसक्तमथ यत्संवर्तसंवर्तकम् ।। स्तु० १४।२८

स्रग्धरा

इस छन्द के एक पाद में २१ अक्षर होते हैं, जो क्रमशः मगण, रगण, भगण, नगण और तीन यगणों में विभक्त होते हैं। तीन बार सात-सात अक्षरों पर यति होती है।[1]

जगद्धर ने पांच स्तोत्रों में बाईस बार इस छन्द का सफल प्रयोग किया है।

औचित्य की दृष्टि से उत्तम स्रग्धरा के संबंध में क्षेमेन्द्र की मान्यता है कि पादों के आदि और अन्त में आकार या कोई गुरु वर्ण रहे, तथा पादान्त में विसर्ग रहे, साथ ही विराम पर सन्धि नहीं की जाये तो स्रग्धरा छन्द अत्यन्त सुशोभित होता है।[2] जैसे—

धातुश्चातुर्यभाजो जनजननविधौ या मुखेभ्यश्चतुर्भ्यः
साकं नाकस्थितानामजनिषत कृतप्रीतयः स्फीतलासाम् ।
तासामासां श्रुतीनां जनयति नियतं कर्मभिः शर्मकृद्भिः
साफल्यं यः स यज्वा वपुरधृत-विपत्संगमस्ते नमस्ते ।। स्तु० ३३।४१

इसी छन्द का द्वितीय प्रकार वह है जिसमें पादान्त में विसर्ग अत्यन्त आवश्यक होता है। इसके रहने से इतर दोष भी उतने अपकारक नहीं होते हैं। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए कहा है कि पादों के आदि और अन्त में आकार न रहने के कारण इस छन्द में जो दोष आ आता है, वह भी पादान्त में विसर्ग रहने से निर्दोष हो जाता है।[3]

जगद्धर के स्तोत्रों में इसका सुन्दरतम निदर्शन देखिये—

षट्चक्रस्यः षडध्वप्रसरसरभसः सर्गबन्धप्रगल्भः
प्रत्यग्रब्रह्मनव्यस्तवपठनपरब्रह्मसच्चक्रशक्रः ।
दक्षक्रत्वन्तकत्वं दधदधममदध्वंसलक्ष्यप्रशंसः
संसर्गध्वस्तपंको गणगणमचलं कल्पयन्हन्त्वघं वः ।। स्तु० ३४।३

यहां पर आदि में आकार का प्रयोग नहीं है तथा मध्य-मध्य में विराम भी हैं, फिर भी यह छन्द अत्यधिक सुशोभित हो रहा है, इसका एकमात्र कारण पादान्त

---

१. वृत्तरत्नाकर ३।१०३

२. आकारगुरुयुक्तादिपर्यन्तान्तविसर्गिणी ।
असंस्यूतविरामा च स्रग्धरा राजतेतराम् ।। सुवृत्तति० २।४१

३. आद्यन्ताकारविरहाद् बन्धदोषः स्फुटोऽपि यः ।
अविलुप्तैर्विसर्गान्तैः स्रग्धरायां समीहते ।। सुवृत्तति० २।४२

विसर्गों का उचित प्रयोग ही है ।

मन्दाक्रान्ता

इस छन्द को जगद्धर ने अपने विभिन्न बारह स्तोत्रों में इकसठ बार यथा-स्थान प्रयुक्त किया है । भक्तिस्तोत्र नामक सत्रहवें स्तोत्र में प्रथम से छब्बीसवें पद्य-पर्यन्त इसका सफल प्रयोग हुआ है । यह छन्द प्रत्येक चरण में सतरह अक्षर वाला होता है, जिसमें क्रमशः भगण, मगण, नगण, तगण, तगण और अन्त में दो गुरु होते हैं ।[1] जगद्धर का मन्दाक्रान्ता में निबद्ध प्रत्येक पद्य इस लक्षण का पूर्ण-रूपेण परिपालन करता है ।

मन्दाक्रान्ता के गुणदोषविवेचन में क्षेमेन्द्र द्वारा निर्धारित मानदण्ड[2] पर परीक्षणार्थ भी जगद्धर के पद्य उभयविध पक्षों के लिए प्रस्तुत किये जा सकते हैं ।

चारु मन्दाक्रान्ता के लिए एक श्लोक प्रस्तुत है—

एणाक्षीणां स्मरशरशिखाकोटिशौटीर्यभीमाः
प्रेमाकृष्टा झगिति कुटिला ये कटाक्षाः पतन्ति ।
कालेनैते कुलिशनिशितास्तुण्डदण्डा जडानां
भिन्दन्त्यन्तर्हृदयमदयं पत्रिणां नारकाणाम् ॥ स्तु० १७।२२

इस पद्य में तीन पादों के प्रारंभिक चार वर्णों की मन्दता और आगे के छह वर्णो की तरलता से क्षेमेन्द्र के पूर्वोक्त कथनानुसार इस छन्द के सौन्दर्य में वृद्धि हो रही है ।

पृथ्वी

पृथ्वी छन्द उसे कहते हैं, जिसमें सतरह अक्षर जगण, सगण, जगण, सगण, यगण, लघु तथा गुरु के क्रम से विन्यस्त हों । इस छन्द में यति आठ तथा नौ वर्णों पर होती है ।[3]

जगद्धर ने विविध नौ स्तोत्रों में इस छन्द का प्रयोग ग्यारह पद्यों में किया है । सभी पद्य उपर्युक्त लक्षण पर ठीक जंचते हैं ।

पृथ्वी छन्द के चारुत्व अचारुत्व के विवेचन के प्रसंग में क्षेमेन्द्र ने कहा है कि समासरहित तथा पृथक्-पृथक् पदों के प्रयोग से यह छन्द पृथ्वी के समान विशाल प्रतीत होता है, किन्तु वही छन्द जब समास की ग्रन्थियों से आबद्ध हो जाता है तब संकु-चितता के कारण अपनी विशालता खो देता है ।[4]

---

१. वृत्तरत्नाकर ३।९५

२. मन्थराक्रान्तविश्रब्धैश्चतुर्भिः प्रथमाक्षरैः ।
मध्यषट्केऽतिचतुरे मन्दाक्रान्ता विराजते ॥ सुवृत्तति० २।३४

३. वृत्तरत्नाकर ३।९२

४. असमासैः पदैर्भाति पृथ्वी पृथ्वी पृथक् स्थितैः ।
समासग्रन्थिभिः सैव याति संकोचखर्वताम् ॥ सुवृत्तति० २।२७

जगद्धर के पद्यों में से पृथक्पदा पृथ्वी का उदाहरण देखिये—

अवाप्य गुरुभिर्गुणैर्जगति गौरवं ध्यायतस्
तमीरमणशेखरं भवति गौरवन्ध्यायतः ।
अतस्तमुमया समं कृतमहाविलासं प्रति
स्तुतौ विरचिता मया मतिरनाविला सम्प्रति ।। स्तु० १।२८

यहां पर असमस्त तथा पृथक्-पृथक् पदों के प्रयोग से पृथ्वी छन्द अधिक सुशोभित हो रहा है ।

समासवती पृथ्वी छन्द का उदाहरण—

अतः प्रतनु वैभवोद्भवदखर्वगर्वक्षमा-
पतिप्रणयसंभवं भुवि विडम्बनाडम्बरम् ।
विहाय सुरवाहिनीपुलिनवासहेवाकिनो
भजन्ति कृतिनस्तमीरमणखण्डचूडामणिम् ।। स्तु० १।४०

उपर्युक्त उदाहरण में समस्त होने के कारण पदों की पृथगवस्थिति समाप्त हो गयी है, अतः यह क्षेमेन्द्र के पूर्वोक्त वचन के अनुसार अपने सौन्दर्य निकष पर खरा नहीं उतरा है ।

रथोद्धता

इस छन्द के चारों चरण ग्यारह-ग्यारह अक्षर के होते हैं, अर्थात् रगण, नगण, रगण, अन्त में प्रथम लघु तथा अन्तिम गुरु का होना आवश्यक है ।[1]

जगद्धर ने अपने चार स्तोत्रों में कुल सड़सठ बार इस छन्द का प्रयोग किया है । कवि का यह छन्द परीक्षण के प्रत्येक निकष पर निर्दोष सिद्ध होता है ।

इस छन्द के गुण बतलाते हुए क्षेमेन्द्र ने कहा है कि जैसे ललित कलाओं को जानने वाली बाला प्रगल्भता को प्राप्त कर लेती है, उसी प्रकार पादान्त वर्णों के विसर्गयुक्त होने से रथोद्धता नामक छन्द भी अधिक सुन्दर लगने लगता है । अर्थात् पादान्त विसर्ग वाला रथोद्धता छन्द ही औचित्यपूर्ण है ।[2] स्तुतिकुसुमांजलि में इसका उदाहरण निम्नलिखित है—

त्वां सतामरसवासवाऽऽसवा ज्ञातदुर्गमगमागमाऽऽगमाः ।
अर्चयन्ति सदिनं दिनं दिनं, गीर्भिरम्बरसदः सदः सदः ।। स्तु० १४।६

उपर्युक्त मान्यता के विपरीत अविसर्गान्त पादान्त वर्णों वाला यह छन्द कान्तिहीन कहा गया है ।[3] इसके अनुसार जगद्धर का पद्य है—

---

१. वृत्तरत्नाकर ३।८०

२. विसर्गयुक्तैः पादान्तैर्विराजति रथोद्धता ।
कलापरिचयैर्याता लटभेव प्रगल्भताम् ।। सुवृत्तवृ० २।१३

३. अविसर्गैस्तु पादान्तैर्निष्प्रभेव रथोद्धता । सुवृत्तवृ० २०।१४

स त्वदायतनदेहलीतले पुष्पपात्रकरपत्रिकाकरम् ।
कंचिदेव भवदर्चनोत्सुकं चन्द्रशेखर करोति कातरम् ।। स्तु० १४।१०

यहां पर पादों के अन्त में विसर्ग न होने से इस छन्द की कान्ति क्षीण हो गयी है ।

वंशस्थ

प्रत्येक चरण में बारह अक्षरों वाला यह छन्द क्रमशः जगण, तगण, जगण तथा रगण से समन्वित होता है ।[1] जगद्धर ने अपने विभिन्न सात स्तोत्रों में एक सौ पाँच बार इस छन्द का उपयोग किया है । सभी पद्य छन्द के नियमों का सर्व-विध परिपालन करने के कारण सुन्दरतम उदाहरण बन गये हैं ।

इस छन्द के विशिष्ट गुणों का निर्देश करते हुए क्षेमेन्द्र ने कहा है कि दो-दो पाद परस्पर सन्धि के द्वारा मिले हों, समास से नहीं, वह सन्धि भी विसर्गस्थानीय हो तो अत्युत्तम है, छन्द के द्वितीय-चतुर्थ पाद के अन्त में अनिवार्य रूप से विसर्ग हों । इस प्रकार से प्रयोग करने पर वंशस्थ छन्द बहुमूल्य बन जाता है ।[2]

इस सगुण वंशस्थ के उदाहरणार्थ स्तुतिकुसुमांजलि का एक पद्य प्रस्तुत किया जाता है—

अचेतनो यः किल कुस्थितिप्रियः पृथग्विधोपाधिशतक्षताशयः ।
निषेव्यते पादतले स यद्गिरिश्चिरं मुनीन्द्रैरपि शुद्धमानसः ।। स्तु० ७।१९

यहां पर द्वितीय चतुर्थ पादों के अन्त में विसर्ग होने के कारण, प्रथम द्वितीय पादों के मध्य सन्धि-विच्छेद तथा तृतीय और चतुर्थ चरण के मध्य में विसर्ग-स्थानीय सन्धि होने के कारण पूर्वोक्त पद्य वंशस्थ का अत्यन्त सुन्दर उदाहरण बना है । इसके विपरीत सामान्य वंशस्थ का उदाहरण देखिए—

निदाघनिर्दग्धमहामरुभ्रम-क्लमच्छिदो मार्गमहीरुहादपि ।
कलिन्दकन्यासलिलौघसंगत-त्रिमार्गगाम्भोभरसम्प्लवादपि ।। स्तु० ७।२०

उपर्युक्त पद्य में पादान्त विसर्गों के अभाव से, प्रथम द्वितीय चरणों के मध्य विसर्ग-स्थानीय संधि-विच्छेद के अभाव से तथा तृतीय-चतुर्थ चरणों के मध्य समास के द्वारा मेल होने के कारण से पूर्वोक्त नियमानुसार यह छन्द प्रभावरहित प्रतीत होता है ।

निष्कर्ष

इस प्रकार स्तुतिकुसुमांजलि के छन्द-पक्ष की समीक्षा करने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि छन्दःशास्त्र जगद्धर का रसनाग्रवर्ती था । वह छन्द का

---

१. वृत्तरत्नाकर ३।४७

२. असमस्तपदैः पादसन्धिविच्छेदसुन्दरम् ।
सर्वपादैर्विसर्गान्तैर्वंशस्थं यात्यनर्घताम् ।। सुवृत्तति० २।१७

मर्मज्ञ विद्वान् था। कवि की छन्दोविषयक सूक्ष्म प्रतिभा का दर्शन विगत पृष्ठों पर किया गया है। कवि ने विषय के अनुरूप छन्द का चयन करके, छन्द की औचित्यपरम्परा का पूर्ण निर्वाह किया है। ग्रन्थ में कुल तीस छन्द प्रयुक्त किए गये हैं, जिनका विवरण आगे प्रस्तुत तालिका में दिया गया है। इस तालिका में बताया गया है कि विभिन्न छन्दों का प्रयोग स्तुतिकुसुमांजलि में कहां-कहां हुआ है। मोटे तौर पर अधिक प्रयुक्त छन्दों में कवि ने शार्दूलविक्रीडित १३ स्तोत्रों में कुल ९८ बार, मन्दाक्रान्ता १२ स्तोत्रों में ६१ बार, शिखरिणी ५ स्तोत्रों में ३६ बार, स्रग्धरा ५ स्तोत्रों में ३७, मालिनी ४ स्तोत्रों में २५, वंशस्थ ७ स्तोत्रों में १०७, रथोद्धता ५ स्तोत्रों में ६७, वसन्ततिलका २० स्तोत्रों में ४६९ बार प्रयुक्त किया है।

इस प्रकार उपर्युक्त छन्द समीक्षा से यह कहा जा सकता है कि कवि की छन्द योजना उसके महाकवित्व के सर्वथा योग्य है।

स्तुतिकुसुमांजलि में प्रयुक्त छन्दों की स्थल-सूची

१. अनुष्टुप्—२।१-२४

२. अभिनव तामरस ३१।११-१६

३. आर्या—३७।१-२०

४. इन्द्रवज्रा—१२।३, ६, २६।१-३४

५. उपजाति—१२।१, २, ४, ५, ७-११, २१।२३, ३०।१२-१४, ३१।१-५

६. उपेन्द्रवज्रा—२६।३२

७. औपच्छन्दसिक—१।३१, १३।१-१७, ३८-४१, १४।२६, १५।३८, २३।१-२७, २४।१-२५

८. चण्डी—३०।६८-६९

९. जलोद्धतगति—२९।३३-३४

१०. तोटक—३०।४०-४१, ५८-६१, ७७

११. द्रुतविलम्बित—१०।१-६४, २७।१-३३, २९।२५, २९, ३०।९, २३।३०, ३९, ७१-७३, ३८।३०

१२. नर्दटक—२।३०

१३. पंचचामर—३०।७९

१४. पृथ्वी—१।२८, ३।४५, ६।१-८, ७।३९-४०, १०।८५-९१, १८।२४-२५, २०।४१, २४।२७, ३०।७८, ३८।२७

१५. प्रकृति—३१।२६-३०, ३२।१-८

१६. प्रमाणिका—३०।३१-३८

१७. प्रमिताक्षरा—२११८, २५१-२७, ३०११०, ६२-६७, ३८१६-१०, १७, २०

१८. प्रहर्षिणी—१३१४२, २११-१७

१९. मंजुभाषिणी—१२१३२, १६११-२६

२०. मन्दाक्रान्ता—११२९-३०, ३१४६-४७, ७१४१-४२, १०१७४-८८, ८३, ११११२६-१२८, १४१२७, १६१२७, १७११-२६, २८१२१-२५, ३९१३५, ३६, २६१३२-४१

२१. मालिनी—१८११-२१, १९१३१, २६१३५, ३८१२८-२९

२२. रथोद्धता—१११-२३, १४११-२५, २२११-११, ३०११-८

२३. वंशस्थ—२१२५-२९, ७११-३, १२११२, २१, २४१२६, २९११-२४, २६-२८, ३०, ३१, ३०११५-२२, ३८११-२१

२४. वसन्ततिलका—११२४-२७, ३११-४४, ४९, ४११-८, ५११-२३, ७१३४-३८, ८११-४२, ९११-८०, १०१६५-६६, ११११-१२३, १२१२२-३१, १३१४३, १५१३१-३२, १९११-३०, २०११-४०, २१११९-२२, २२११२, २७१३४, ३०१११, ४२-५८, ७०, ३६११-३१, ३८१२३-२५

२५. शशिकला—३११२१-२५

२६. शार्दूलविक्रीडित—३१४८, ५०-६०, ५१२८-३६, ८१५०-५२, ९१८१-८८, १०१७६-८१, १११३१-१३९, १४१-१४३, १४१२८, १५१३९, २११२४, २४१२८, २८११-२०, ३३११-२९, ३३१२४-२५

२७. शिखरिणी—५१२५-२७, ७१४१, १०१६७-७३, ८४, १११२४-१२५, १५१३७

२८. स्रग्धरा—१११४०, १७१२७-३०, २८१२६-२७, ३०१८०-८१, ३३१३०-४५, ३४११-१३

२९. हरिणी—५१२४, १०१७५, १८१२२-२३, ३८१२२

—०—

सप्तम अध्याय

स्तुतिकुसुमांजलि के पौराणिक उपाख्यान

पुराण स्तोत्र साहित्य का मेरुदण्ड हैं। यह ऐसा आधारपीठ है जिस पर आज भी स्तोत्रसाहित्य अपनी महत्ता को सुरक्षित रखे हुए प्रतिष्ठित है। पुराणों का गौरव वेदवत् माना गया है। इनमें किसी एक देवता को प्रमुख मानकर उससे सम्बद्ध विविध घटनाओं का उल्लेख किया गया है। इस सन्दर्भ में उस देवता की स्तुति भी की गई है। स्तुति में उस देवता के बल, पौरुष, दया दाक्षिण्य आदि विविध गुणों का वर्णन स्वाभाविक है। प्रसंगवश उस देवता के साथ उसके आश्रितों एवं भक्तों का विशद वर्णन भी कई स्थलों पर हो ही जाता है, जो एक उपाख्यान का रूप धारण कर लेता है।

स्तुतिकुसुमांजलि विशुद्ध स्तोत्रग्रन्थ है। इसमें न तो धारावाही किसी घटना का उल्लेख है और न ही किसी इतिहासपरम्परा का। इसमें भक्त कवि केवलमात्र अपने आराध्य देव की कृपा प्राप्त करने के लिए एकमात्र उसी के गुण गाता है। परन्तु जब वह अपने इष्ट की महिमा का स्मरण करता है तो स्वाभाविक ही उसके सामने पुराणों में वर्णित अनेक कृपामयी कथाएं उपस्थित हो जाती हैं। इन कथाओं की पुनरावृत्ति किये बिना वह भक्तहृदय रह नहीं सकता। ऐसे अनेक पौराणिक उपाख्यानों का उल्लेख जगद्धर ने यथाप्रसंग किया है। इनसे स्तुति में एक विशेष चमत्कृति का अनुभव होता है। ऐसा उल्लेख भी सूत्रात्मक ही होता है न कि विस्तृत वर्णनात्मक। कवि की यह अपनी विशेषता है कि किसी पूरे पौराणिक उपाख्यान का स्मरण न केवल एक श्लोक में बल्कि श्लोक के एक पाद में भी करा देता है। शंकराचार्य के देवी-स्तोत्र में (भवानि त्वत्पाणिग्रहण-परिपाटीफलमिदम्) में श्लोक का एक पाद पढ़ने मात्र से ही उमा महेश की विवाह-कथा स्मरण हो आती है। इसी प्रकार प्रकृत ग्रन्थ में अनेक प्रसंगों में पौराणिक उपाख्यानों का उल्लेख हुआ है। कहीं-कहीं तो भक्त कवि इतना भावविभोर हो गया है कि एक ही पद्य में अनेक पौराणिक उपाख्यान संजो देता है—

दोषाकरस्य शिरसि स्थितिमुत्तमाङ्गच्छेदं विधेरविग्रहं नरवाहनस्य।
भस्मीकृतिं त्रिपुरपाशधरस्मराणां वश्यं दिशां च दशकं दशकन्धरस्य॥ स्तु० ८।४

अर्थात् भगवान शिव ने दोषाकर चन्द्रमा को शिर पर धारण किया, बायीं कनिष्ठ अंगुलि के नख से ब्रह्मा के शिर का छेदन कर डाला, कुबेर के साथ दृढ मित्रता की, त्रिपुरासुर, यमराज और काम को भस्म किया। दशों दिशाओं को अपने भक्त

रावण के अधीन कर दिया।

इस प्रकार के आख्यान महाभारत में भी उपलब्ध हैं। पुराणों एवं महाभारत के इन उपाख्यानों का वर्णन स्तुतिकुसुमांजलि में किया गया है। कवि ने यद्यपि अनेक देवताओं से सम्बद्ध उपाख्यानों का उल्लेख किया है तथापि निदर्शनार्थ शिव सम्बन्धी कुछेक उदाहरण प्रस्तुत हैं—

शिव-संबंधी उपाख्यान

(क) स्कन्द स्वामी कार्तिकेय

पुराणों में मुख्य रूप से भगवान शिव के दो पुत्रों का उल्लेख है। जिनमें से एक हैं स्कन्द, जो षण्मुख एवं कार्तिकेय के नाम से भी प्रसिद्ध हैं और दूसरे गणेश। मत्स्य पुराण में कथा है कि देवी की वाम कोख को फाड़कर एक अन्य शिशु बाहर निकला। उसके छह मुख थे। इसका क्षरण होने के कारण इसका नाम स्कन्द हुआ। ब्रह्मादि देवों ने उसे सेनापति के पद पर अभिषिक्त किया। शक्र ने देवसेना नामक कन्या स्वामिकार्तिकेय की स्त्री-पद के लिए सौंपी। इसी प्रकार अनेक देवताओं ने नानाविध उपकरण दिए। इस तरह सुसज्जित होकर कार्तिकेय ने तारकासुर नामक बलशाली दैत्य का विनाश किया। प्रसन्न देवताओं ने उन्हें नाना वर प्रदान किये।[1]

स्वामी कार्तिकेय का उल्लेख स्तुतिकुसुमांजलि में विशेष रूप से किया गया है। जगद्धर भट्ट कहते हैं, "जिस सदाशिव ने तारकासुर दैत्य को मारने वाले स्वामी कार्तिकेय को उत्पन्न किया, उसके लिए हमारा प्रणाम है।[2] हे नाथ। इसी स्वामी कार्तिकेय को शुचिजाति (अग्नि से उत्पन्न हुआ) और विशाख (कुमार) समझते हो, और अत्यंत प्रिय समझते हो, तो हे भगवान। मैं भी वैसा ही हूं? अतः मैं अनन्यशरण आपके तिरस्कार का पात्र कैसे हो सकता हूं?"[3]

शिव-पुत्र के रूप में तारकासुर का संहार करने के लिए उत्पन्न हुए स्वामी कार्तिकेय का उल्लेख बीजरूपेण जगद्धर ने स्तुतिकुसुमांजलि में किया है। ऐसा ही उल्लेख महाभारत, रामायणए वं अनेक पुराणों में संक्षेप एवं विस्तार से वर्णित है।

महाभारत में[4] इसे रुद्रसंभूत कहा है। अन्य पुराणों में भी नाना रूप से

---

१. मत्स्य पुराण, अध्या० १५९-१६०

२. नमः समुत्पादिततारकद्विषे। स्तु० २।२७

३. मत्वाऽथ नाथ शुचिजातिममुं विशाखमस्मिन् मनो यदि बिभर्षि दृढप्रसादम्।
एवंविधोऽप्यहमनन्यपरायणस्ते कस्माद्भवानि भगवन्नवलेपभूमिः॥ स्तु० ११।६०

४. (क) मिथुनं ते महाभाग, तत्र तद् रुद्रसंभवम्।
भूतं लोकहितोद्देशे शुक्रशेषमवापतत्॥ म० भा० वनपर्व १८८।८-५०
(ख) कुमारस्तु महावीर्यः कार्तिकेय इति स्मृतः।
गांगेय पूर्वमभवन्महाकायो बलान्वितः॥ म० भा०, शल्यपर्व ४४।६-३७

स्कन्द की उत्पत्ति एवं वीरता का उल्लेख किया गया है ।[1]

(ख) हालाहलपान

यह कथा पुराणों एवं महाभारत आदि में बड़े विस्तार से कही गई है, स्तुतिकुसुमांजलि में इसका उल्लेख वीजरूप में इस प्रकार मिलता है, "क्षीरसागर से निकले हुए हालाहल के निगलने से प्राप्त हुई निर्भयता द्वारा उत्पन्न प्रमोदभर से निश्चिन्त हुए देवता और दैत्यवृन्द से वन्दित भगवान शिव धन्य हैं ।"[२]

महाभारत में भी कहा है कि ब्रह्मादि देवों की प्रार्थना से भगवान शिवजी भयंकर विष का पान कर गये, जिससे इनका नाम नीलकण्ठ हुआ ।[3] भागवत महापुराण में भी इसका विस्तार से उल्लेख है ।[४] शिवपुराण एवं मत्स्य पुराण में भी यह कथा आयी है ।[५]

(ग) दक्षयज्ञध्वंस

यह कथा प्रसिद्ध है कि दक्ष की कन्या सती के साथ भगवान् शिव का पाणिग्रहण संस्कार हुआ । तत्पश्चात् प्रजापति दक्ष ने यज्ञ का आरम्भ किया । इसमें सभी ऋषि-मुनियों एवं देवों को आमन्त्रित किया, परन्तु दक्ष एवं शिवजी में मतभेद होने के कारण, शिवजी को अपमानित करने के लिए शिवजी एवं अपनी पुत्री सती को कोई सूचना नहीं भेजी । जब सती को पता चला कि मेरे पिता यज्ञ कर रहे हैं तो वे

---

१. (क) उत्तिष्ठतो महेशस्य त्रासलज्जायुतस्य च ।
भूमौ पपात तद्वीर्यं ततः स्कन्दो बभूव ह ।। ब्रह्मवैवर्तपुराण, भा० ३, अ० १।४२

(ख) ब्रह्माण्डपुराण, भा० ३, अध्या० १८।२२-२९

(ग) वराहपुराण, अध्या० २५।३२-३४

(घ) वायुपुराण, अध्या० ७२।२०-२६

(ङ) नीलमतपुराण, अध्या० १२८।७-८,४४

(च) मत्स्यपुराण, अध्याय १५९

(छ) स्कन्दपुराण (१) २०-१३

२. जयत्युदधिनिःसरद्गरनिगारलब्धाभय-
प्रमोदभरनिर्भरत्रिदशदैत्यवृन्दस्तुतः ।। स्तु० ६।५

३. त्रैलोक्यं मोहितं यस्य गन्धमाघ्राय तद् विषम् ।
प्राग्रसल्लोकरक्षार्थं ब्रह्मणो वचनाच्छिवः ।।
दधार भगवान् कण्ठे मन्त्रमूर्तिर्महेश्वरः ।
तदा प्रभृति देवस्तु नीलकण्ठ इति श्रुतिः ।। म० भा० आदि पर्व १८।४२-४३

४. भागवत ७।७

५. मत्स्यपुराण, अध्याय २५०

पितृस्नेह के कारण शिवजी के निषेध करने पर भी कुछ शिवगणों के साथ अकेली ही दक्ष के यज्ञ में चली गई। वहां पहुंचने पर सती का विशेष आदर नहीं हुआ। सती ने यज्ञ स्थल पर पहुंच कर परितः दृष्टिपात किया तो कहीं भी भगवान् शिव का आसन दिखाई नहीं दिया। इस बात से सती का कोप और भी बढ़ गया तथा उसने अपने पिता सहित वहां उपस्थित सभी को भला-बुरा कहा। अन्त में अपना तथा शिवजी का अपमान समझकर, योगाग्नि से शरीर त्याग दिया। तत्पश्चात् साथ गए हुए शिवगणों ने यज्ञ-विध्वंस किया। उधर शिव को जब यह समाचार मिला तो उन्होंने भी यज्ञविध्वंस करने के लिए वीभद्र नामक गण को पैदा किया। उसके साथ अनेक शिवगण थे। इन्होंने यज्ञ को और भी विकृत कर दिया। इस घटना से सभी देवता खिन्न होकर भगवान् शिव के पास पहुंचे एवं उनसे प्रार्थना की, जिससे प्रसन्न होकर शिव यज्ञस्थल पर पधारे तथा वहां पर मृत दक्ष आदि को पुनः जीवन प्रदान कर यज्ञ को सफल बनाया।

इस प्रसिद्ध शिवचरित्र का स्तुतिकुसुमांजलिकार जगद्धर भट्ट ने भी उल्लेख किया है। जगद्धर भट्ट कहता है कि नीति को जानने वाले और परम चतुर दक्ष प्रजापति ने भी प्रभु को अपने यज्ञ में पहले नहीं बरा। किन्तु पीछे अपने अपराध को जानकर नम्रता प्रकट की। उस अपराधी पर भी दयासागर ने अखण्ड प्रसादानुग्रह किया, वह अतिशय उदार ईश्वर आपकी अभिलाषा पूर्ण करे।[1]

दूसरे स्तोत्र में स्तुति इस प्रकार है कि हे अति निर्मल विशाल अभयदान देने वाले, हे उद्धत दक्ष प्रजापति के मद को चूर करने वाले[2] शिव, आपको प्रणाम है।

दक्ष-यज्ञ-ध्वंस की यह कथा अन्य पुराणों में उपलब्ध है।[3]

---

१. यज्ञे नयज्ञेन वृतो न पूर्वं दक्षेण.........शुभे विधौ यः।
तस्यानतस्यानघमुज्झितावसादं प्रसादं प्रददौ दयाब्धिः॥ स्तु० २६।६

२. विशदशोभयशोभय शोभय त्रिजगदक्षम-दक्ष-मद-क्षम। स्तु० ३०।३०

३. (क) म० भा० सौप्तिक पर्व, १८।१-२३, शान्ति० १८६।६,१६१

(ख) प्रजापतेस्तु दक्षस्य यजतो वितते क्रतौ।
विव्याध कुपितो यज्ञं निर्भयस्तु भवस्तदा॥ म० भा०, अनु० १५०।१४

(ग) ब्रह्मपुराण, अध्याय ३४।१-६, १६, १६, ३४-३५, अ० ३०, ३६-४०

(घ) मत्स्यपुराण, अध्याय १३।१२, १८-१६, ७२।११-१३

(ङ) लिंगपुराण, भाग १, अध्याय ६६।६-१७, १००।३-५०

(च) वराहपुराण, अध्याय २१।४-६, ३८-६६,

(छ) वायुपुराण, अध्याय २५।६३, ३०।४०-२८१

(ज) सौरपुराण, अध्याय ७।१०-३४

(झ) श्रीमद्भागवतपुराण ४।७

ठीक इसी पद्धति का अनुसरण करते हुए कवि ने स्तुतिकुसुमांजलि में प्रसंगवश अनेक उपाख्यानों का समुल्लेख किया है। यहां विस्तार के भय से उन समस्त उपाख्यानों की तालिका मात्र प्रस्तुत है।

स्तितुकुसुमांजलि के उपाख्यान सन्दर्भ

उपाख्यान	संकेत स्थल	अन्य सन्दर्भ
१. शिवसम्बन्धी उपाख्यान—		
(क) स्कन्दस्वामी कार्तिकेय	स्तु० ८।४	मत्स्यपुराण, अ० १५९-१६०।
(ख) हालाहलपान	स्तु० ६।५	म० भा०, वन० १८८।८-५० वही शल्यपर्व-४४।६-३७ ब्रह्माण्डपुराण, भाग-३, अ० १८।२२-२९ वायुपुराण, अ० १२।२०२६
(ग) दक्षयज्ञध्वंस	स्तु० २६।६, ३०।३०	भागवत पुराण, ४।७ मत्स्य पुराण, अ० १३।१२, १८-१९ सौर पुराण, अ० ७।१०-३४
(घ) दक्षयज्ञमृगशिरश्छेदन	स्तु० ३०।१२	शिवपुराण, ४२।७ भागवतपुराण, ४।७
(ङ) गणेश	स्तु० ३।१४, २०।११	मत्स्य पुराण, अ० १५४।५०१-५०५
(च) भृंगरिटि	स्तु० २१।१७	स्तु० २१।१७ की संस्कृत टीका
(छ) शिवलिंगपात	स्तु० २।१५, २०।९	म० भा०, सौप्तिकपर्व १७।२१
२. अन्य अवतारों से शिव का सम्बन्ध		
(क) राम	स्तु० २७।८-९, १४।२८ २०।८, २७।६ २८।१८	ब्रह्मवैवर्तपुराण, १२३।१९५, २०० १५७।२१, २४-२५
(ख) श्रीकृष्ण	स्तु० ३।५२, ११।८४, १५।१८, २९।११	भागवतपुराण, १०।१०,२६-२७ आदि। महा० भा०, अनु० १४।४२९ लिंगपुराण, पूर्वार्ध १०८।४,५,८

उपाख्यान	संकेत स्थल	अन्य सन्दर्भ
(ग) परशुराम	स्तु० ८।५	महा० भा०, कर्णपर्व ३४।१५४
३. देवताओं से सम्बद्ध शिवोपाख्यान		
(क) इन्द्र	स्तु० ८।१४, १५।३१	
(ख) कामदेव	स्तु० ३।३६, ६।६, ८।१९	शिवपुराण, पार्वती खण्ड १९।१७ लिंगपुराण, ६८।४०-४१, १०१।१६-३९ नीलमतपुराण, ७१।३९-४२
४. असुरों से सम्बद्ध शिवोपाख्यान		
(क) शुक्राचार्य	स्तु० ३।५७	महा०भा०, शान्ति० २८९।३२ मत्स्यपुराण ४७।१२८-१६६
(ख) अन्धकासुर	स्तु० ८।७ ११।८६, १३।१८ १५।२, २०।६	शिवपुराण, युद्धखण्ड ४६।३८ लिंगपुराण, भाग १, ६४।१२, ९३।३-२४
(ग) त्रिपुरासुर	स्तु० ६।७, ७।३, ८।१८	शिवपु०, युद्ध खण्ड १०।२८ लिंगपुराण-१०५।६० महा०भा०, अनु० १६०।३१ मत्स्यपुराण १३१।१३-१४
(घ) तारकासुर	स्तु० २।२७	शिवपुराण, कुमार खण्ड, अ० २, १०
५. ऋषि-मुनियों से सम्बन्धित शिवोपाख्यान		
(क) विश्वामित्र	स्तु० १५।३१	महाभारत, आदि पर्व ७१।२७ २९
(ख) उपमन्यु	स्तु० ८।५, ९।१२, २०।३ २४।३,	लिंगपु०, ११।१०७।२४-४३ महाभारत, अनु० पर्व १४।३५८ तथा २२।९६, १५४-१९३ सौरपुराण ३६।२३

६. कुछ ऐतिहासिक पुरुषों से सम्बद्ध शिवोपाख्यान

(क) उषा-अनिरुद्ध	स्तु० १५।४०, ४०।४४	भागवत १०।६२।१६-१७ नीलमतपु० २०६।१३-२४ मत्स्यपुराण अध्याय-१८ महाभारत, सभाप०, अ० ३८
(ख) रावण	स्तु० ६।६, ८।४, १४।२८, २०।७, २८।१७	भागवत पुराण-६।२१।३४
(ग) अर्जुन	स्तु० २।३०, ८।७, २०	महाभारत, वन पर्व, अ० ४०, ४१।३६-३७
(घ) राजा श्वेत	स्तु० ३।१६, ८।६, १६, ६।१२, ५५, ११।८४, १४।५, १६।२१, २०।५, २०।२४	महाभारत, आदि पर्व, अ० २।२३३, अ० २२२
(ङ) भगीरथ	स्तु० २०।४	महाभारत, वन पर्व २०८।२
(च) राजा मरुत्त	स्तु० ८।५, ७ ५०, २०।३०,	महाभारत आदि पर्व १।२२१ द्रोणपर्व ५५।३७-४६

निष्कर्ष

उपर्युक्त आख्यानों का उल्लेख कवि ने बड़ी प्रतिभा से किया है। इनमें स्कन्द कार्तिकेय, शिवहालाहलपान, दक्षयज्ञविध्वंस, दक्षयज्ञमृगशिरच्छेदन, भृंगरिटि, शिवलिंगपात, राम, कृष्ण, परशुराम, इन्द्र, काम, शुक्राचार्य, अन्धकासुर, त्रिपुरासुर, तारकासुर, विश्वामित्र, मार्कण्डेय, उपमन्यु, उषा-अनिरुद्ध, भगीरथ, रावण, अर्जुन, राजा श्वेत तथा मरुत्त, ये प्रसिद्ध उपाख्यान हैं। इन उपाख्यानों में अवतारों, देवताओं असुरों, ऋषियों तथा ऐतिहासिक पुरुषों का शिव के साथ सम्बन्ध वर्णित है।

स्तुतिकुसुमांजलि में[1] वर्णित उपाख्यानों का विस्तृत इतिहास भारतीय वाङ्मय के विविध ग्रन्थरत्नों में अंकित है। प्रकृत संदर्भ में केवल इतना ही कहना है कि जगद्धर ने इन उपाख्यानों का अपनी स्तोत्रमाला में जिस भावमयी शैली में चयन किया है, वह कवि के बहुज्ञ एवं बहुश्रुत होने का प्रबल प्रमाण है।

—०—

१. स्तु० ८।६, ४१, ५०, ११।८६, १५।३१, २४।१३-१४

अष्टम अध्याय

स्तुतिकुसुमांजलि की भाषा-समीक्षा

स्तुतिकुसुमांजलि की भाषा

प्रत्येक मनुष्य अपने भावों को इस प्रकार से व्यक्त करने का प्रयास करता है कि वे पाठक एवं श्रोता को अधिक से अधिक प्रभावित कर सकें। ये भाव भाषा के परिधान में ही पुरस्कृत होते हैं। सशक्त एवं परिष्कृत भाषा की योजना एक बहुत बड़ी कला है। इस भाषा-वैशिष्ट्य के लिए औचित्यपूर्ण शब्दचयन अनिवार्य होता है, क्योंकि पाठक अथवा श्रोता पहले शब्द-परिधान से ही आकृष्ट होता है, तदनन्तर अर्थ से। स्तुतिकुसुमांजलिकार ने भक्ति-पूरित हृदय में स्थित भावों को अभिव्यक्त करने के लिए जिस भाषा-शैली को अपनाया है, वह कवित्व-निकष के सभी परीक्षणों में पूर्ण उतरती है। प्रसंगाभिमत शब्दार्थ-योजना कवित्व शक्ति का सबसे बड़ा मापदण्ड है। प्रकृत ग्रन्थ में शब्दार्थ-योजना के सफल प्रयोग से चमत्कृति आ गयी है। यद्यपि कहीं-कहीं शब्द-काठिन्य के कारण भावग्रहण में तनिक विलम्ब प्रतीत होता है, तथापि प्रसंगानुरूप वह काठिन्य औचित्य-विहीन नहीं है। इस प्रकार का प्रयोग विशेषतः यमक एवं अनुप्रास की छटा के लिए हुआ है जिसे चौदहवीं शती (जगद्धर का काल) के कवियों की परम्परा का प्रभाव कहा जा सकता है। उस समय के संस्कृत-विद्वान यमक एवं श्लेषमयी भाषा लिखने में ही अपने पाण्डित्य का गौरव समझते थे। अतः जगद्धर भी इस सामयिक मान्यता से अपने को मुक्त नहीं कर सके। परिणामस्वरूप स्तुति में कुछ कठिन शब्द-योजना बन गयी है। परन्तु इस प्रसंग में ध्यातव्य है कि वह शब्द-काठिन्य अर्थानुरोधी होने के कारण कवित्व का भूषण ही है, दूषण नहीं।

स्तुतिकुसुमांजलि की प्रसंगानुकूल शब्द-योजना प्रभावशाली है। इससे भावुक भक्त का हृदय शब्द-श्रवणमात्र से ही द्रवित हो जाता है। इस भाषा के स्वरूप एवं सौष्ठव को समझने के लिए हमें कवि के शब्दकोश में वैदिकपद-प्रयोग, व्याकरण-स्वीकृत कोटियों में पदयोजना तथा प्रयोग-कौशल आदि का सम्यक् समीक्षण करना होगा, तभी हम कवि की भाषा के सहज स्वरूप को परख कर उसका अध्ययन कर सकेंगे। कवि ने अपनी कल्पना-शक्ति का प्रयोग जहां सुन्दर भावाभिव्यक्ति करके किया है, वहां तदनुरूप शब्दचयन कर भाषा-सौन्दर्य को अधिक प्रभावशाली बना दिया है। भावानुगामिनी भाषा कवि के प्रौढ़ पाण्डित्य की परिचायिका बन गयी है। इस मान्यता के स्पष्टीकरण हेतु भाषा के विविध पक्षों का विस्तृत विवेचन

किया जा रहा है ।

वैयाकरणों तथा निरुक्तकार ने संस्कृत भाषा के दो रूप माने हैं, वैदिक तथा लौकिक ।

(क) वैदिक पद प्रयोग

देवलोग जिस दिव्य वाणी को प्रकट करते हैं, साधारण जन उसी को बोलते हैं ।[१] इस सिद्धांत के अनुसार अति प्राचीन लौकिक भाषा में वैदिक भाषा के वे समस्त शब्द विद्यमान थे, जो आज केवल वैदिक माने जाते हैं । इस मान्यता के समर्थन में कहा गया है, "जो लौकिक शब्द हैं वे ही वैदिक हैं, और वे ही उनके अर्थ हैं ।"[२] इसका यास्क ने बीजवपन आदि में किया है ।[३]

कालान्तर में शब्द और अर्थ दोनों दृष्टियों से लोकभाषा वैदिक भाषा से शनैः-शनैः अलग होने लगी । निरुक्तकार यास्क ने स्पष्ट लिखा है—"कई लौकिक कृदन्त शब्दों की मूल प्रकृतियों (धातु) का प्रयोग वेद में ही उपलब्ध होता है । इसी प्रकार अनेक वैदिक शब्द विशुद्ध लौकिक धातुओं से निष्पन्न होते हैं ।"[४]

महाभारत आदि प्राचीन वाङ्मय में शतशः ऐसे प्रयोग उपलब्ध होते हैं, जो पाणिनीय-व्याकरणानुसारी नहीं है । कुछ विद्वान् "छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति" कह कर प्रकारान्तर से उन्हें अपशब्द कहने की धृष्टता करते हैं ।[५]

साहित्य (कविता) के क्षेत्र में इसका विशेष प्रभाव पड़ा । भरतमुनि ने स्पष्ट रूप से वैदिक एवं लौकिक भाषा में भेद दिखलाया है ।[६]

स्तुतिकुसुमांजलि में कुछ ऐसे पद प्रयुक्त हैं जो प्रायः वेद में ही उपलब्ध हैं । वैदिक शब्दों का प्रयोग संस्कृत काव्यधारा में कम ही होता है । वैदिकमन्त्र में बहु-प्रचलित शब्दों का यथा-तथा प्रयोग भक्ति-परम्परा में होता रहा है । वेद स्तोत्रमय हैं । स्तुतिग्रन्थों में संस्कारवश वैदिक शब्दों का प्रयोग क्वचित् सम्भव है । जगद्धर ने अपने स्तोत्रों में वैदिक शब्दों का प्रयोग किया है । उदाहरणार्थ कुछ पद नीचे दिये जा रहे हैं ।

---

१. देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति । ऋग्वेद ८।१००।११

२. य एव लौकिकास्त एवं वैदिकास्त एव च तेषामर्थाः । स्कन्दस्वामी, निरुक्त टीका, भाग १, पृ० १८

३. अर्थवन्तः शब्दसामान्यात् । निरुक्त १।१६

४. अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते, दमूनाः, क्षेत्रसाधा इति । अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः उष्णम्, घृतमिति ॥ निरुक्त २।१

५. संस्कृत व्याकरण का इतिहास, पृ० ४२

६. शब्दा ये लोकवेदसंसिद्धाः । नाट्यशास्त्र २४।२६

मयस्कर—"श्रय मयस्करमीश्वरसेवनम्"[1]। अर्थात् यदि तू भवसागर से पार होना चाहता है, तो परमकल्याणप्रद ईश्वराराधन का सहारा ले। इस प्रसंग में "मयस्कर" पद कल्याणकारी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यजुर्वेद में "नमः शंकराय च मयस्कराय च"[2] मन्त्र में यह शब्द शिव की स्तुति के प्रसंग में ही प्रयुक्त है।

कर—"अतनुशं कर वैरसमायतया"[3]। अर्थात् कामक्रोधादि वैरियों को निर्बल बना डाल। प्रस्तुत प्रसंग में "कुरु" के स्थान पर "कर" पद का प्रयोग वैदिक है। इस पद के सम्बन्ध में संस्कृत टीकाकार रत्नकण्ठ का कथन है कि "कर" यह पद भौवादिक "कृ" धातु के मध्यम पुरुष के एक वचन में "हि" प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है, यह वैदिक पद है, जैसे, "तेभ्योऽकरन्नमः"। वैदिक प्रयोग भी संस्कृत भाषा में भक्तिविषय में प्रयुक्त होता है। "वैदिक प्रयोग भी कहीं-कहीं भाषा में प्रयुक्त होते हैं," इस वचन से।[4]

"सहस्रशीर्षा पुरुषः पुनातु वः सहस्रचक्षुर्भगवान् सहस्रपात्।"[5] अर्थात् सहस्र सिरों वाला पुरुष और सहस्र नेत्रों वाला, सहस्र पादों वाला पुरुष आप लोगों को पवित्र करे।

इस स्तुतिपद्य को देखते ही पुरुष-सूक्त के "सहस्रशीर्षा"[6] इत्यादि मन्त्र का स्मरण हो आता है।

धनन्ति—"धनन्ति धन्या विभुम्।"[7] अर्थात् अन्यात्मा लोग परमात्मा से याचना करते हैं। यहां "धन्" धातु वैदिक है।[8]

"दूढ्य", "तितउ", "ईडे" प्रभृति पदों का भी स्तुतिकुमांजलि में प्रयोग हुआ है। इन पदों पर सविस्तार विचार प्रथम अध्याय में किया जा चुका है।

---

१. स्तु० १०।४६

२. यजुर्वेद, माध्यन्दिन संहिता १६।४१

३. स्तु० ३०।७७

४. "कर" इति भौवादिकस्य "कृञो लोटि मध्यमपुरुषैकवचने हि प्रत्यये प्रयोगः छन्दसि। यथा "तेभ्योऽकरन्नमः" इति। छान्दसोऽपि प्रयोगो भाषायामपि भक्ति-विषये प्रयुक्तः। "छान्दसा अपि क्वचिद् भाषायां प्रयुज्यन्ते" इति वचनात्। स्तु० संस्कृत टीका, ३०।७७

५. स्तु० ३८।१

६. ऋग्वेद म० १०, सूक्त, ९०, मन्त्र १

७. स्तु० १४।२३

८. पाणिनीय धातुपाठ, जुहोत्यादि २२

उपर्युक्त उद्धरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जगद्धर ने वैदिक पदों का प्रयोग कर अपने स्तोत्रों को प्रभावी बनाने का प्रयास किया है।

(ख) लौकिक प्रयोग

कवि ने अपने स्तोत्रों को प्रभावी बनाने के लिए तथा कविता में चमत्कृति लाने के लिए उन सभी विधाओं का प्रयोग किया है, जो भाषा को समृद्ध बनाने में हेतु हो सकती हैं। उन सभी विधाओं का विवेचन आगे के पृष्ठों पर प्रस्तुत किया जा रहा है।

संयुक्ताक्षर—

स्तुतिकुसुमांजलिकार ने कवित्व की सौन्दर्य-वृद्धि के लिए प्रसंगवश अनेक संयुक्ताक्षरों का प्रयोग किया है। स्वर एवं व्यंजनों का स्वतंत्र प्रयोग तो अधिक है, परन्तु स्वर और व्यंजनों के संयोग के भी अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। स्वर-व्यंजन-संयोग से न केवल भाषा में ही माधुर्य एवं आकर्षण उत्पन्न हुआ है, अपितु भावाभिव्यक्ति में भी महती सफलता प्राप्त हुई है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित सन्दर्भ प्रस्तुत हैं—

अंगं भुजंगरचितांगदभंगि तुंगं त्वंगत्तरंगगगनांगनसंगिगंगम्।
बिभ्रद् विभूर्विहितरंगदनंगभङ्गमंगीकरोत्वरमभंगुरमिंगितं वः॥ स्तु० ३।८

इस पद्य में स्तुतिमुखेन माधुर्यगुण की जो छटा कवि ने दर्शायी है, इसका मुख्य हेतु संयुक्त अक्षर ही हैं। यहां ङ्+ग्+अ, ङ्+ग्+इ तथा ङ्+ग्+उ का जो संयोग उपलब्ध है, वह कवि के पाण्डित्य का परिचायक है।

इस प्रकार के अन्य उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

१. **समुद्गसमुद्गताश्रुस्रोतःस्नुति···** । स्तु० १।२४
२. **पद्मसद्म-पद्मापति···** । स्तु० ३।६
३. **शृंग-त्वंगन्मृगांक···** । स्तु० ३।७
४. **बन्ध-निबन्धनमृध्नुयुर्मधुपगुंजितमञ्जुगिरो लताः** । स्तु० १०।१७
५. **ध्वान्तं शान्तप्रशम महद्यन्न सद्यः समुद्यन्नुद्योतश्री···** । स्तु० ११।६
६. **कल्पाह्ववल्लि···द्विकल्पाकल्पार्चिता** । स्तु० ३०।५८

एक ही पद्य में "ण्ड" का प्रयोग छह बार किया है। जैसे—

वपुःखण्डे खण्डः प्रतिवसति शैलेन्द्रदुहितुः शिखण्डे खण्डेन्दुः स्वयमपि विभुः खण्डपरशुः।
तथापि प्रत्यग्रं शरणमुपयातं प्रति विभोरखण्डो व्यापारो जगति करुणाया विजयते॥
स्तु० १५।३७

संयुक्ताक्षरों के सर्वाधिक प्रयोग लगातार ३३।२५ से २६ तक उपलब्ध होते हैं।

लिंग—

(क) पुलिंग—प्रकृत ग्रन्थ भगवान् शिव का स्तुति-परक काव्य है। इसमें विशेषतः पुलिंग पदों का ही प्रयोग हुआ है। अतः पुलिंग के उदाहरण तो समग्र ग्रन्थ में कहीं भी देखे जा सकते हैं। यहां तो केवल उन्हीं लिंगपदों पर विचार किया जायेगा, जो शिवस्तोत्र में अपना विशेष स्थान बनाये हुए हैं तथा जो भाषा को चमत्कारपूर्ण बनाने में सहायक हैं। उदाहरणार्थ एक श्लोक में अनेक पुलिंग शब्दों का प्रयोग द्रष्टव्य है—

दानाम्बुनिर्भरकरस्तनयः स यस्य श्रीमान् स यस्य धनदः सविधे विधेयः।
यः संश्रितः शिरसि मुक्तकरेण राज्ञा पुष्णातु वः कनकवर्षघनः स देवः॥

स्तु० १।१४

उपर्युक्त पद्य में १६ रूपों में पुंलिग ही प्रयुक्त हुआ है। यह भाषा को सरल एवं सरस बनाने में सहायक है।

(ख) स्त्रीलिंग—कविकृत प्रसंगानुकूल स्त्रीलिंग का प्रयोग भी कवित्व-शक्ति का परिचायक है। कवि ने अनेक स्त्रीवाचक शब्दों का प्रयोग एक ही पद्य में यत्नपूर्वक किया है। उदाहरणार्थ एक पद्य प्रस्तुत है—

एका त्वमेव भवितासि मम प्रियेति दत्तं वरं स्मरसि चेद् गिरिराजपुत्र्याः।
प्रेम्णा बिभर्षि कथम्बरसिन्धुमिन्दु-लेखां च मूर्ध्नि हृदये दयितां दयां च॥

स्तु० ११।१७

इस पद्य में स्त्रीलिंग के सात रूपों का प्रयोग किया है। इस स्थल पर ऐसा प्रतीत होता है कि चमत्कारार्थ ही स्त्रीलिंग का प्रयोग किया है।

(ग) नपुंसक लिंग—नपुंसकलिंग का प्रयोग अपेक्षाकृत कम हुआ है। अल्प व्यवहार में भी अनेक सुन्दर उदाहरण स्तुति कविता में चमत्कृति उत्पन्न करते हैं। एक ही स्थल में उदाहरणों को बाहुल्येन उपलब्धि चमत्कारजनक है। यथा—

अर्कस्य नोदगयनं शिशिरेऽपि यत्र शीतत्विषो न बहुलेऽपि कलाऽपलापः।
क्षामं च धाम न वहत्यपि वह्निरह्नि तज्जायतां पुररिपोर्नयनत्रयं वः॥

स्तु० ३।३८

इस पद्य में शिव के नेत्रों का वर्णन है। कवि ने एक ही पद्य में चार नपुंसक पदों का प्रयोग किया है। अन्यत्र श्लोक का पूरा पाद ही प्रायः नपुंसक पदों से समन्वित है—जैसे "यद् वल्कलं च वसनं विपिनं च वासः॥

विशेषण—

स्तुतिकुसुमांजलि में कवि ने अनेक हाव-भावों को विशेषणों द्वारा प्रकट किया है। विशेषण-वाचक शब्दों का प्रयोग सुन्दर शैली में है, जिससे विषय-वस्तु के प्रति-

पादन में सरलता आ गयी है । कल्पनाशक्ति के साथ-साथ गम्भीर अध्ययन, ज्ञान, सहृदयता आदि का होना अत्यन्त आवश्यक है । "उमापति" कहना सबको आता है, परन्तु "पार्वतीचाटुकार" कोई सहृदय कवि ही कह सकता है । उपर्युक्त विश्लेषण के आलोक में स्तुतिकुसुमांजलि के कुछ विशेषणों के प्रयोग देखिए । यथा—

गजास्यकरकर्षणैः स च गिरीन्द्रकन्याहरिः । स्तु० ३।४५

इस विशेषण के स्थान पर "गिरीशकन्याहरिः" अथवा "हिमाद्रिकन्याहरिः" आदि भी कहा जा सकता था । परन्तु यहां "इन्द्र" शब्द विशेष भाव (बल) का अभिव्यंजक होने से कवि के वैशिष्ट्य का परिचायक है । इसी प्रकार के सार्थक कतिपय विशिष्ट प्रयोग हैं ।

शंकर की विशेषता के द्योतक स्तुतिकुसुमांजलि के अन्य उदाहरण प्रस्तुत हैं—

१. **तमस्वतीकान्तखण्डमण्डितमौलये** । स्तु० २।४
२. **तमीरमणखण्डचूडामणिम्** । स्तु० ७।४०
३. **शशिकिशोरशिरोमणिम्** । स्तु० १०।३७
४. **औषधीपतिशिखामणिम्** । स्तु० ११।७७
५. **क्षितिधरपतिपुत्रीवल्लभः** । स्तु० १८।६
६. **कात्यायनीकामुकः** । स्तु० ३।५०

कारक प्रयोग—

कवित्व को दृष्टि में रखते हुए जगद्धर ने कारकों का समुचित प्रयोग किया है । सामान्य रूप से सभी कारकों के सुन्दर उदाहरण यहां उपलब्ध हैं । परन्तु प्रथमा एवं तृतीया विभक्ति का अधिक प्रयोग किया गया है । कहीं-कहीं केवलमात्र चमत्कृति हेतु भी कारकों का प्रयोग किया है । कहीं सम्पूर्ण पद्य में एक ही कारक प्रयुक्त है । चमत्कृति एवं सौन्दर्य के लिए सम्बोधन का भी विलक्षण प्रयोग हुआ है । जहां कवि सुन्दर-सुन्दर सम्बोधनों द्वारा सहृदय के हृदय में भक्ति रस का संचार करना चाहता है, वहां इसके द्वारा अलंकार-चमत्कार एवं छन्दोविधान की पूर्ति का भी ध्यान रखते हुए पद प्रयोग करता है । एतदर्थ कारकों के कुछ प्रमुख उदाहरण यहां प्रस्तुत हैं—

चिरं द्वारोपान्ते स्थितमवसरोद्वीक्षणधिया
तिरस्कारः सोढः कुपितमुखरद्वाःस्थविहितः ।
मुखं दीनं कृत्वा विभवलवगर्वान्धितदृशां
कदीशानामग्रे क इव न विसोढः परिभवः ॥ स्तु० १०।६७

उपर्युक्त एक ही पद्य में पांच विभक्तियों (प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, षष्ठी एवं सप्तमी) का प्रयोग हुआ है ।

प्रथमा—

सद्विद्याभ्यसनः सभानिवसनः सौधासनाध्यासनः
शुद्धान्नग्रसनः मुधौतवसनः सत्साध्वसध्वंसनः ।
सह्लादोल्लसनः प्रसन्नहसनः संपन्नसद्वासनः
सत्काव्यव्यसनः सुधार्द्ररसनः शंभोः कृतोपासनः ।। स्तु० ३३।६

यह पद्य प्रथमा विभक्ति के चमत्कारयुक्त प्रयोग का सर्वोत्तम उदाहरण है जिसमें एक षष्ठी-विभक्ति को छोड़ कर किसी भी अन्य विभक्ति का प्रयोग नहीं हुआ है । यहां विसर्गान्त प्रथमा अर्थसारल्य की दृष्टि से प्रभावी है, और अनुप्रास की चमत्कृति को भी द्विगुणित कर रही है ।

अन्य स्तोत्रों में इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं ।[1]

द्वितीया—

त्यक्तसर्वदशमक्षयोदयं, रूपवर्जितमभित्तिसंश्रयम् ।
यं निरञ्जनमवक्षगोचरं, दीपमद्भुतमुशन्ति तं स्तुमः ।। स्तु० १।१२

इस स्तुति पद्य में एक साथ ही द्वितीया विभक्ति का नौ बार प्रयोग किया है । द्वितीया के अन्य स्थल भी द्रष्टव्य हैं ।[2]

तृतीया—

समग्र ग्रंथ में अन्य विभक्तियों की अपेक्षा तृतीया का आधिक्य है । ग्रंथारम्भ के प्रथम पद्य में सात बार तृतीयान्त पद का प्रयोग भी पूर्वोक्त बात का पोषक है । उदाहरणार्थ स्थल देखिए—

ह्लादवरिद्भिरमलैरनर्गलैर्जीवनैरघहरैर्नवैरियम् ।
स्वामिनः क्लमशमक्षमैः क्षणं रोद्धुमर्हति मनः सरस्वती ।। स्तु० १।१

एक अन्य प्रसंग[3] में भी तृतीया सात बार प्रयुक्त है । एक स्थल[4] पर एक पद्य में नौ बार इस विभक्ति का प्रयोग हुआ है ।

अस्थाने गमिता लयं हतधियां वाग्देवता कल्पते
धिक्काराय पराभवाय महते तापाय पापाय वा ।
स्थाने तु व्ययिता सतां प्रभवति प्रख्यातये भूतये
चेतो-निर्वृतये परोपकृतये प्रान्ते शिवावाप्तये ।। स्तु० ५।३५

इस श्लोक में प्रथमा, द्वितीया, चतुर्थी, षष्ठी एवं सप्तमी, इन पांचों का प्रयोग हुआ है परन्तु आधिक्य एवं प्रभाव चतुर्थी का ही है । कहीं-कहीं तो इस प्रकार प्रयोग किया है, जैसे कि कवि स्तुति के माध्यम से व्याकरण में चतुर्थी का उदाहरण

---

१. स्तु० ३।१४, ४६, ६।३१, ३३।१, ११

२. वही १६।५-६, २१।६, ११, १२-१६, २८।१५-१६, ३४।६-१०, १३

ही प्रस्तुत कर रहा है।

एक ही पद्य में "नमः" के योग में यह विभक्ति सात बार प्रयुक्त है—जैसे—

निःसामान्याय मान्याय न्यायमार्गोपदेशिने ।
मूर्धन्याय वदान्याय धन्याय स्वामिने नमः ॥ स्तु० २।१६

पंचमी—

इसके प्रयोग सबसे न्यून हैं। जहां भी प्रयोग हुआ है वहां भाषा एवं भाव में चमत्काराधायक है—जैसे—"क्रमादपि," "विभ्रमादपि" (स्तु० ७।२०) यहां पंचम्यन्त प्रयोग पादान्त होने से चमत्कार-जनक है।

षष्ठी—

इस विभक्ति का प्रयोग अत्यन्त प्रभावोत्पादक रूप में उपलब्ध होता है। अलंकार सौन्दर्यवर्धक भी है। यहां उदाहरणार्थ एक पद्य प्रस्तुत है :

एकस्य यस्य सकलः करणानपेक्षज्ञानक्रियस्य पुरतः स्फुरति प्रपंचः। स्तु० ३।५

सप्तमी—

इस कारक के अनेक सुन्दरतम प्रयोग प्रकृत ग्रंथ में देखे जा सकते हैं। श्लोकार्द्ध में सप्तमी के बहुवचन का चार बार प्रयोग प्रभावोत्पादक है। जैसे—

स्वामी प्रसादमुपकारिषु सेवकेषु योग्येषु साधुषु करोति किमत्र चित्रम् ॥
स्तु० ११।३३

आगे श्लोकार्द्ध में एक वचन का चार बार प्रयोग द्रष्टव्य है—

"विलम्भमम्भसि भजे भगवन्नगाधे बाधे रिपुव्यवसितेऽप्यलसीभवामि ॥
स्तु० ११।७८

सम्बोधन —

कारकप्रकरणान्तर्गत प्रथमा में प्रयुक्त होने से इसकी गणना कारकों के साथ ही होती है। स्तुतिकुसुमांजलिकार ने सम्बोधनों का प्रयोग रुचिकर शैली में किया है। यथा—

अमृतकुम्भकर द्युतरंगिणीधर सुधाकर शेखर शोधय ॥ स्तु० १०।५१

उपर्युक्त श्लोकार्द्ध को केवलमात्र एक क्रिया के साथ सम्बोधनों से ही पूर्ण कर दिया है।

अन्य उदाहरण इस प्रकार हैं—

१. **क्षितिधरपतिपुत्रीवल्लभ।**[1] २. **विश्वसाक्षिन्।**[2]

---

१. स्तु० १८।६ २. वही ११।१०६

३. **चन्द्रकिरीट ।**[1] ४. **शितकरखण्डशेखर ।**[2]

समास—

भाषा को प्रभावोत्पादक एवं आकर्षक बनाने में समास का महत्वपूर्ण स्थान है। यहां कवि ने त्रिविध (लघु-समास, दीर्घ-समास तथा अतिदीर्घ-समास) शैली का आश्रय लिया है। यद्यपि समग्र ग्रंथ में अधिकतर असमस्त पद ही उपलब्ध होते हैं। तथापि दीर्घ-समास एवं लघु-समासों का भी यथा-स्थान पर्याप्त प्रयोग हुआ है।

प्रकृत संदर्भ में लघु-समास, दीर्घ-समास एवं अतिदीर्घ-समास, इस त्रिविध शैली का विवेचन किया है। तीनों प्रकार के उदाहरण आगे क्रमशः प्रस्तुत हैं।

(क) **लघु-समास**

आपन्नतापहरणप्रवणा घृणेव, स्वंगत्तरङ्गसुभगा गगनापगेव।
पीयूषसारशिशिरा शशभृत्कलेव, वाणी शिवैकशरणा जयतीश्वरीव ॥
स्तु० ५।१

इस पद में दो पदों, तीन पदों एवं चार पदों वाले समस्त पदों का प्रयोग करके कवि ने लघु-समास का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है।

दो पदों का समास—"शशभृतः कला, शशभृत्कला ।"

तीन पदों का समास—"शिव एव एकं शरणं यस्याः, सा शिवैकशरणा ।"

चार पदों का समास—"आपन्नानां यस्तापस्तस्य हरणं तत्र प्रवणा, आपन्नतापहरणप्रवणा ।"

यहां उपमा के परिवेश में लघु-समासों का प्रयोग भाषा को सरस बनाने में सहायक हुआ है।

एक अन्य उदाहरण—

जयति भक्तिलतानवमाधवः सुकृतपादपपक्वफलोद्भवः ।
विपदुपद्रवविक्लवबान्धवः सुकविसूक्तिवधूवदनासवः ॥ स्तु० १०।२

इस पद्य में "जयति" क्रिया के साथ चार समस्त पदों का प्रयोग ऐसा प्रतीत होता है, मानो कवि ने ये चार समास के उदाहरण हो प्रस्तुत कर दिये हैं। समास होने पर भी भावगाम्भीर्य एवं अर्थ की सरलता वस्तुतः सुकविवधूवदनासव के समान ही आनन्ददायक प्रतीत होता है। चार समासों का विवरण इस प्रकार है—

१. **भक्तिः एव लता, तस्या नवः माधवः भक्तिलतानवमाधवः ।**
२. **सुकृतमेव पादपस्तस्य यत् पक्वं फलं तस्य उदयः, सुकृतपादपपक्वफलोदयः ।**
३. **विपद एव उपद्रवस्तेन ये विक्लवास्तेषां बान्धवः, विपदुपद्रवविक्लवबान्धवः ।**

---

१. वही १५।२४ २. वही ३०।८

४. सुकवीनाम् उक्तिः, सैव वधूस्तस्याः वदनासवः, सुकविसूक्तिवधूवदनासवः।

एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है—

> पद्मसद्मकरमर्दलालितं पद्मनाभनयनाब्जपूजितम्।
> पद्मबन्धमुकुटांशुरंजितं पादपद्मयुगमैश्वरं स्तुमः॥ स्तु० १।१६

इस स्लोक में भी चार समासों का यह प्रयोग अनुप्रास की छटा को द्विगुणित कर भाषा-चमत्कार का जनक है। इसी प्रकार के अन्य स्थल भी उपलब्ध हैं।[१]

(ख) दीर्घ-समास

जगद्धर का समय पाण्डित्य-प्रदर्शन का काल था। इसलिए कवि इस वातावरण से प्रभावित हुए विना न रह सका। अतः कुछ स्थानों पर दण्डकवाक्य की तरह के प्रदर्शन से दीर्घ-समास की वहुलता पायी जाती है। जिसमें द्विविध दीर्घ-समास है। एक दीर्घ तथा दूसरा अतिदीर्घ। उदाहरणार्थ उभयपक्ष प्रस्तुत है।

> भिन्द्धि क्ष्माधरसंधिवन्धमुदधेरम्भोभरं जृम्भय
> क्षुन्द्धि क्ष्मापटलं दलत्फणिफणापीठी-लुठत्सौष्ठवम्।
> पिण्ड्ढि प्रौढचपेटपाटितरटत्ताराकुटुम्बं नमः
> प्रारब्धोद्धतसान्ध्यताण्डव इति श्री भैरवः पातु वः॥ स्तु० ३।५४

इस पद्य में शिव के ताण्डव नृत्य का वर्णन है। कवि ने यहां कठोर वर्णों का प्रयोग (ठ का तीन वार, ट का चार वार, और ढ का दो बार) करके दीर्घ-समास की योजना वनायी है। अतः समास के वल से इस पक्ष में ताण्डव नृत्य की तरह शब्दों का नृत्य प्रतीत हो रहा है। भावाभिव्यक्ति में कुछ क्लिष्टता आने पर भी शाब्दिक चमत्कार ने उसे मन्द कर दिया है। एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है—

> घनानन्दस्यन्दोद्गतविपुलबाष्पार्द्रनयनं
> सलीलभ्रूवल्लीवलनविवलद्भालपुलिनम्॥ स्तु० ५।२१

इस पद्य में समास दीर्घ होने पर भी यह पद्य के एक चरण तक ही सीमित रहा है। यह अन्य चरण तक नहीं पहुंच सका है।

(ग) अतिदीर्घ-समास

अतिदीर्घ-समास में एक ही समस्त पद पद्य के दो चरणों तक पहुंच जाता है। अत एव यह विभाग कर दिया गया है। अतिदीर्घ-समास के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

> यत्सौन्दर्यसमुद्रसान्द्रलहरीहेलाचलच्चामर-
> व्यग्रांगांगुलिबालमालववधूदृक्पातपात्रं वपुः।

---

१. वही २।२१, ५।३, ६।२५, ११।१८, २२।६, २४।१-५, ३३।१०

सेवासन्निधिशंसिसंभ्रमनमत्सामन्तमौलिस्थली-
लीढांघ्रिद्वयमुद्वहन्ति कृतिनः सौभाग्यभाग्यास्पदम् ।। स्तु० ३३।३५

इस पद्य में समास इतना दीर्घ हो गया है, कि वह इतने लम्बे शार्दूलविक्रीडित छन्द के प्रायः दो चरणों को पूर्ण करने में समर्थ है।

एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत है—

यस्य प्रह्वसुरासुरेश्वरशिरोमन्दारमालागलत्-
किंजल्कोत्करपिंजरोन्मुखनखश्रेणीनिभेनाश्रिता ।। स्तु० ३।४८

यह श्लोकार्द्ध एक ही समास में आबद्ध है। केवल "आश्रिता", "यस्य" पद समास रहित हैं। समास की स्थिति इस प्रकार है—

प्रह्वा ये सुरासुरेश्वरास्तेषां शिरांसि, तेषु या मन्दारमालाः, ताभ्यो गलन् यः किंजल्लोत्करस्तेन पिंजरा या उन्मुखा नखानां श्रेणी, तन्निभेन यस्य (चरणौ) आश्रिता।

एक अन्य उदाहरण है--

भस्मोद्धूलितमूर्तिरिन्दुधवलज्योतीरसोर्वीधर-
स्कन्धासक्ततुषारगौरवृषारूढोऽस्तु भद्राय वः ।
देवो दुग्धमहाब्धिमध्यविवसत्सत्पुण्डरीकोपरि-
क्रीडद्बालमरालनिर्मलरुचिः कात्यायनीकामुकः ।। स्तु० ३।५०

शार्दूलविक्रीडित छन्द में आबद्ध इस पद्य की रचना करते समय कवि शायद भूल गया कि मैं पद्य लिख रहा हूं। इस प्रकार के समस्त प्रयोग गद्य में तो चलते रहे हैं, जो बाण आदि कवियों के ग्रन्थों में समुपलब्ध हैं। कविता में दीर्घ-समास का प्रचलन केवलमात्र एक युगीय प्रवृत्ति है, जिसने जगद्धर को भी प्रभावित किया। यह प्रवृत्ति जगद्धर से कुछ काल पूर्व ही प्रचलित हो चुकी थी। जैसे कि श्रीहर्ष ने भी इसे अपनाया था। यथा—

"ईशाणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये लोकेशलोकेशयलोकमध्ये ।"[1]

प्रस्तुत ग्रंथ में इस प्रकार के समास अन्यत्र भी पर्याप्त मात्रा में देखे जा सकते हैं, जिनका भाषा की दृष्टि से बड़ा महत्त्व है। ये समास कवि के भाषापाण्डित्य के निदर्शन हैं।[2]

धातु—

भाषा को सशक्त एवं औचित्यपूर्ण बनाने में क्रिया का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

---

१. नैषध० ३।६४

२. स्तु० ३।७, २४।३२, ५०।५-८, १३, २०।६-७, ७।४२, ११।७, १३, ११८, १६।६, १७।४, १९।६, २२।१२, २९।२५, ३४।१-२

नाम और क्रिया दोनों में क्रिया की प्रधानता मानी गई है।[1]

जगद्धर वैयाकरण था। उसने अपने स्तोत्रों को सुन्दरतम बनाने के लिए अपने भाषावैदुष्य का पदे-पदे प्रयोग किया है। कहीं अप्रसिद्ध क्रिया के रूप में, कहीं केवल गणों के प्रयोग में, अन्यत्र केवल प्रक्रियाओं के प्रयोगों से भाषा-सौन्दर्य की अभिवृद्धि की है। संस्कृत भाषा में क्रिया का प्रयोग नानाविध है, जैसे—१. परस्मैपदी २. आत्मनेपदी, ३. सोपसर्ग, ४. अनुपसर्ग। स्तुतिकुसुमांजलि में १२२७ तिङन्त क्रियाओं का प्रयोग हुआ है। जिनमें से १०७६ परस्मैपदी तथा १५१ आत्मनेपदी हैं। इन क्रियाओं के लकारों में से लट् अधिक प्रयुक्त हुआ है, वह भी प्रथम-पुरुष के एक वचन तथा बहुवचन में ही अधिक है। दूसरा स्थान लोट् तथा तृतीय स्थान लिङ् के प्रयोगों का है। सामान्यरूपेण सभी लकार उपलब्ध हैं। इनमें सबसे कम लुट् और लिट् हैं। भक्त कवि के पास क्रियानिधि इतनी विपुल एवं सशक्त है कि जहां जैसे चाहता है, वर्तता है। कई स्थलों पर तो क्रियापाण्डित्य के प्रदर्शन में वह अपने उद्देश्य को भी भूल जाता है।

(क) परस्मैपद—

कवि ने इन परस्मैपदी क्रियाओं का प्रयोग केवल औचित्यपूर्ण भावाभिव्यक्ति के लिए ही नहीं किया, बल्कि भाषा-चमत्कृति-मात्र के लिए भी किया है। उदाहरणार्थ छत्तीसवां स्तोत्र है। इसमें केवल इकतालीस पद्यों में एक सौ चौंसठ, परस्मैपदी, लट् के प्रथम पुरुष को दिया है। सभी क्रियाएं पादान्त में हैं। उदाहरण के लिए एक पद्य प्रस्तुत है—

ते पापपाशमधिकं हृदि कर्तयन्ति, भोगस्पृहां च विषयेषु निवर्तयन्ति।
सूक्तैः सचेतनमनांस्यपि नर्तयन्ति ये चन्द्रचूड, चरितं तव कीर्तयन्ति ॥ स्तु० ३६।६

इसी प्रकार बत्तीसवें स्तोत्र के समस्त पद्यों में एकमात्र "उद्धर" मध्यम पुरुष एकवचन का प्रयोग श्लोकों के अन्त में किया है। कहीं-कहीं एक ही पद्य में छह-छह, सात-सात क्रियाएं भी हैं। यथा—

धृतिश्चलति, मे गतिः स्खलति, मूर्तिरुद्वेल्लति।
स्थितिज्वलति, निर्वृतिर्विगलति, स्मृतिर्मीलति ॥ स्तु० ११।१३०

(ख) आत्मनेपद—

आत्मनेपद प्रयोग में भी कवि ने चमत्कार दिखलाया है। एक ही पद्य में आठ आत्मनेपद उपलब्ध होते हैं। यथा—

वन्दामहे च विविधं विवदामहे च, लज्जामहे च कलुषाणि भजामहे च।
ईहामहे च कुवचांसि सहामहे च दह्यामहे च दुरितैर्जठरस्य हेतोः ॥

स्तु० १।५१

---

१. तद् यत्रोभे भावप्रधाने भवतः। निरुक्त १।१ तथा इस पर दुर्ग-टीका

(ग) सोपसर्ग क्रियाएं—

"उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते ।"[1] न्याय के अनुसार धातु के साथ उपसर्ग का भाषा एवं अर्थ की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है । प्रस्तुत ग्रंथ में विविध सोपसर्ग धातुएं उपलब्ध हैं जो केवल एक उपसर्ग वाली हैं तथा जो अनेक उपसर्गों से समन्वित हैं ।

एक उपसर्गवाली क्रियाओं के प्रयोग जैसे—

अधि —

सन्तः सदः सुवदनान्यधिवासयन्ति । स्तु० ५।६

उपर्युक्त संदर्भ में जहां "अधि" उपसर्ग अर्थ-वैशिष्ट्य का ज्ञापक है, वहां पूर्व-पद के साथ सन्धिजनित चमत्कार का भी हेतु है । यहां "सु" उपसर्ग भी शोभा-दायक है ।

नि—

तत्कारुण्यनिधे निधेहि हृदये त्वं ह्यन्तरात्माऽखिलम् । स्तु० ११।१४३

यहां "नि" उपसर्ग निश्चय पर बल देने के लिए प्रयुक्त हुआ है । इसके स्थान पर यदि किसी अन्य उपसर्ग का प्रयोग किया जाये, अथवा "नि" का प्रयोग ही न किया जाय, तो भाषागत अनुप्रास की चमत्कृति लुप्त हो जायेगी, जोकि पूर्व-पद के साथ है । इसी प्रकार स्तुतिकुसुमजांलि में अन्य सोपसर्ग क्रियाओं के उदाहरण द्रष्टव्य हैं ।[2]

दो उपसर्ग वाली क्रियाएँ—

कवि ने एक से अधिक उपसर्ग वाली क्रियाओं का प्रयोग करके स्तोत्रकाव्य की भाषा को प्रभावशाली बनाने का सफल प्रयास किया है । उदाहरणार्थ सोपसर्ग धातुरूप प्रस्तुत हैं—

प्र-वि—

तान्सस्पृहं मृगदृशः प्रविलोकयन्ति । स्तु० ३६।१

श्लोक के इस पाद में "प्र" तथा "वि" उपसर्गों से युक्त "लोकृ दर्शने" क्रिया का प्रयोग है । यह प्रयोग भावाभिव्यक्ति एवं सरलता की दृष्टि से प्रभावोत्पादक है ।

---

१. वैयाकरणसिद्धान्त-कौमुदी, भ्वादि, पृष्ठ ४०७, श्री वेंकटेश्वर प्रैस, बम्बई, १९६६,

२. निवेदयति १०।२६, न्ययुंक्त ११।१-५, अनुगृहाण, अभ्युदेति ११।८, उपास्महे ११।१०६, उदंचति १०।२६, प्रददौ २९।६, प्रवेक्ष्यति ११।५, प्रलपामि १।१०५

इसी प्रकार "प्रविमूलयन्ति"[1], समुद्बभूव[2], समाप्नुयुः[3], समधिगम्य,[4] अभ्युदेति[5], आदि सोपसर्ग क्रियाएं भाषा को प्रभावोत्पादक बनाने में सहायक हैं।

अप्रसिद्ध क्रिया-प्रयोग—

कुछ क्रियाएं धातुपाठ में पठित होने पर भी व्यवहार में अप्रयुक्त अथवा अल्पप्रयुक्त होने से अप्रसिद्ध होती हैं। जगद्धर ने ऐसी क्रियाओं का प्रयोग भी किया है। यहां कुछ अप्रसिद्ध कियाओं के उदाहरण द्रष्टव्यं हैं—

१. **धन्—**

धनन्ति धन्या विभुमृद्धिवर्धनम्। स्तु० २३।११

यहां याचना अर्थ में धन् धातु का प्रयोग हुआ है।

पाणिनीय धातुपाठ (जुहोत्यादि २२) में "धन धान्ये" धातु को छान्दस धातुओं में गिनाया है। कवि यहां छान्दस धातु का प्रयोग कर रहा है। वेद में जिस धान्य अर्थ में इसका प्रयोग मिलता है यहां उससे भिन्न अर्थ में (याचन्ते) प्रयोग किया है।

२. **वज्—**

वज नः करुणापरताम्[6]। यहां गमन अर्थ में "वज" का प्रयोग हुआ है, जो प्रायः अप्रयुक्त है।

३. **मह्—**

कृपाऽमृतार्द्रा महिता हिता हिता।[7] इस पद्यांश में पूजा अर्थ में "मह्" धातु का प्रयोग हुआ है।

४. **उष्—**

तव पुरो वपुरोषति मे मदः।[8] यहां "उष" का प्रयोग जलाने के अर्थ में किया गया है, जो धातुपाठ में तो है : उष दाहे, पर प्रयोग में अप्रसिद्ध है।

(घ) शाब्दिक चमत्कार-जनक क्रियाएं—

१. **अराणि, अकारि, अभावि, अलोठि**।[9]
२. **अल्पयन्ति, तल्पन्ति, कल्पन्ति, जल्पन्ति**।[10]
३. **अर्पयन्ति समर्पयन्ति**।[11]

---

१. स्तु० ३६।२३
२. वही १०।२१
३. वही २०।३८
४. वही १०।२३
५. वही ११।८
६. वही १४।२३
७. वही ७।७
८. वही २७।२९
९. वही १८।२५
१०. वही ३६।१९
११. ३६।१८

कवित्व को चमत्कृत करने के लिए समान वर्ण वाले नाम के साथ क्रियाओं के सुन्दर प्रयोग जैसे—

१. घनन्ति धन्याः[1] २. कारुण्यनिधे निधेहि ।[2]
३. हर हर भव भव ।[3] ४. उपरमत्तापप्रथे पप्रथे ।[4]
५. विपत्किकरी किंकरोतु ।[5] ६. सविधे विधेहि ।[6]

औचित्यपूर्ण पदचयन—

भावाभिव्यक्ति के लिए तदनुकूल पदों का होना अपरिहार्य है। जिसके बिना सुन्दरतम भाव भी भावुक के हृदय को भावित करने में समर्थ नहीं हो पाते। इस बात को ध्यान में रखकर भाषा को सर्वांगीण बनाने के लिए कवि ने निपात, अव्यय तथा अनुकरणात्मक पदों का भी प्रयोग किया है।

(क) निपात—

कवि ने स्तोत्ररचना में निपात के प्रयोग द्वारा अर्थ में चमत्कार तथा भाव-ग्रहण कराने में सरलता का यत्न किया है—

कात्यायनी च करुणा च कला च चान्द्री
स्निग्धा च दृक् सुरसरिच्च सरस्वती च ।। स्तु० ८।२८

इस पद्य में "च" निपात न केवल अर्थ-सारल्य की दृष्टि से अपितु भाषा-लालित्य की दृष्टि से भी प्रभावी है। इसी प्रकार "निर्" निपात का एक उदाहरण देखिए—

कीनाश बालिश निरकुंश निर्विमर्श, निस्त्रिंश निष्करुण निःशरणेषु चेत् त्वम् ।
निष्कारणं निरनुरोध करोषि रोषन् ।। स्तु० ९।६८

(ख) अव्यय—

बिना—

यथा विना द्यौररविन्दबन्धुना, विना शशांकेन यथा निशीथिनी ।
विदग्धवर्गेण विना यथा सभा, बिना विभूतिर्विनयेन वा यथा ।। स्तु० १।१२

यहाँ 'विना' अव्यय के कारण चमत्कार आया है, भाषा प्रवाह एवं अर्थ-सारल्य को बल मिला है।

(ग) अनुकरणात्मक—

कवि ने अनुकरणात्मक पदों का प्रयोग एकमात्र भाषा में सौन्दर्य की अभि-

---

१. स्तु० कु० १८।२३ २. वही ११।१४८
३. वही १३।२८ ४. वही २८।१०
५. वही ११।३० ६. वही ९।६

वृद्धि के हेतु ही किया है, जो पूर्ण औचित्य से सम्पन्न है स्तुतिकुसुमांजलि के अष्टादश स्तोत्र में ऐसे अनेक पदों का प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ कुछ पद प्रस्तुत हैं—

१. गुम गुम—

फुल्लारविन्दमकरन्दघृतप्रसंग-भृंगांगनागुमगुमारवगीतिगर्भम् । स्तु० ८।३१

२. गलगल—

गलगलदवकाशे । स्तु० १८।१२

३. गद्गद—

गद्गदोद्गतगिरश्चिरस्थिरप्रेमहेमनिकषोपलोपमम् । स्तु० १४।१४

४. मुहुर्मुहुर्—

आर्त्या मुहुर्मुहुरयुक्तमपि ब्रवीमि । स्तु० ११।१०५

भावाभिव्यंजक पद, जैसे—

१. अहहा—

भूयो भवति चेदहहास्मि धन्यः । स्तु० ९।२६

इस संदर्भ में "अहहा" का प्रयोग आनन्द की स्थिति का द्योतक है।

२. हन्त—

सहन्ते हन्तेह द्रविणकणतृष्णान्धितदृशः । स्तु० १०।१०

इस संदर्भ में यद्यपि एक 'सहन्ते' क्रियावाची है, परन्तु द्वितीय 'हन्त' के साथ होने से द्रव्यलोलुपों के प्रति घृणा का भाव प्रकट होता है।

३. आः—

आः किं न रक्षसि । स्तु० ११।१०२

यहां 'आः' आश्चर्य का द्योतक है।

४. हा—

हा राजशेखरमणेः पुरतो हतोऽहम् । ९।४१

यहां 'हा' भय तथा कष्ट का द्योतक है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त समीक्षा के आलोक में संक्षेपतः यह निष्कर्ष निकला है कि जगद्धर की भाषा भाषासंबंधित समस्त विशेषताओं से मण्डित है। कवि ने भावों के अनुरूप ही भाषा का चयन किया है। औचित्यपूर्ण पदचयन के चातुर्य से पदों में ऐसी

संगीतात्मक एकरसता आ गयी है, जो वीणा के तारों की झंकृति की भांति अर्थग्रहण से पूर्व ही हृदय को रसमय कर देती है।

कहीं वैदिक प्रयोगों का निदर्शन है, तो अन्यत्र संयुक्त अक्षरों का आकर्षण है। कारक-प्रसंग में कहीं एक ही पद्य में एक ही विभक्ति का अनेक बार प्रयोग मिलता है, तो अन्यत्र एक ही पद्य में अनेक विभक्तियों का प्रयोग भी उपलब्ध है। पुंलिग आदि के प्रयोग भी अपनी विलक्षणता से मण्डित हैं। अनेक दुरूह पद भाव-ग्रहण में कुछ काठिन्य पैदा करते हैं। क्रियाओं का प्रयोग विलक्षण-चमत्कारजनक है। उपसर्ग, अव्यय तथा भावाभिव्यंजक पदों के प्रभावशाली अनेक प्रयोग द्रष्टव्य हैं। इस प्रकार कवि ने अपने हृदयस्थ ज्ञानभक्तिमय भावों को अभिव्यक्त करने के लिए, तदनुरूप सशक्त एवं प्रभावशाली भाषा का चयन किया है।

—o—o—

उपसंहार

जगद्धर के जीवनवृत्त एवं कृतियों, दर्शन तथा भक्ति, काव्य, छन्द, भाषा, पौराणिक आख्यान एवं स्तोत्रकाव्यों की परम्परा में स्तुतिकुसुमांजलि, इन आठ प्रमुख दृष्टियों से पिछले अध्यायों में "स्तुतिकुसुमांजलि" का विश्लेषण किया गया है। इस अध्ययन में यथावसर निष्कर्ष रूप में "स्तुतिकुसुमांजलि" का मूल्यांकन भी किया गया है। यहां सभी दृष्टियों से इस स्तोत्रकाव्य की देन पर विचार किया जा रहा है।

"स्तुतिकुसुमांजलि" जगद्धर की मौलिक रचना है। इसे कवि की प्रौढतम कृति कहा जा सकना है। इसमें जगद्धर ने स्तोत्र कवियों का प्रतिनिधि बनकर विश्व को शिवचरणानुरागी बनाने के उपाय को संस्कृत के पद्यों के माध्यम से प्रस्तुत किया है, जिसे वेद, उपनिषद्, महाभारत, पुराण तथा अन्य स्तोत्रकाव्य आदि भारतीय संस्कृति के समुज्ज्वल ग्रन्थों में तत्त्वद्रष्टा मनीषियों ने अपनी-अपनी भावना से समय-समय पर अभिव्यक्त किया था। "स्तुतिकुसुमांजलि" की इस विशेषता के कारण इससे अज्ञानियों को ज्ञान, अशक्तों को शक्ति, पाप से दग्ध तथा दीन-दुखियों को शान्ति मिलती है। शैवदर्शन एवं उपनिषदों के परम तत्त्व ब्रह्म ही साकार रूप में जगद्धर के शिव हैं। उन्हीं शिव के चरणों में यह स्तोत्रावली अर्पित है।

"स्तुतिकुसुमांजलि" के दार्शनिक विश्लेषण से स्पष्ट है कि जगद्धर न तो पूर्णतः किसी दार्शनिक सम्प्रदाय से सम्बद्ध हैं और न किसी सम्प्रदायविशेष के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं। जगद्धर को केवल इसलिए दार्शनिक कहा जा सकता है कि उन्होंने एक विशेष दृष्टि (दर्शन) को प्राप्त किया, अनुभव किया और उसी का अपने स्तुतिकाव्य के माध्यम से प्रचार किया। यह दृष्टि अथवा दर्शन है—सब कुछ शिवरूप देखना। यह जगद्धर का शिवाद्वैतवाद है। इस दर्शन को शिवसंहिता, काश्मीरदर्शन एवं कुछ पुराणों में पहले भी दर्शाया जा चुका था। जगद्धर ने अपने काल की किंकर्तव्यविमूढ जनता के अभ्युदयहेतु मंगलमयी स्तोत्रकविता के द्वारा इस दर्शन का पुनः प्रचार किया।

"स्तुतिकुसुमांजलि" का शिवाद्वैतवाद भारतीय दर्शन के अध्यात्मवाद का विशिष्ट रूप है। इसका किसी से विरोध नहीं है। यह शिवरूप प्रणव से युक्त है एवं एक पद (शिव) से इसका ज्ञान अथवा बोध होता है। "स्तुतिकुसुमांजलि" के इस अद्वैत दर्शन में सम्प्रदायवाद की समस्त संकुचित दीवारें धराशायी हो जाती हैं। यों तो प्रत्येक युग में मत-मतान्तरों का आपसी संघर्ष चलता ही रहता है, पर

जगद्धर के काल में शाक्त, शैव, वैष्णव आदि अनेक वादों के विभिन्न मतवादी परस्पर संघर्षरत थे ।

इन विवादों तथा संघर्षों को दूर करने की दृष्टि से समस्त संप्रदायों एवं सिद्धांतों में समन्वय करने की विशेष प्रवृत्ति 'स्तुतिकुसुमांजलि' में निहित है। "स्तुतिकुसुमांजलि" के स्तुतिभाग में जगद्धर ने विष्णु आदि अनेक देवताओं की श्रद्धा के साथ स्तुति की है। शिव तथा शिवा की स्तुति में अर्धनारीश्वर की वन्दना करते हुए तो ऐक्य स्थापित किया ही गया है, शिव तथा विष्णु में भी अभेद का प्रदर्शन करते हुए "हरिहरवपुः" नामक स्तोत्र की रचना की है।

जगद्धर ने शिव को निर्गुण तथा सगुण दोनों रूपों में मानते हुए भी उनके सगुण रूप को, सरलतापूर्वक मानव की सहज प्रवृत्ति हो, इस दृष्टि से विशेष महत्त्व दिया है। लीलावपुर्धारी भगवान् शिव का गंगाधर एवं त्रिशूलधारी रूप जगद्धर को विशेष प्रिय है। वैराग्यप्रधान मुक्ति कवि को प्रभावित कर पाने में असमर्थ रही। इसी कारण उन्होंने शक्तिसमन्वित, बलनिधान शिवरूप को अपने काव्य का विषय बनाया। "स्तुतिकुसुमांजलि" में शिव, शक्ति आदि के स्तुतिप्रसंग में कवि की यह भावना स्पष्ट है।

"स्तुतिकुसुमांजलि" भक्तिकाव्य है। जगद्धर को भक्ति के क्षेत्र में सेव्य-सेवकभाव विशेष प्रिय है। वस्तुतः भक्ति के सभी भेदों सख्य एवं वात्सल्य आदि के मूल में दास्य भाव ही प्रमुख है। दास्यभाव के विना किसी भी भाव की कल्पना नहीं हो सकती। दास्यभाव के महत्त्व की दृष्टि से "स्तुतिकुसुमांजलि" के अनेक स्तोत्र पद्यों का वैशिष्ट्य स्पष्ट रूप से आंका जा सकता है।

जगद्धर ने नारद, शाण्डिल्य आदि के भक्तिसूत्रों तथा श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों में यत्र-तत्र विकीर्ण भक्तिविषयक सिद्धांतों को शिवमहिमा के सूत्र में ग्रथित करके, भक्तिसाहित्य की यह अद्भुत मणिमाला प्रस्तुत की है। 'स्तुतिकुसुमांजलि' में यद्यपि परम्परा रूप से भक्ति की परिभाषा नहीं की है, परन्तु भक्ति के साधन, ज्ञान और योग की अपेक्षा भक्ति की विशेष महिमा, भक्ति से पापक्षय एवं परमतत्त्व शिव की प्राप्ति, भक्तिप्राप्त मनुष्य की श्रेष्ठता आदि सब कुछ कवि ने जनकल्याण के लिए स्तुति के माध्यम से संस्कृतभाषा में प्रस्तुत किया है।

जगद्धर सगुण भक्ति को निर्गुण-निराकार भक्ति की अपेक्षा, अधिक महत्त्व देते हैं। इसके मूल में जनसामान्य को भक्ति के पथ पर लाने और उन्हें प्रभु की ओर प्रेरित करने की भावना है। गीता भी निर्गुणोपासना को अधिक कष्टकर मानती है। नाम, रूप और गुण तीनों के अभाव में अलौकिक प्रभु की कल्पना को जमा पाना गहन विवेक एवं पूर्ण अद्वैत की भावभूमि की अपेक्षा रखता है। यह

कुछ योगियों तथा ज्ञानियों के लिए भले ही संभव हो, पर जनसामान्य के लिए दुर्लभ है। सगुण भक्ति के मार्ग में यह कठिनाई नहीं है।

"स्तुतिकुसूमांजलि" के भावपक्ष में, काव्यशास्त्रीय परम्परा में केवल भाव के रूप में स्वीकृत, भक्तिरस को अंगी अथवा प्रधान रस के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। इस रचना में सर्वत्र यहीं रस अभिव्यक्त है। अन्य काव्यरस, भक्तिरस के अंग के रूप में निबद्ध होने के कारण केवल भावकोटि तक रह गए हैं। "स्तुतिकुसुमांजलि" की रचना करके जगद्धर ने संस्कृत के साहित्याचार्यों के द्वारा भक्तिरस के प्रति की गई अवहेलना का सनिदर्शन निराकरण किया है।

कलापक्षीय दृष्टिकोण से इसमें वृत्ति, दोष, गुण, रीति एवं अलंकारों की समीचीन योजना हुई है।

छन्द की प्राय: सभी विधाओं को जगद्धर ने अपनी कृति में पूर्ण अधिकार के साथ प्रयुक्त किया है। छन्द:शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट परम्परा का सफल निर्वाह कवि के छन्दोविषयक ज्ञान का परिचायक है।

'स्तुतिकुसुमांजलि" की भाषा जहां सरस एवं सरल है, वहां कहीं-कहीं भावग्रहण में बाधक भी प्रतीत होती है। परन्तु यह तो उस युग का प्रभाव है, जिससे जगद्धर भी अछूते नहीं रह सके। "स्तुतिकुसुमांजलि" में कवि ने वैदिक, देशज एवं दुरूह पदों का प्रयोग करके इसे सर्वांगीण बनाया है। इस प्रकार भाषागत समस्त विशिष्टताओं से समन्वित, सालंकृत प्रौढ भाषा का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार "स्तुतिकुसुमांजलि" का कलापक्ष भी अपनी प्रभविष्णुता में अप्रतिम है।

"स्तुतिकुसुमांजलि" की सामाजिक देन है भय (दासता) से मुक्ति। संसार को अनित्य एवं निस्सार मानते हुए उसके प्रति निर्लिप्त रहने का उपदेश देकर जगद्धर ने मानव को सभी प्रकार के भयों से मुक्त कर सर्वथा निर्भय होने का सन्देश दिया है। निर्भीक मनुष्य ही संतुलित रहकर जीवन का कठिन समस्याओं का सामना कर सकता है। समाज की सुख-समृद्धि एवं उसमें उदारता और उदात्तता लाने के लिए मनुष्य को सीमित स्वार्थी, कुत्सित भावनाओं तथा उनके मूल में विद्यमान क्षुद्र "अहं" का परित्याग करना होगा, उससे ऊपर उठना होगा। इसके लिए निर्वेद अथवा वैराग्य का भाव आवश्यक है। मानव की तीन प्रमुख एषणाएं (लोकैषणा, पुत्रैषणा, वित्तैषणा) बड़ी प्रबल हैं। इनके ऊपर उठकर ही व्यक्ति समाज तथा देश का हित कर सकता है। "स्तुतिकुसुमांजलि" के मौलिक सन्देश इन एषणाओं से मानव को ऊपर उठाने में विशेष सहायक हैं।

जगद्धर ने स्तोत्रकाव्य के माध्यम से जिस सन्देश को वाणी दी है, वह देशकाल के बन्धन से मुक्त है। यह जगद्धर का कालजयी गौरव ग्रन्थ है।

संस्कृत के कवियों ने "स्तुतिकुसुमांजलि" से प्रभावित होकर ठीक इसी प्रकार का कोई अन्य स्तोत्रकाव्य लिखा हो, ऐसा कोई संकेत संस्कृत साहित्य के इतिहास में उपलब्ध नहीं है। "स्तुतिकुसुमांजलि" में प्रतिपादित शिव की महिमा, नाम का वैशिष्ट्य, नवधा भक्ति तथा मन का उद्बोधन आदि विषयों की चर्चा अनेक स्वतन्त्र-स्तोत्रों एवं कविकृतियों में विद्यमान है। जिनमें जगन्नाथ की गंगालहरी आदि प्रमुख हैं। स्तुतिकुसुमांजलिकार ने अपनी कृति के लिए उत्पलदेव की शिवस्तोत्रावली से विशेष प्रेरणा ली है। रत्नकण्ठ, मुरारि तथा हिन्दी कवि तुलसीदास आदि स्तुति-कुसुमांजलि से पर्याप्त प्रभावित हुए हैं।

—०—०—

संदर्भग्रन्थ-सूची

सम्पूर्ण ग्रंथ में एक सौ अड़तालीस ग्रन्थों के अध्ययन का समावेश किया गया है। परन्तु यहाँ मात्र प्रस्तुत विषय से ही सम्बद्ध ग्रन्थों की सूची दी गई है।

१. अथर्ववेद : शौनकीय, सायणभाष्यसहित, सम्पादित—आचार्य विश्वबंधु, वैदिक शोधसंस्थान, होशिआरपुर-१९६०

२. अद्वैत वेदान्त : डा० राममूर्ति शर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २३ दरियागंज, दिल्ली-६, १९७२

३. ईशादिदशोपनिषद: : शांकरभाष्य, मोतीलाल बनारसीदास, जवाहर नगर, दिल्ली-६, १९६४

४. ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा, : भाग-२, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९४१

५. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति-विमर्शिनी, प्रथम एवं द्वितीय भाग, सम्पादक पण्डित मधुसूदन कौल शास्त्री, श्रीनगर, काश्मीर

६. ऋग्वेद : आचार्य विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान, होशियारपुर, (पंजाब), १९६५

७. ऋग्वेदभाष्यभूमिका : सायण, जगन्नाथ पाठक कृत हिन्दी व्याख्या, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६८

८. ऐतरेय-ब्राह्मण : काशीनाथ शास्त्री, आनन्दाश्रम, पूना, १९३०

९. ऐतरेयोपनिषद् : पूर्वोक्त ईशादिदशोपनिषदन्तर्गत

१०. कठोपनिषद् : पूर्वोक्त ईशादिदशोपनिषदन्तर्गत

११. कविकण्ठाभरण : क्षेमेन्द्र, प्राध्यापक, वामन केशव लेले, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६७

१२. काव्यमीमांसा : केदारनाथ सारस्वत, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, १९५४

१३. काव्यशास्त्रीय निबन्ध : डा० सत्यदेव चौधरी, अलंकार प्रकाशन, दिल्ली, १९७४

१४. काव्यसाहित्य और संस्कृति: नमिसाधु, चौखंबा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, १९६६

१५. काव्यानुशासन : हेमचन्द्र, निर्णयसागर प्रैस, बम्बई—सं० १९०१

१६. काश्मीर शैव दर्शन : बलजिन्नाथ पण्डित, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू, १९७३

१७. काश्मीर शैवदर्शन और कामायनी : डा० भवंरलाल जोशी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, १९६८
१८. कुवलयानन्द : अप्पयदीक्षित, चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी, १९५६
१९. केनोपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर, तथा उपर्युक्त ईशादिदशोपनिषदन्तर्गत
२०. कौशीतकि ब्राह्मण : सम्पादक मंगलदेव, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी-१९६१
२१. गीतारहस्य : लोकमान्य तिलक, अनुवादक, श्री माधव रावजी सप्रे, तिलक मन्दिर, पूना-2, दशम संस्करण
२२. गोपालतापनी उपनिषद् : उपनिषत्संग्रह, मो० ब०, दिल्ली, १९७०
२३. छन्दप्रकाश : रघुनन्दन शास्त्री, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली-६ १९७३
२४. छन्द-विज्ञान : बुलाकीराम, गुजराँवाला, हाफिज़ाबाद, १९४१
२५. छान्दोग्योपनिषद् : उपनिषत्संग्रह, मो० ब०, दिल्ली, १९७०
२६. जैनस्तोत्रसंदोह : द्वितीय भाग, अहमदाबाद, १९५५
२७. तर्कसंग्रह : आचार्य विश्वनाथ, सरस्वती संस्कृत कालेज, खन्ना, १९७१
२८. तन्त्रालोक : अभिनवगुप्त, कश्मीर ग्रंथमाला, श्रीनगर, १९५८
२९. तुलसी के भक्त्यात्मक गीत : डा० वचनदेव कुमार, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली, १९६४
३०. तैत्तिरीयब्राह्मण : महादेव शास्त्री सम्पादित, आनन्दाश्रम, पूना १९२९
३१. तैत्तिरीयोपनिषद् : उपनिषत्संग्रहः, पूर्वोक्त
३२. नाट्यशास्त्र : भरत, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, गायकवाड संस्करण ।
३३. नारदभक्तिसूत्र : गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् २०२४
३४. निरुक्त : शिवनारायण शास्त्री, दिल्ली, १९७२
३५. नीलमत पुराण : अनुवादिका—वेदकुमारी, जम्बू अकादमी आफ आर्ट, १९७३
३६. पंचदशी : पीताम्बर जी कृत हिन्दी टीका, चौखम्बा संस्कृत-सीरीज़, वाराणसी, १९६८

३७. **पंचविंश ब्राह्मण** : सायणभाष्य, चिन्नस्वामी संस्करण, चौखम्बा, बनारस १९५३

३८. **परात्रिंशिकाविवरण** : संपादक मुकुन्दराम शास्त्री, तत्त्वविवेचक मुद्रणालय बम्बई—ई० १९८८

३९. **पातंजलयोगप्रदीप** : स्वामी ओमानन्द तीर्थ, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०१८

४०. **पुराणविमर्श** : बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९६५

४१. **पुरातन जैन वाक्यसूची** : वीरसेवा मन्दिर, सरसावा

४२. **पौराणिक कोश** : राणा प्रसाद शर्मा, ज्ञानमण्डल लि०, वाराणसी, २०२८ वि०

४३. **प्रत्यभिज्ञाहृदयम्** : क्षेमराज, विशाल प्रसाद त्रिपाठी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-१९६९

४४. **प्रेमदर्शन** : गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् २०२४

४५. **ब्रह्मसूत्र** : बादरायण, स० हरिप्रसाद वैदिकमुनि, निर्णयसागर प्रैस, बम्बई, १९१४

४६. **भक्ति का विकास** : डा० मुंशीराम शर्मा, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९५८

४७. **भक्तिकालीन कवियों के काव्यसिद्धान्त** : डा० सुरेश चन्द्र गुप्त, आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली-१९७१

४८. **भक्तिरसामृतसिन्धु** : मधुसूदन सरस्वती, डा० नगेन्द्र, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, १९६३

४९. **भारतीय दर्शन** : डा० उमेश मिश्र, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ, १९७०

५०. **महाभारत** : व्यास, गीताप्रेस, गोरखपुर, २०१४ वि०

५१. **महाभारत नामानुक्रमणिका**: गीताप्रैस, गोरखपुर

५२. **मत्स्यपुराण** : रामप्रताप त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००३

५३. **मध्ययुगीन कृष्णभक्ति-परम्परा और संस्कृत** : डा० रामेश्वर दयाल, पाण्डुलिपि प्रकाशन, दिल्ली, १९७५

५४. **महाकवि माघ** : डा० मनमोहन लाल जगन्नाथ शर्मा, नवयुग प्रकाशन, दिल्ली, १९६३

५५. **महानारायणोपनिषद्** : उपनिषत्संग्रह

५६. **महार्थमंजरी परिमल वृत्ति** : महेश्वरानन्द, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थमाला, श्रीनगर १९६१

५७. **मालिनीविजयवार्तिकम्** : पण्डित मधुसूदन कौल, काश्मीर, श्रीनगर, १९३१

५८. **मुण्डकोपनिषद्** : पूर्वोक्त उपनिषत्संग्रह

५९. **यजुर्वेद** : वाजसनेयि माध्यन्दिन शुक्लयजुर्वेद संहिता, उव्वट-महीधर भाष्य सहिता, वासुदेव शर्मा संपादित, पाण्डुरंग जाव जी, बम्बई, १९२८

६०. **योगवाशिष्ठ** : अच्युत ग्रन्थ माला, काशी, सं० २००६

६१. **रघुवंश** कालिदास ग्रन्थावली, डा० रेवा प्रसाद द्विवेदी, काशी हिन्दु विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९७६

६२. **रसगंगाधर** जगन्नाथ, मधुसूदन शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, १९५५

६३. **रसशास्त्र और साहित्य-समीक्षा** : डा० कृष्णदेव, झारी।

६४. **राजतरंगिणी** : जोनराज, साधु आश्रम, होशियारपुर, १९७२

६५. **रामचरितमानस—तुलनात्मक अध्ययन** : डा० नगेन्द्र, दिल्ली

६६. **रामायण** : वाल्मीकि मूलमात्र, गीताप्रेस, गोरखपुर, वि० सं० २०२०

६७. **वक्रोक्तिजीवित** : कुन्तक, आचार्य विश्वेश्वर, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, २०१२ विक्रमी

६८. **वामन पुराण** : आनन्दस्वरूप गुप्ता, सर्वभारतीय काशिराजन्यास, राम नगर, वाराणसी, १९६८

६९. **वायुपुराण** : रामप्रताप शास्त्री, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग सं० २००८

७०. **विज्ञान भैरव** : काश्मीर संस्कृत ग्रन्थमाला, श्रीनगर

७१. **विनयपत्रिका : विश्लेषण एवं मूल्यांकन** : डा० मालतोख चौरसिया, अप्रकाशित शोधप्रबन्ध, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

७२. **विश्व संस्कृत शताब्दी ग्रंथ** : जम्बुकाश्मीर भाग, डा० मण्डन मिश्र, दिल्ली, सं० २०२२

७३. **विष्णुसहस्रनाम** : गीताप्रेस, गोरखपुर

७४. वृत्तरत्नाकर : श्रीधरानन्द शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६६

७५. वृहत्स्तोत्र रत्नाकर : डा० चमनलाल गौतम, संस्कृत संस्थान, बरेली, १९७३

७६. वृहदारण्यक उपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् २०३३

७७. वेदसार : डा० विश्ववन्धु, विश्वेश्वरानन्द शोध संस्थान, होशियारपुर, १९७० ई०

७८. वेदान्तसार : सदानन्द, सन्तनारायण श्रीवास्तव, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६८

७९. वैदिक देवशास्त्र : ए० ए० मैक्डानल, अनुवादक डा० सूर्यकान्त, दिल्ली

८०. वैदिक वाङ्मय का इतिहास : पण्डित भगवद्दत्त, प्रणव प्रकाशन, दिल्ली, १९७४

८१. वैदिक साहित्य : बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६०

८२. वैदिक साहित्य : रामगोपाल त्रिवेदी, भारतीय ज्ञानपीठ, १९५०

८३. वैष्णवभक्ति आन्दोलन का अध्ययन : डा० मलिक मोहम्मद

८४. शंकराचार्य : बलदेव उपाध्याय, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तरप्रदेश, इलाहाबाद, १९५०

८५. शंकराचार्य : आचार दर्शन, डा० रामानन्द तिवारी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, सं० २००७

८६. शतपथ ब्राह्मण : वंशीधर संपादित, अच्युतग्रन्थमाला कार्यालय, वाराणसी, १९४७

८७. शब्दवाचस्पत्य : चौखंभा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, १९६२

८८. शाण्डिल्य भक्तिसूत्र : गीताप्रैस, गोरखपुर

८९. शिवदृष्टि : सोमानन्द, काश्मीर, श्रीनगर, १९३४

९०. शिवसूत्र वार्तिकम् : जगदीशचन्द्र चटर्जी, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१६

९१. शिवसूत्रविमर्शिनी : क्षेमराजकृत, आर्केओलोजी एण्ड रिसर्च डिपार्टमेण्ट, श्रीनगर १९६८

९२. शिवस्तोत्रावली : उत्पलदेव, श्री लक्ष्मण, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, १९६४

९३. श्रुतबोध : कालिदास संस्कृत टीकाकार—पं० कनक लाल शर्मा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९८२

९४. श्वेताश्वरोपनिषद् : उपनिषत्संग्रह, पूर्वोक्त

९५. षट्त्रिशत्तत्त्वसन्दोह : स्वामीजी, पीताम्बरा पीठ, दतिया, म० प्र०

९६. सरस्वतीकण्ठाभरण : भोज, निर्णयसागर प्रैस, बम्बई १९६२

९७. सर्वदर्शनसंग्रह : सायण, उमाशंकर, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१९६४

९८. संस्कृत के काव्यविकास में जैन कवियों का योगदान : नेमिचन्द शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९७१

९९. संस्कृतव्याकरणशास्त्र का इतिहास : युधिष्ठिर मीमांसक, भारतीय विद्याप्रतिष्ठान, अजमेर, सं० २०२०

१००. संस्कृत शब्दार्थकौस्तुभ : सं० द्वारिका प्रसाद शर्मा, रामनारायण लाल, इलाहाबाद, १९५७

१०१. संस्कृत साहित्य का इतिहास : कीथ, अनुवादक, डा० मंगलदेव शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६४

१०२. संस्कृत साहित्य का इतिहास : बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, बनारस, १९६०

१०३. संस्कृत साहित्य का नवीन इतिहास : कृष्ण चैतन्य, अनुवादक, विनयकुमार राय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६५

१०४. संस्कृत साहित्य विमर्श : पं० द्विजेन्द्र नाथ, भारती प्रतिष्ठानम् (मयराष्ट्रनगर) उत्तरप्रदेश, सं० २०००

१०५. संस्कृते पंचदेवतास्तोत्राणि : डा० सुरेन्द्र नारायणमणि त्रिपाठी, सन्मार्ग प्रकाशन, बैंग्लो रोड, दिल्ली, १९७८

१०३. सांख्यकारिका : ईश्वर कृष्ण, हिन्दी व्याख्या, डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-६, १९६९

१०७. साहित्यदर्पण : विश्वनाथ, शालिग्राम बिद्यावाचस्पति, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९७५

१०८. सुवृत्ततिलक : क्षेमेन्द्र, पं० ब्रजमोहन झा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ वाराणसी, १९६८

१०९. स्तोत्र रत्नावली : गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् २०३६

११०. स्पन्दनिर्णय : पण्डित मुकुन्दराम शास्त्री, काश्मीर-संस्कृत-ग्रंथावली, काश्मीर, श्रीनगर, १९१७

१११. **स्पन्दसन्दोह** : पण्डित मुकुन्दराम शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली, काश्मीर, श्रीनगर, १९१७

११२. **हिन्दी साहित्य पर संस्कृत का प्रभाव** : रामनारायणलाल बेनीमाधव, इलाहाबाद, १९५२

पत्रिकाएं

१. **कल्याण**, विष्णुपुराणांक, वेदांक, शिवांक

२. **चिन्तामणि**, वर्ष ६, अंक १

३. **सरस्वती**, १९२६, भाग २७, खण्ड २

४. **बम्बई विश्वविद्यालय जर्नल**, भाग ६, सितम्बर, १९८०

अंग्रेजी ग्रन्थ

१. **अन इण्ट्रोडक्शन टू इण्डियन फिलॉसॉफी**, एस० सी० चटर्जी तथा डी०एम० दत्त, चतुर्थ संस्करण, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३० ई०

२-३. **ए० हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर** (क) ए०बी० कीथ, लण्डन, १९७१ ई०, (ख) एस० एन० दास, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९६२ ई०

४. **दी एज आफ शंकराचार्य**, टी० एन्० नारायण शास्त्री

५. **दी भक्ति कल्ट इन ऐंस्यंट इंडिया**, डॉ० भागवतकुमार गोस्वामी, चौखम्बा, वाराणसी, १९६५ ई०।

६. **दी स्टुडेंट्स् संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी**, वी० एस० आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९५९ ई०

७. **वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजियस सिस्टम्स्**, आर० जी भाण्डारकर, तिरुपति, १९१३ ई०

—०—

दण्डीस्वामी निगमबोध तीर्थ द्वारा प्रणीत और प्रकाशित ग्रन्थ

१. **हरियाणावैभवम्**—हरियाणा के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक वैभव का वर्णन इस काव्य में ललित, मधुर ३०० संस्कृत पद्यों में निबद्ध किया गया है। भाषा विभाग, हरियाणा और पुरस्कार योजना समिति, उत्तर प्रदेश, ने इस काव्य को सम्मानित किया है।

२. **श्रीमद्भगवद्गीता हरितोषिणी**—साधारण जिज्ञासु जनों की अपेक्षा की पूर्ति के लिये स्वामीजी ने गीता का मर्म संक्षेप से सरल हिन्दी में प्रस्तुत किया है।

३. **श्रीरामार्चा स्तोत्र का हिन्दी अनुवाद**—श्री हरिबाबा को अत्यन्त प्रिय इस स्तोत्र का हिन्दी भाषा में अनुवाद स्वामीजी ने भक्तजनों की प्रार्थना पर पूजा के विधि-विधान के निरूपण के साथ प्रस्तुत किया है।

४. **श्री शंकराचार्यचरितम्**—यह काव्य स्वामीजी ने आद्य जगद्गुरु श्री शङ्कराचार्य जी की महाजयन्ती के अवसर पर ६२५ पद्यों से निबद्ध १३ सर्गों में ललित, सरस भाषा में निबद्ध किया है। इसका अन्वय, हिन्दी भाषानुवाद और सम्पादन पण्डित शिवनारायण शास्त्री ने किया है।

PARIMAL PUBLICATIONS
A House of Indological Books
27/28 Shakti Nagar, Delhi-110007